भारतीय वाङ्मय में नारी

आचार्यसमाट् श्री देवेन्द्र मुनि जी म.

■ प्रकाशक ■

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

आचार्यसमाट् पूज्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. की
छठवीं पुण्य तिथि पर प्रकाशित

- *पुस्तक*:
  भारतीय वाङ्मय में नारी
- *लेखक*:
  आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म.
- *सम्पादन* :
  साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी म.
- *संयोजक*:
  श्रमणसंघीय सलाहकार
  दिनेश मुनि
- *सम्प्रेरणा*:
  दीपेन्द्र मुनि
  पुष्पेन्द्र मुनि
- *प्रथमावृत्ति*:
  वि. सं. २०६२
  चैत्र सुदि १३ महावीर जयन्ती
  ईस्वी सन् 2005, 22 अप्रैल
  देवेन्द्र धाम उद्घाटन
- *प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान*:
  श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
  गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-313 001
  फोन : (0294) 2413518
- *मुद्रण सज्जा*:
  दिवाकर टैक्स्टोग्राफिक्स
  ए-7, अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड, आगरा-282 002
- *मूल्य*: 150/- (एक सौ पचास रुपये मात्र)

प्रकाशकीय

आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी म. इस शताब्दी के प्रज्ञापुरुष थे। उनकी स्फुरणशील बहुमुखी प्रतिभा ने जैन साहित्य के विविध अंगों को जिस गहराई और श्रेष्ठता के साथ प्रस्तुत किया है, वह अपने-आप में अद्वितीय है, अनुपम है।

आचार्यश्री द्वारा लिखित शोध ग्रन्थ, निबन्ध-साहित्य, आगम प्रस्तावनाएँ, प्रवचन तथा चिन्तन प्रधान विविध ग्रन्थ जैन समाज के सभी विद्वानों, मुनियों तथा सामान्य पाठकों में अपनी लोकप्रियता के कारण आदरास्पद हैं।

लगभग चालीस वर्ष से हम आचार्य प्रवर द्वारा लिखित सम्पादित साहित्य का निरन्तर प्रकाशन कर रहे हैं और पाठकों के हाथों में पहुँचा रहे हैं।

इस वर्ष हमने **श्रवण का मार्ग : मुक्ति की मंजिल** तथा **जीवन का रथ : पुण्य का पथ** दो प्रवचन पुस्तकों का प्रकाशन किया है। अब एक सर्वथा नवीन विषय **भारतीय वाङ्मय में नारी** विषय पर शोध शैली में लिखित ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

इस ग्रन्थ के संशोधन-सम्पादन में पूज्य बहन महाराज सा. साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी म. ने अत्यधिक परिश्रम किया है तथा आचार्यश्री के अन्तेवासी सुशिष्य दिनेश मुनि जी ने भी बहुत मेहनत करके ग्रन्थ का आकार-प्रकार व्यवस्थित किया है। साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने इसके संशोधन-सम्पादन तथा कलात्मक मुद्रण में विशेष योगदान दिया है। हम आप सभी के आभारी हैं। आशा है पाठक इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे।

—वीरेन्द्र डांगी

मंत्री—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय,
उदयपुर

दो शब्द

पाठकों के समक्ष एक सर्वथा नवीन, अछूते विषय पर यह ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए हम सबको सुखद अनुभूति हो रही है। नवीन इस दृष्टि में है, कि एक जैन सन्त, त्यागी, तपस्वी ब्रह्मचारी, स्वाध्याय-ज्ञान निरत और वह भी आचार्य जैसे प्रतिष्ठित पद पर आरूढ़ मनीषी 'नारी' के सम्बन्ध में इतना चिन्तन व खोजपूर्ण उदात्त ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। यह सामान्य पाठकों के लिए आश्चर्य की बात भी हो सकती है और नवीन विषय तो है ही।

वास्तव में आचार्यश्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज एक विद्वान मनीषी आचार्य होते हुए भी अत्यन्त उदार हृदय, विशाल तथा व्यापक दृष्टिकोण रखते थे। वे अध्यात्मयोगी वचनसिद्ध पुरुष उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. के शिष्य थे। अध्यात्म की ज्योति उनके सम्पूर्ण मानस को आलोकित कर रही थी। निश्चित ही अध्यात्म साधना के क्षेत्र में बढ़ने वाले सत्पुरुष की दृष्टि में 'नर' 'नारी' जैसा कोई भेद महत्त्व नहीं रखता। वे तो देह से परे इस मृण्मय देह के भीतर सर्वथा ज्योतिर्मय निराकार चिन्मय आत्मा का दर्शन करते हैं। आत्मा का ही ध्यान करते हैं और आत्मा को ही महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि से आत्मा न तो स्त्री है, न ही पुरुष है। वह अलिंगी है, अभेद है और शुद्ध ज्योतिर्मय है।

हम आचार्यश्री द्वारा प्रणीत विशाल साहित्य में भी उनकी इस अध्यात्म दृष्टि की छवि निहारते हैं। वे इतने उदार दृष्टि सम्पन्न थे, इतनी व्यापकता से सोचते थे कि उनके समक्ष स्त्री-पुरुष का भेद बहुत ही गौण था। वे अपने व्यवहार में भी जितना महत्त्व पुरुष जाति को देते थे, उतना ही नारी जाति को भी देते थे। पुरुष की अपेक्षा भी नारी को अधिक धर्मशीला, करुणामयी, तपस्विनी और सेवा-सरलता की मूर्ति मानते थे। नारी जाति के प्रति उनके मन में बहुत ही आदर व सन्मान का भाव था। माता के रूप में नारी संपूर्ण जगत को मातृत्व प्रदान करती है, तो बहन के रूप में अपने निर्मल स्नेह व सौजन्य से अभिषिक्त भी करती रही है। नारी पुरुष की अपेक्षा अधिक सेवा प्रधान, अधिक सहनशील और अधिक उदार होती है। यह था आचार्य प्रवर का अपना अभिमत।

अधिक विस्तार में नहीं जाकर मैं पाठकों से यही अनुरोध करता हूँ कि वे आचार्य भगवन द्वारा लिखित इस पुस्तक को पढ़कर स्वयं अनुभव करें कि वे नारी को किस रूप में कितनी प्रतिष्ठा व महत्ता देते थे और उसके

खोये, गौरव और आत्म-सम्मान को पुनः उज्ज्वल-उज्ज्वलतर रूप में देखना चाहते थे। व अपनी लेखिनी व वाणी द्वारा सदा ही मातृ जाति को धर्म व सत्य-शील के क्षेत्र में अपना ओज-तेज प्रगट करने के लिए आह्वान करते रहते थे। आचार्य प्रवर ने अनेक ग्रन्थों का स्वाध्याय, अनुशीलन करके इस विषय पर अपनी डायरी में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया था और वे इस विषय पर एक शोध प्रबन्ध शैली का ग्रन्थ लिखना चाहते थे। आचार्यपद का गुरु गम्भीर दायित्व आ जाने के पश्चात् समय की बहुत ही कमी रहती थी। इस कारण उन्होंने इस विषय को पुस्तकाकार रूप देने के लिए प्रसिद्ध विद्वान डॉ. लक्ष्मण भटनागर को अपने पास बुलाया और कहा कि मैं इस व्यस्तता के कारण अपने हाथ से लिख नहीं पाता हूँ। अतः आपश्री मेरा सहयोग करें तो भटनागर जी ने स्वीकृति प्रदान की। आचार्यश्री स्वयं धाराप्रवाह बोलते रहते थे और श्री लक्ष्मण भटनागर उसे लिपिबद्ध करते रहे।

इन्दौर चातुर्मास के समय यह सामग्री आचार्यप्रवर के समक्ष लिखित रूप में प्राप्त हो गयी। परन्तु उन दिनों स्वास्थ्य की अनुकूलता नहीं रहने से आचार्य भगवन इसको पुनः गहराई के साथ निरीक्षण नहीं कर पाये और कुछ समय पश्चात् अचानक ही मुम्बई में आपका स्वर्गवास हो गया।

अनेक वर्षों तक यह सामग्री हमारे पास सुरक्षित रही। भगवन की ज्येष्ठ भगिनी गुरुणी माता साध्वी रत्न पूज्य पुष्पवती जी महाराज ने इस पाण्डुलिपि को अपने पास सुरक्षित रखा। उन्होंने फरमाया—"मेरी विशेष प्रार्थना व भावना को ध्यान में रखकर ही आचार्य प्रवर ने इस विषय पर अपनी लेखनी का प्रसाद प्रदान किया है। इसलिए पुनः इस पुस्तक का निरीक्षण-संशोधन करके इसे पुस्तकाकार रूप देने की मेरी भावना है।" पूज्य गुरुणी माता ने पूरी पुस्तक पुनः संशोधित की और इसे प्रकाशन हेतु ग्रन्थालय के अधिकारियों को प्रदान की।

इस पुस्तक के प्रूफ संशोधन तथा सुन्दर मुद्रण के कार्य में आचार्यश्री के साहित्य के विशिष्ट शिल्पकार श्रीचन्द जी सुराना ने नयनाभिराम रूप में प्रस्तुत की है। पाठक इसका स्वाध्याय कर मातृजाति के प्रति अपना दृष्टिकोण सन्तुलित बनायेंगे, इसी भावना के साथ !

—दिनेश मुनि

(आचार्य प्रवर का अन्तेवासी)

प्राक्कथन

लगभग दस वर्ष पूर्व की घटना है। पूज्य भाई महाराज आचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज के साथ उनके द्वारा लिखित साहित्य पर चर्चा चल रही थी। मैंने सहज भाव से निवेदन किया—

भगवन् ! आपश्री ने लगभग सभी विषयों पर अपनी प्रवाहमयी लेखिनी चलाई है और जैन साहित्य के भण्डार को अमूल्य उपहार दिये हैं, परन्तु जैन आगमों में नारी का क्या रूप-स्वरूप है। इस विषय पर शायद् आपश्री ने अभी तक कुछ विशेष नहीं लिखा। 'पुरुष' की भाँति 'नारी' भी जैन धर्म संघ का एक एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ रही है। उसके त्याग, तप, शील, सत्व, सेवा और सहिष्णुता आदि सद्गुणों पर आगमों में तथा आगमोत्तरकालीन साहित्य में काफी चर्चा है। परन्तु इन सब पर किसी विद्वान सन्त ने लेख की ओर इतना ध्यान नहीं दिया है। ऐसा क्यों ?

मेरी प्रार्थना में एक बहन की भावुकता के साथ ही एक नारी हृदय की आकांक्षा भी छिपी थी। आचार्य प्रवर कुछ मुस्कराये। कुछ क्षणों के लिए चिन्तन मुद्रा में स्थिर हो गये। फिर फरमाया—बहिन म.; आपका कथन यथार्थ है। जैन साहित्य में नारी का गौरव पुरुष से भी अधिक ऊँचा, अधिक त्याग-तपोमय रहा है। वह गरिमा-महिमा की अधिकारिणी है। यूँ तो सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में ही नारी की गरिमा आकाश से भी ऊँची और समुद्र से भी विशाल है। हमारी संस्कृति में श्री ह्री, धी बुद्धि, लक्ष्मी, सरस्वती, काली, दुर्गा आदि सभी शब्द प्रतीक स्त्रीलिंग हैं, इनके पीछे नारी शक्ति का गरिमामण्डित अतीत ही मूल कारण रहा है।

नारी केवल तप, त्याग, सेवा-शील, सत्व की ही प्रतीक नहीं, अपितु वह श्री और शक्ति स्वरूपा भी है। बुद्धि की देवता सरस्वती, धन की देवता, लक्ष्मी और शक्ति की देवता दुर्गा, ये सभी नारी रूपा ही हैं। आपने उचित संकेत किया है, समय आने पर इस विषय पर लिखने का भाव रखता हूँ।''

सहज रूप में किया गया मेरा निवेदन, आचार्य प्रवर ने बड़ी गम्भीरता के साथ स्वीकार किया और अपनी पुस्तकों में से नारी सम्बन्धित प्रसंगों, प्रकरणों को टटोलने लगे। उन्हें अपनी नोट-बुक में अंकित करने लगे। आचार्यश्री की एक विलक्षण विशेषता थी कि जिस विषय पर लिखने का मन बना लिया। उस विषय से सम्बन्धित सैकड़ों पुस्तकें टटोलते रहते।

स्वाध्यायशीलता, ग्रहणशीलता उनका अद्‌भुत गुण था। बीच-बीच में इस विषय पर चर्चा भी होती रहती परन्तु आचार्य प्रवर ने अपने विचारों को पुस्तकाकार रूप प्रदान करने के विषय में मुझे अधिक कुछ नहीं बताया।

वि. सं. २०५५ में अचानक घाटकोपर में पूज्य आचार्य भगवन का स्वर्गवास हुआ। इस अप्रत्याशित संवाद से हजारों, लाखों श्रद्धालुजन स्तम्भित रह गये। मैं भी असहाय मनोदशा में कुछ दिन तक कर्त्तव्यविमूढ़-सी रही।

श्रमणसंघीय सलाहकार श्री दिनेश मुनिजी ने आचार्यप्रवर की लिखित डायरियाँ तथा प्रवचन आदि की फाइलें जब मेरे पास भिजवाईं तो एक दिन इस पुस्तक की पाण्डुलिपि पर मेरी नजर टिक गई। मैं चकित-सी रह गई कि पूज्य भाई महाराज ने मेरी सहज भावना के साथ की गई प्रार्थना को भी कितनी गम्भीरता से लिया और एक अमूल्य ग्रन्थ रत्न तैयार करके रख दिया। महापुरुष शब्दों से नहीं अपने क्रियाकलाप से ही बोलते हैं। वे कहते कम हैं, करते अधिक हैं। आचार्य प्रवर की भी यह विशेषता थी। मौनभाव पूर्वक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना।

आचार्य प्रवर ने जो अमर कृति तैयार की वह केवल मेरी भावना का ही साकार रूप नहीं थी, अपति सैकड़ों साध्वियों तथा हजारों नारियों की भावना का भी आदर है, उसका सम्मान है। अस्तु ....

प्रस्तुत कृति

इस पुस्तक का मुख्य प्रतिपाद्य है **''जैन आगमों में वर्णित नारी के विविध स्वरूप''** आगमों से यहाँ तात्पर्य है भगवान महावीर के पूर्वकाल, वर्तमान तथा उत्तरकाल में जैन मनीषियों का नारी के सम्बन्ध में दृष्टिकोण। क्योंकि यह एक प्रचलित भ्रान्त धारणा है कि जैनधर्म, बौद्धधर्म की तरह नारी के प्रति बहुत ही अनुदार तथा संकुचित दृष्टि रखता है। इन धर्मों में नारी को त्याज्य तथा निन्दनीय तथा पाप की पिटारी समझी है। जबकि सत्य इससे बहुत ही विपरीत है। यद्यपि बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में यह बात कुछ हद तक लागू होती है, परन्तु जैनधर्म में तो ऐसा कुछ भी नहीं है। इसलिए जैनधर्म में प्रतिपादित दृष्टि को इस पुस्तक में विशेष रूप में बड़ी स्पष्टता और सर्वांगीण दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। मैं समझती हूँ यह पुस्तक पढ़ने के पश्चात् पाठक स्वत: कहेंगे भारतीय धर्मों में जैनधर्म सबसे अधिक उदार एवं सर्वग्राही और सन्तुलित दृष्टिकोण वाला धर्म है। यहाँ नारी को सबसे परम

उत्कृष्ट प्रभावक तीर्थंकर पद तक पहुँचाने का अधिकार ही नहीं दिया है, अपितु तीर्थंकर पद प्राप्त नारी का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। सम्भवत: विश्व के किसी भी धर्म में नारी को स्वयं भगवत् स्वरूप मानने की उदारता नहीं दिखाई है।

आगमकाल के वर्णन के साथ ही उसके पूर्ववर्ती वैदिक युग उपनिषद् स्मृति, श्रुति काल समकालीन बौद्ध युग तथा उत्तरवर्ती पुराणकाल की चर्चा परिचर्चा भी महत्त्वपूर्ण है, ताकि पूर्वापर सन्दर्भों में जैन आगमों के दृष्टिकोण की तुलना भी की जा सके। मैं समझती हूँ, बहुश्रुत आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी ने इस विषय को बहुत ही व्यापकता तथा समग्रता के साथ स्पष्ट रूप में इस पुस्तक में प्रस्तुत कर नारी समाज व मातृजाति के प्रति अवर्णनीय उपकार किया है। अधिक विस्तार में अपनी बात न कहकर आचार्यश्री के शब्दों में ही उनके दृष्टिकोण की एक झलक यहाँ प्रस्तुत है।

नर और नारी ..... नारी और नर; परस्पर पूरक स्वरूप रखते हैं। दोनों का योग ही समग्रता या परिपूर्णता की रचना करता है।

'नारी' शब्द का प्रयोग होते ही मन:पटल पर जो छवि उभर जाती है, उससे स्नेह, सौन्दर्य, कमनीयता और सुकुमारता की कल्पना साकार हो उठती है। एक सर्वथा मनोरम प्राणी की झलक निर्मित हो जाती है। नर प्राणियों को प्रकृति ने ही अनेक आकर्षणों और विशेषताओं से विभूषित कर दिया है—यह एक सत्य है। मयूर के शीष पर कलंगी और लम्बे, रंग-बिरंगे पंखों की शोभा होती है, मयूरी के पास यह वैभव कहाँ ! सिंह की ग्रीवा में घनी, आकर्षक केश-राशि होती है, सिंहनी के नहीं। किन्तु यह भी तथ्य है कि आन्तरिक विशेषताओं में नारी ही अग्रणी होती है। प्रत्येक प्राणी वर्ग में इसी की महत्ता अपेक्षाकृत अधिक रहती है। लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि अधिकतर गाय, भैंस, बकरी आदि की प्राप्ति की ही कामना की जाती है; बैल, भैंसे, बकरे आदि की नहीं। बलि आदि में नर-प्राणियों का ही संहार होता है; नारी या मादा का नहीं।

समाज के सन्दर्भ में नारी की स्थिति युगानुयुग परिवर्तनशील बनी रही है। नारी की महत्ता और गौरव, उसका वर्चस्व और गरिमा कभी उच्च से उच्चतर होती रही है तो कभी उसमें ह्रास परिलक्षित होता है। एक-सा स्वरूप उसका कभी नहीं रहा। आज नारी की जो सामाजिक और वैयक्तिक

स्थिति है—'कल' वैसी न थी। यह अन्य बात है कि नारी अपनी विद्यमान अवस्था को अतीत की अपेक्षा उन्नत मानती हो और अन्य जनों की धारणा इससे विपरीत रहती हो।

वैदिक युग में नारी देवी रूपा-शक्ति मानी जाती थी। यज्ञादि धर्म क्रियाओं और अनुष्ठानों में पुरुष के संग-संग नारी की सहभागिता सर्वथा अनिवार्य रहती थी। नारी ने स्वयं अपने अनुरागपूर्ण मृदुल और मधुर प्रवृत्तियों से समाज की इस धारणा को पुष्ट और सशक्त किया कि वह मानवीयता की प्रतिमूर्ति है, वैभव और श्री समृद्धि की प्रतीक है।

वेदों के पश्चात् स्मृतियाँ रची गयीं, किन्तु इन दोनों के मध्य उपनिषद्काल रहा है। उपनिषदों में नारी की स्वाधीनता का स्वर मिलता है।

राजा जनक की राजसभा में युग के शिखरस्थ ज्ञानवान ऋषि याज्ञवल्क्य के साथ, विदुषी गार्गी का प्रखर शास्त्रार्थ एक अति महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। इससे संकेत मिलता है कि स्त्रियाँ जटिल दर्शनशास्त्र जैसे विषयों में भी कैसी अद्भुत गति रखती थीं। अनेक स्त्रियाँ उपनिषद्काल में परम मेधावी एवं चिन्तनशीला थीं।

विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में भी नारी ने अतुल कीर्ति प्राप्त की। कल्प सूत्र के अनुसार भगवान महावीर के संघ में १४,००० साधु थे, तो ३६,००० साध्वियाँ थीं। अर्थात् यदि ७ साधु थे तो १८ साध्वियाँ थीं। इससे पूर्व भगवान पार्श्वनाथ के संघ में १६,००० साधु और ३८,००० साध्वियाँ थीं। साधु और साध्वियों का अनुपात ८ : १९ का रहा। स्पष्ट है जैन परम्परा में धर्म के क्षेत्र में स्त्रियों की सक्रियता की न केवल स्वाधीनता रही, उस प्रतिभागिता को प्रोत्साहन भी मिलता रहा है और पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ आगे बढ़ी हुई हैं, कम से कम पीछे तो कहीं ही नहीं जा सकतीं।

आगमकालीन नारी का व्यक्तित्व-निरूपण जैन आगम ग्रन्थों में हुआ है। इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि नारी के श्वेत-श्याम चित्र उभरकर आये हैं। आगम ग्रन्थों में नारी की सदसद्-द्विविध रूपरेखा मिलती है। एक स्वरूप धर्म की बाधा के रूप में नारी का है तो दूसरा स्वरूप नारी का ऐसा है जिसमें वह साधना और तपश्चर्या द्वारा आत्म-कल्याण में रत है। एक स्वरूप पुरुषों को पाप-पंक में लिप्त करने वाली का है, तो दूसरा स्वरूप पुण्य भावी, सदाचारयुक्त साधिका का है। एक रूप मलिन, अबला, कामवासना की प्रतिमूर्ति का है तो दूसरा पावन, सबल, आत्म-विश्वासपूर्ण और पुरुषोद्धारिका नारी का है। इन दो स्वरूपों में विरोधाभास द्रष्टव्य है। ये दोनों स्वरूप वास्तव में भिन्न-भिन्न कोणों से दृष्टिपात के परिणाम हैं। पहला स्वरूप नारी का अपना स्वतंत्र स्वरूप न

होकर—पुरुष-सापेक्ष रूप है। पुरुषों के संदर्भ में यह नारी-स्वरूप का चिन्तन है जबकि दूसरा पक्ष स्वतंत्र चेता नारी का अन्तरंग चित्र प्रस्तुत करता है जो उसकी अपनी व्यक्तित्व-छवि है जिसके विशिष्ट निर्माता भगवान महावीर स्वामी स्वयं रहे हैं। यहाँ विवेच्य विषय यह है कि आगमों की नारी सम्बन्धी धारणाएँ कैसी हैं?

आगम ग्रन्थों में नारी के इस प्रकार पार्श्वीय व्यक्तित्व में एक झलक उसकी दोषमयता की है तो अन्य पक्ष में उसके साथ जो आदरपूर्ण, कोमल व्यवहार का निर्देश हुआ है—उससे उसकी मर्यादा में एक उच्चता का समावेश हो गया है। उसकी अन्तर्निहित गरिमा का आभास सजीव हो उठा है। पुरुष वर्ग की श्रद्धा से नारी की क्षमता, प्रतिभा और पावनता प्रतिभासित होती है। नारी-सम्मान का तत्त्व हमारी संस्कृति का प्रतीक है और आगमकाल में भी वह विद्यमान रहा। जैनधर्म तो साधनापरक है। नर-नारी दोनों के साफल्य की कसौटी साधना में निहित रही और आगमकालीन नारी इस कसौटी पर सदा खरी उतरी। उसने यदा-कदा साधनाच्युत होते पुरुषों को भी सहारा देकर उनके मार्ग में स्थिर किया। इन्द्रिय निग्रह, अपरिग्रह, तपस्या आदि विभिन्न आयामों के साथ नारी भी पुरुषों के समान दीक्षा में सफल रही है, वरन् कुछ अग्रगामी ही रही है।

नारी में चाहे अन्य गुण अल्प ही हों, पर यदि शील धर्म में सुदृढ़ता है तो नारी का औदात्य उच्चतम हो जाने में कोई आशंका नहीं। शीलव्रत पर सुदृढ़ नारियों की आत्म-शक्ति इतनी प्रबल हो जाती थी कि उनकी कल्पना भी घटित होकर साकार हो जाया करती थी। वे वाचासिद्ध हो जाती थीं। उनके वचन कार्य रूप में परिणत हो जाते थे। उनका दिया गया अभिशाप त्रस्त कर देता था सम्बन्धित व्यक्ति को और उनका अनुग्रह भी सुखद हो जाया करता था। उनके कार्य-कलापों में विचित्रता होती थी—उनकी अनूठी पवित्रता थी जो चमत्कार रूप में अनुभूत होते थे।

जैनागमों की साक्षी से कहा जा सकता है कि शीलवती नारियों ने न केवल अपने शीलव्रत की रक्षा की, अपितु इसमें बाधक बनने वाले पुरुषों की भी पतन से रक्षा करने में वे सफल रहीं और उन्हें सन्मार्गी बना दिया। उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक सूत्र में ऐसी कतिपय सन्नारियों के उल्लेख मिलते हैं जिनमें रथनेमि-राजीमती का प्रसंग प्रमुख है। श्रमणियों के अतिरिक्त श्राविकाओं/

उपासिकाओं ने भी पुरुषों को सन्मार्ग का निर्देश किया था। रानी कमलावती राजा इषुकार को, तो कोशा गणिका ने अपने आवास में स्थित मुनि को भी सन्मार्ग दिखाया। नारी चरित्र की ऐसी-ऐसी उदात्तताओं के परिणामस्वरूप भगवान महावीर ने स्त्रियों को धर्म स्वातंत्र्य से युक्त भी किया, उन्हें पुरुष समकक्ष भी माना और श्रमणी संघ के संचालन का औचित्य भी स्वीकारा।

विशेष उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण आगम साहित्य में एक भी वृत्तान्त ऐसा नहीं उपलब्ध होता जिसमें किसी साध्वी को पुरुष परिषह से पराजित होना पड़ा हो, या पुरुष की सत्प्रेरणा से ही कोई साध्वी सन्मार्ग पर आयी हो। साध्वी जीवन की पवित्रता के यश की पताका ऐसे तथ्यों से और भी अधिक उज्ज्वल होकर और अधिक ऊँची उठ जाती है।

अनुशासनबद्धता की छाया में ही साध्वियों के कर्त्तव्य पनपते थे। कदाचित् यही कारण है कि उनके कर्त्तव्य अधिकांशतः नकारात्मक एवं निषेधपरक हैं। आगम ग्रन्थों में जो विधान किये गये हैं उनका प्रयोजन साध्वियों के साधुत्व को सुदृढ़ बनाने का ही मूलतः रहा। इनके अनेक ऐसे कर्त्तव्य हैं जो उनके शील-निर्वाह की दृष्टि से हैं।

श्राविकाएँ स्वाध्याय द्वारा ज्ञानार्जन में भी पीछे नहीं थीं। अनेक श्राविकाओं को उनके ज्ञान के लिए अपार यश मिला। अनेक श्राविकाएँ विदुषी एवं बहुश्रुत थीं। मृग माता का पुत्र दीक्षार्थ तत्पर होता है तो माता उसे साधु-मार्ग की दुर्गमताओं से परिचित कराती है। वह साधु के आचारों की ज्ञाता थी। जयन्ती के विषय में माना जाता है कि वह श्रमणोपासिका थी। शैयातर के रूप में वह साधु-साध्वियों को निज भवन में आवास देती थी। उसे तत्त्वमर्मज्ञता का यश प्राप्त था। भगवान महावीर से जयन्ती ने अनेक प्रश्न पूछे और भगवान ने उसकी जिज्ञासा शान्त भी की। वस्तुतः उसके प्रश्नों से उसकी अध्ययन शीलता, चिन्तन और ज्ञान की गहनता का परिचय मिलता है।

आगम काल में शिक्षा एवं दीक्षा की पद्धति दोनों ही उत्तम प्रकार थी। पुत्रों की शिक्षा का स्वरूप बड़ा स्पष्ट और व्यवस्थित मिलता है, जबकि कन्या-शिक्षा में ये विशेषताएँ नहीं रहीं। बालिकाओं की शिक्षा होती अवश्य थी, किन्तु वह अनौपचारिक रूप में थी और वस्तुतः बालकों की शिक्षा से भिन्न प्रकार की थी। दोनों के मूल विषयों और प्रयोजनों में ही अन्तर था। आगम ग्रन्थों की साक्षी से कहा जा सकता है कि पुत्र आठ वर्ष की आयु

प्राप्त कर लेता और उसे विभिन्न कला-विद्याओं की शिक्षा ग्रहण करने को कलाचार्य के आश्रय में भेज दिया जाता है। इसके विपरीत कन्या की शिक्षा का आयोजन परिवार में ही होता था। घर का आंगन ही उसके लिए पाठशाला हुआ करती थी और वास्तविकता यह है कि माता ही उसके लिए प्रथम आचार्य हुआ करती थी। उसकी शिक्षा का मूल प्रयोजन उसे शीलवती, गुणवती, चरित्र शीला नारी के रूप में ढालना था।

नारी-सत्ता में संकोच स्पष्टत: दिखायी देता है—सूत्रों और स्मृतियों के काल में। अनेक **प्रतिबन्धों** और बाधओं से वह घिर गयी। ईसा पूर्व दूसरी सदी का यह काल था, जब उसकी ऊर्जस्विता, तेजस्विता और मनस्विता के प्रखर भानु को ग्रहण लगने लगा और **तेजोहतता** आरम्भ हुई। जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसके अधिकार सीमित होने लगे। नारी के समग्र जीवन का नियन्ता पुरुष हो गया। कन्या अवस्था में वह पिता के, पत्नी रूप में वह पति के और माता रूप में वह पुत्र के आधिपत्य में रहने लगी।

बौद्ध परम्परा में तो नारी का धर्मक्षेत्र में प्रवेश निषिद्ध रहा, संघ-प्रवेश उनके लिए लगभग वर्जित-सा रहा। नारी की प्रतिभागिता से संघ की आयु में ही ह्रास की आशंका का अनुभव किया जाता था।

इसके विपरीत जैन परम्परा बड़ी उदार और विशाल हृदयता की परिचायक रही। भगवान महावीर स्वामी ने स्त्री और पुरुष में किसी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार्य नहीं माना। दोनों को साधना-उपासना का समान अधिकार प्राप्त था। नारी की गरिमा और अधिकार सत्ता में बढ़ोत्तरी होने लगी। सामाजिक स्तर पर उसे पुन: प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी और उत्तर उपनिषद्काल में जहाँ नारी को पुरुष की छाया जैसा ही स्वरूप मिलने लगा था—वहाँ अब जैन परम्परा में उसे पुरुष की परम सहचरी होने का गौरव पुन: प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत रचना तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में नारी के प्रति जैनतर साहित्य में वर्णित नारी रूप को प्रस्तुत किया है। इसमें वेद, उपनिषद् श्रुति-स्मृति, रामायण, महाभारत और पुराण काल के वर्णनों को स्थान दिया है। बौद्ध साहित्य के वर्णन को भी इस खण्ड में समायोजित कर लिया गया है।

द्वितीय खण्ड में जैन वाङ्मय में नारी के विविध रूप स्वरूप का चित्रण है। इसमें नारी के कन्या, पत्नी, माता, श्राविका, साध्वी आदि सभी स्वरूपों पर विस्तृत चित्रण है। तथा तृतीय खण्ड में नारी के अन्तरंग जीवन की सहज विशेषताओं पर विहंगम दृष्टिपात किया है।

इस प्रकार विष्णु के तीन चरणों में जिस प्रकार समग्र भूलोक को नाप लिया गया था, इसी प्रकार तीन खण्डों व विविध उपखण्डों में नारी के सर्वांग स्वरूप को चित्रित कर प्रस्तुत कर दिया गया है।

आचार्यश्री के अन्तेवासी सुशिष्य श्रमणसंघीय सलाहकार श्री दिनेश मुनि ने इस मेटर का संयोजन कर मुझे आग्रह किया कि आप इसका सुन्दर सम्पादन करें तथा श्री द्वीपेन्द्र मुनि जी, श्री पुष्पेन्द्र मुनि जी म. की सतत् प्रेरणा रही कि "देवेन्द्र धाम" के शुभ उद्घाटन के अवसर पर इसका प्रकाशन हो जाये।

मुझे विश्वास है आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. की यह कृति मातृ जाति के गौरव को बहुत ही दृढ़ता व स्पष्टता के साथ स्थापित करने में समर्थ होगी। इसी विश्वास के साथ !

—साध्वी पुष्पवती

जैनाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि
शिक्षण एवं चिकित्सा शोध संस्थान ट्रस्ट 'देवेन्द्र धाम'
भुवाणा, उदयपुर।
धनतेरस २००५

अनुक्रमणिका

क्रमांक	क्या ?	कहाँ ?
	जैनेतर साहित्य में नारी	**१७-९८**
१.	महत्ता की प्रतीक नारी	१९
२.	वैदिककाल में नारी	३०
३.	रामायणकाल में नारी	४८
४.	महाभारतकाल में नारी	७२
५.	स्मृतिकाल में नारी	८१
६.	पुराणों में नारी	८९
७.	बौद्धकाल में नारी	९४
	जैन वाङ्मय में नारी	**९९-२२२**
१.	पूर्वपीठिका : पूर्वकालिक सांस्कृतिक वैशिष्ट्य	१०१
२.	जैन आगमों में नारी	११५
३.	आगमकालीन कन्या-स्थिति	१२५
४.	आगमकालीन नारी : विवाहोत्तर स्वरूप	१३२
५.	आगमकालीन माता	१४५
६.	आगमयुगीन नारी : धार्मिक क्षेत्र—श्रमणी रूप	१५६

क्रमांक	क्या ?	कहाँ ?
७.	आगमयुगीन नारी : धार्मिक क्षेत्र—श्राविका-स्वरूप	१८७
८.	गृहस्थ जीवन के संस्कार एवं सामाजिक व्यवस्था	२०१
९.	आगमकाल में नारी-शिक्षा एवं लोकाचार	२१२
	जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में नारी	**२२३-२९४**
१.	नारी-विषयक सद्-असद् दृष्टिकोण : जैनागम के आलोक में	२२५
२.	नारी की उदात्तता और निंद्यता : जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में	२३२
३.	धर्म और नारी : जैनधर्म के विशेष सन्दर्भ में	२४२
४.	धर्म-सहायिका और पथ-प्रदर्शिका नारी	२५४
५.	जैनधर्म : तप और नारी	२८१
६.	शान्तिप्रिय नारी : शान्ति-विधायिका भी	२८७

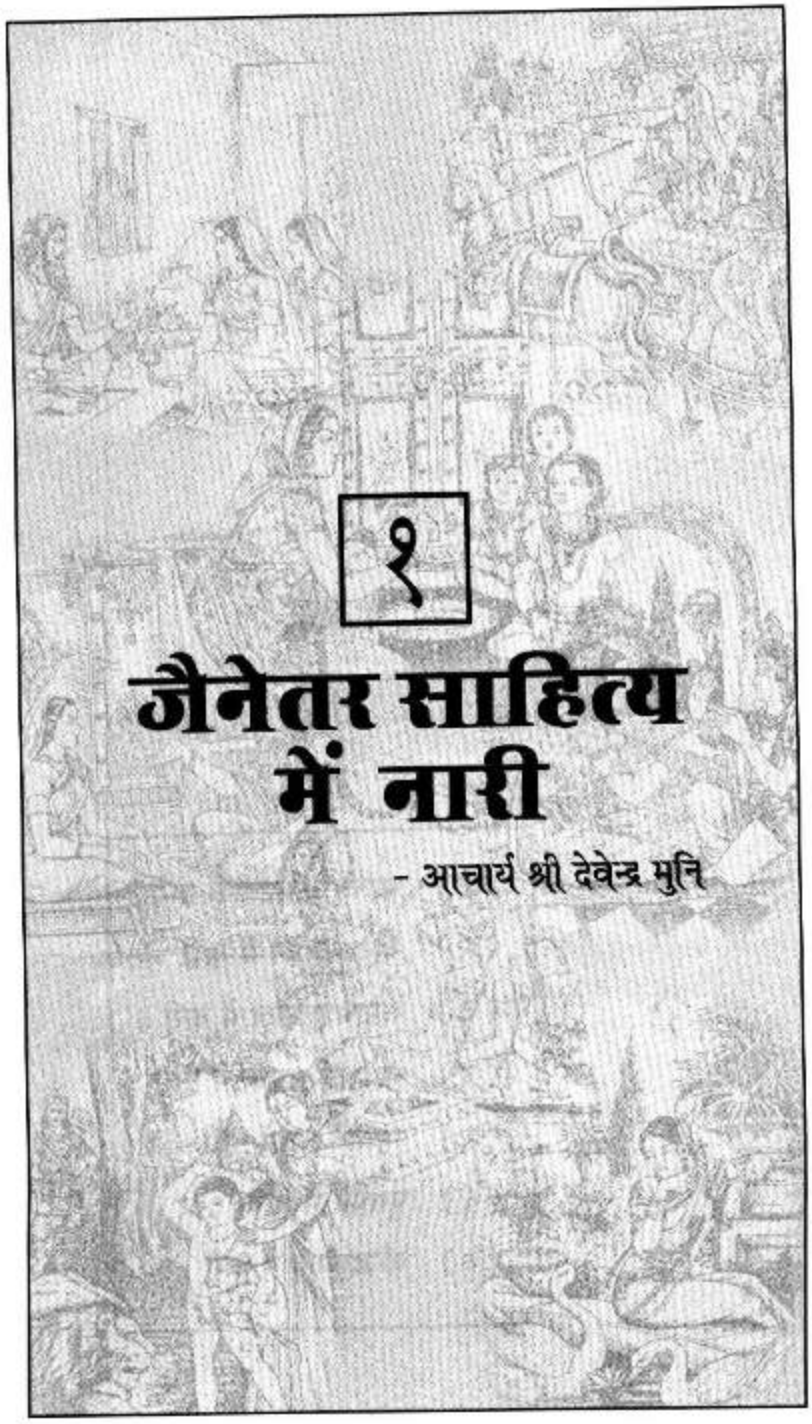

१

जैनेतर साहित्य में नारी

- आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

(१) महत्ता की प्रतीक नारी

(२) वैदिककाल में नारी

(३) रामायणकाल में नारी

(४) महाभारतकाल में नारी

(५) स्मृतिकाल में नारी

(६) पुराणों में नारी

(७) बौद्धकाल में नारी

महत्ता की प्रतीक नारी

नर और नारी ..... नारी और नर; परस्पर पूरक स्वरूप रखते हैं। दोनों का योग ही समग्रता या परिपूर्णता की रचना करता है। यह युग्म ही सृष्टि के श्रेष्ठांश का निर्माता है और नारी इस प्रकार जगदार्द्ध होने का गौरव वहन करती है, वह भी अपेक्षाकृत श्रेष्ठ अर्द्ध। महाभारत साक्षी है—**अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।**[१] भार्या पुरुष का आधा अंग है। भार्या सबसे श्रेष्ठ मित्र है।

यों अपने व्यापक अर्थ में नर प्राणी-जगत् के पुरुष वर्ग का प्रतीक है, तो नारी स्त्री वर्ग के परिचायक शब्द के रूप में रूढ़ हो गया है। नारी नाम हो गया है—'फीमेल' अथवा 'मादा' का। प्रायः प्राणियों की विभिन्न जातियों के पुल्लिंग और स्त्रीलिंग नाम पृथक्-पृथक् होते हैं; यथा—नाग और नागिन, गाय और बैल आदि। कुछ जातियों में फिर भी ऐसे पृथक्-पृथक् नाम नहीं हैं, यथा—अजगर। ऐसी स्थिति में लिंग-भेद के लिए पुल्लिंग के हेतु अजगर का व्यवहार होता है तो स्त्रीलिंग के लिए 'नारी अजगर' या 'मादा अजगर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्पष्ट है कि 'नारी' शब्द स्त्री वर्ग का द्योतक है। पुल्लिंग का स्त्रीलिंग रूप ही नारी है। यथार्थ यह है कि प्रचलन में आते-आते नारी शब्द का 'अर्थ-संकोच' होता गया है और अब 'नारी' पुरुष का स्त्रीलिंग रूप बनकर रह गया है। अर्थात् मनुष्य जाति के दो भेद—नर और नारी। ये ही पुरुष और स्त्री हैं। ये दोनों परस्पर मिलते-जुलते और लगभग समानधर्मी हैं। एक-दूसरे के पूरक हैं। संसार-रथ के दो समान चक्र (पहिये) हैं।

सुकुमारता की प्रतीक नारी

'नारी' शब्द का प्रयोग होते ही मनःपटल पर जो छवि उभर जाती है, उससे स्नेह, सौन्दर्य, कमनीयता और सुकुमारता की कल्पना साकार हो उठती है। एक सर्वथा मनोरम प्राणी की झलक निर्मित हो जाती है। नर प्राणियों को प्रकृति ने ही अनेक आकर्षणों और विशेषताओं से विभूषित कर दिया है—यह एक सत्य

---

१. महाभारत ७४/३३

है। मयूर के शीष पर कलंगी और लम्बे, रंग-बिरंगे पंखों की शोभा होती है, मयूरी के पास यह वैभव कहाँ ! सिंह की ग्रीवा में घनी, आकर्षक केश-राशि होती है, सिंहनी के नहीं। किन्तु यह भी तथ्य है कि आन्तरिक विशेषताओं में नारी ही अग्रणी होती है। प्रत्येक प्राणी वर्ग में इसी की महत्ता अपेक्षाकृत अधिक रहती है। लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि अधिकतर गाय, भैंस, बकरी आदि की प्राप्ति की ही कामना की जाती है; बैल, भैंसे, बकरे आदि की नहीं। बलि आदि में नर-प्राणियों का ही संहार होता है; नारी या मादा का नहीं।

नारी के सहज गुणों के उद्‌घाटन के साथ आगमकार कहते हैं—**सुसीला, चरू पेहिणी**,[१] वह सुशीला और 'चारू प्रेक्षिणी' सुन्दर दृष्टि वाली होती है। आत्म द्रष्टा ऋषियों की भाषा में नारी सुदिव्य कुल की गाथा है, सुवासित शीतल मधुर जल और विकसित पद्‌मिनी के समान है।[२]

यद्यपि मानवी शब्द के पर्याय रूप में नारी एक सुस्थापित शब्द हो गया है, किन्तु उसके शुभ पक्ष का प्रतिनिधित्व 'स्त्री' शब्द से ही अधिक प्रभावशाली रूप में होता है। यों 'नारी' शब्द बड़ा सुन्दर और कोमल अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु ज्ञातव्य यह भी है कि स्त्री की निन्दा और अवमानना के प्रसंगों में उसके लिए 'नारी' का प्रयोग होता रहा है; विशेषकर मध्य युग में। यह निन्दात्मक प्रयोग इतनी प्रचुरता के साथ हुआ है कि 'नारी' शब्द ही बड़ा वीभत्स रूप ले चुका है। कवियों ने कहा—"नारी नरक की खान।" स्त्री के हीनत्व का प्रतिपादन इसी 'नारी' शब्द के प्रयोग के साथ हुआ है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की निर्गुण धारा में ही नहीं, सगुण धारा में भी न्यूनाधिक रूप में स्थिति यही बनी रही। संत तुलसीदास जैसे उदारमना भक्त कवि ने भी स्त्री-निन्दा की है और उसके लिए 'नारी' संज्ञा का प्रयोग किया—"**ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।**" संतों ने साधना और मोक्ष-सिद्धि में बाधक तत्त्व के रूप में स्त्री की चर्चा नारी शब्द के साथ ही की है।

स्त्री के अतिरिक्त भी नारी के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है। मैना, ग्ना, योषा, सुन्दरी, ललना, मानिनी, कामिनी, भामिनी, रमणी, मानवी, भार्या आदि-आदि नाना शब्दों से नारी-सम्बोधन होता रहा है। 'रमणी' भी इस हेतु एक प्रचलित शब्द है और 'महिला' शब्द का प्रयोग तो बहुप्रचलित हो गया है। ज्ञातव्य यह है कि नारी के किसी भी स्वरूप का, उसके किसी भी गुण का चित्रण

---

१. उत्तराध्ययन २२/७

२. गाहा कुला सुदिव्वा व भाव का मधुरिदका। —**इसि भासियाइं २२/७**

करने के प्रसंग में, क्या इनमें से किसी भी शब्द का प्रयोग किया जाना उपयुक्त हो सकता है ? यों सामान्यत: ये सभी शब्द स्त्री के लिए समानार्थक रूप रखते हैं, ये परस्पर पर्याय हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सभी प्रसंगों में, इनमें से किसी भी शब्द का प्रयोग कर दिया जाय—यह समीचीन प्रतीत नहीं होता। जब कभी नारी की किसी एक विशेषता का चित्रण हो रहा हो तो उसके अनुरूप, सम्बन्धित कोई एक शब्द ही अधिक सार्थक और उपयुक्त रहता है। नारी के सुलक्षण अनेकानेक हैं, उसकी अनेक विशिष्टताएँ हैं और इन पर्यायों में से प्रत्येक उसकी किसी एक विशेषता का परिचायक होता है। नारी के इतने अधिक पर्याय शब्दों का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि नारी नरक की नहीं, सद्गुणों की खान है। नारी पुरुषों की अपेक्षा अधिक मानवीय गुणों से सज्जित है और वह पुरुषों के लिए इस आधार पर वन्दनीय और पूज्या मानी गयी है। यही कारण है कि वेदों में नारी को सम्माननीय मानते हुए उसके गौरव को स्थापित किया गया है।[१] वह गौरव के साथ कहती है। मैं अपने परिवार की केतु (ध्वजा) हूँ, मस्तक हूँ।[२]

लोक-व्यवहार में दृष्टिगत होता है कि पुरुष अपनी प्रेयसी नारी की प्राप्ति में सचेष्ट रहता है। वह पुनर्मिलन का उद्यम करता है। नर साधक है, तो नारी साध्य-स्वरूपा है; नर प्राप्तिकर्त्ता है, तो नारी प्राप्या है। नारी स्थिर लक्ष्यवत् है तो नर उसके लिए गतिशील प्रयत्नकर्त्ता है। नारी यदि गंतव्य है तो नर पथिकवत् है। नर ही चलकर अपनी प्राप्या (नारी) के पास पहुँचता है। नारी अपनी इस विशेषता के आधार पर 'ग्ना' संज्ञा से जानी जाती है।[३]

निरुक्त में वर्णित है कि नारी लज्जाशीला होती है और इसी आधार पर वह स्त्री कहलाती है।[४] इसी प्रकार नर के साथ संयोगावस्था में जब नारी होती है तो वह 'योषा' कहलाती है।[५] वास्तव में नारी का 'योषा' रूप तब साक्षात् होता है, जब वह पुरुष के साथ सहभागिता निभाती हुई सामाजिक कार्यकलापों में सक्रिय रहती है, पुरुष की सहयोगिनी के रूप में जब वह अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। सामाजिक दायित्वों के साथ वह धर्म कार्यों में भी पुरुष की सहयोगिनी रहती है।[६] इस प्रकार वह धर्म, समाज, परिवार आदि क्षेत्रों में तो क्रियाशील

---

१. मानयन्ति एना: पुरुषा:

२. अहं केतु रहं मूर्धा। —ऋग्वेद १०/१५९/२

३. ग्ना गच्छन्ति एना:।

४. स्त्रिय: सत्यायते: अपत्रपण कर्मण:।

५. "योषा यौते: मिश्रणार्थस्य सा हि मित्रयति आत्मानं पुरुषेण सकाम।" —निरुक्त

६. भारिया धम्म सहाइया। —उपासक ७/२२७

रहती ही है, वह सज्जन-रक्षा, दुष्ट-निग्रह आदि कार्यों में भी संलग्न रहती है। नारी का यह रूप भी 'योषा' संज्ञा से व्यक्त होता है।

नारी शोभा और सुषमा की देवी है। सौन्दर्य उसके व्यक्तित्व का एक अभिन्न और स्वाभाविक तत्त्व है। वह न केवल स्वयं कमनीय और सुन्दर है; अपितु वह अपने समीपवर्ती समूचे वातावरण को भी शोभित और सुन्दर बना देती है। सौन्दर्य के सर्जन और प्रसारण की इस प्रवृत्ति के कारण नारी को 'वामा' कहा जाता है। सत्यं, शिव और सुन्दरम्-इस गुणत्रयी की धारिका नारी पुरुष के लिए रूप की सृष्टि है। सत्य तो यह है कि नारी पुरुष के अभावों की पूरिका का रूप रखती है और सौन्दर्य-प्रधान, सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति होती है। बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों ही कोटियों के सौन्दर्य की यह निधि होती है। उसके सुन्दर तन में सुन्दर मन का भी निवास होता है। अपने इस मानसिक सौन्दर्य के कारण ही वह सुकुमारता या कोमलता की कोष हो गयी है। स्त्री तो अपने नाम से ही अतिशय सुन्दर, कोमल और मधुर होती है। भर्तृहरि ने अपने 'शृंगार शतक' और 'वैराग्य शतक' में इसी रूपाधिक्य के वशात् नारी को सौन्दर्य का सार और कलाओं की सृष्टि के रूप में स्वीकारा है। नारी की इन विशेषताओं के कारण उसमें चित्त को द्रवित करने की अद्‌भुत क्षमता विकसित हो गयी है।

नारी पुरुष के लिए हर्ष की दात्री है। वह पुलक औक प्रमत्तता प्रदान करती है, अत: यथार्थ में ही वह 'प्रमदा' भी है। असंख्य लालसाओं की समुच्चय नारी पुरुष में भी लालसा-जागरण की हेतु बनती है। अत: वह 'ललना' के पर्याय से भी जानी जाती है। वह मन को रमाने वाली होने के कारण 'रमणी' है तो गृह-संचालिका होने के नाते वह 'गृहिणी' का गौरव भी धारण करती है। वह घर को चलाने वाली मात्री नहीं, अपितु घर को शोभाशाली भी बनाती है। अपनी इस अलंकरण-क्षमता के कारण ही वह 'भामा' अथवा 'भामिनी' कही जाती है। अपनी विभिन्न सामाजिक अवस्थाओं—पुत्री, पत्नी, माता, बहन आदि के रूप में वह सदा पूज्या मानी जाती है और उसके इस स्वरूप की स्वीकृति भी सुख-शान्ति की जननी हो जाती है। भारतीय परम्परा में यह मान्यता बन गयी है कि जहाँ नारी को पूजनीय माना जाता है, वह स्थल स्वर्गवत् हो जाता है। अपने इस पूज्या स्वरूप के कारण ही वह 'महिला' कहलाती है। मानवीय गुणों के आधिक्य और इन गुणों के अनुसरण के कारण नारी का ऐसा स्वरूप हो गया है; मानो मानवता की वह परिभाषा ही हो गयी हो। ऐसी दशा में नारी का पर्याय—'मानवी' हो जाना भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। कामनाओं को

जागृत और उद्दीप्त करने की अपनी सहज प्रवृत्ति के आधार पर नारी 'कामिनी' भी कहलाती है और मानप्रिय होने के आधार पर 'मानिनी' भी। नारी के अन्य अनेक गुणों के आधार पर उसके अन्यान्य अनेक नाम और भी हैं और नित नये नामों का प्रयोग भी असंभव नहीं है।

नारी जगत् की एक महत्तापूर्ण पात्र है। उसका महत्त्व किसी भी युग में कम करके नहीं आँका जा सकता। सनातन परम्परा में एक धारणा विद्यमान है कि इस संसृति (संसार) का विस्तार और प्रसार पुरुष और प्रकृति के योग की देन है। परस्पर की प्रेम-भावना ही इसके मूल में मानी गयी है। ऐसी मान्यता भी एक वैदिक परम्परा में है कि सृष्टि का इतना व्यापक स्वरूप हमें आज तो दिखायी देता है, किन्तु इसका आदि रूप, इसका अर्थ बड़ा विचित्र रहा। सृष्टि के अस्तित्व में आने से पूर्व मात्र परमात्म परम पुरुष ही था—सर्वथा एकाकी और निस्संग। किसी अन्य का अस्तित्व ही नहीं था। एक वही..... अकेला था। स्वनिमग्न और आत्मलीन रहने के अतिरिक्त उसके पास अन्य कोई प्रवृत्ति थी ही नहीं। उसके मानस में जो प्रेमभाव भी था तो वह मात्र स्व के प्रति ही था। इस एकाकीपन, इस अद्वैत से उसका उकता जाना भी सहज स्वाभाविक था। उसे यह प्रेरणा भी हुई कि वह अपना आन्तरिक प्रेम किसी अन्य प्रिय के प्रति समर्पित करे। और तब अभाव को भाव में परिणत करने की अभिलाषा उसके मन में अँगड़ाइयाँ लेने लगी। इस निश्चय को रूपायित करते हुए स्वयं वह परम पुरुष एक से दो हो गया। ये दोनों—दो होते हुए भी तत्वतः एक ही थे। दोनों परस्पर प्रेम-मग्न हो गये। दोनों के सहकार से प्राणी-जगत् की सृष्टि हुई और कालान्तर में वह विस्तार प्राप्त करती रही। इस प्रकार '**एकोऽहं बहुस्याम्**'—परमात्मा एक से अनेक रूप हो गया। प्रकट है कि सभी रूपों में उसी परमात्मा का अंश है। यों परमात्म तत्व स्वयं को विभक्त कर (दो में विभाजित होकर) पुरुष और प्रकृति (नारी) बना और सृष्टि का सृजन हुआ।

संसृति-प्रसार में नारी का योगदान अति प्रमुख है। वही प्रजोत्पत्ति करती है। मातृत्व का वरदान जो उसे प्राप्त है। इस वरदान की सिद्धि में निश्चित ही पुरुष की सहभागिता का भी अपना ही महत्त्व है। इसे नकारा नहीं जा सकता है, किन्तु विचारणीय यह भी है कि पुरुष की इस सहभागिता के पीछे जो प्रेरणा रही है वह नारी के प्रति रूपासक्ति की ही है। पुरुष रूपासक्त होकर ही उन्मुख होता है। इसी सहज प्रवृत्ति को उसके भौतिक स्वरूप में 'काम' कहा गया है। विवेच्य तथ्य यह है कि 'काम' भावना में विलास तत्त्व का सर्वथा अभाव रहता है। जब

विलास भी सम्मिलित हो जाता है तो काम अपनी गरिमा खोकर 'वासना' का विकृत रूप ग्रहण कर लेता है। नारी और नर की पारस्परिक मिलनेच्छा स्वाभाविक होती है। इस इच्छा का उद्दाम और अनियमित स्वरूप असामाजिकता और अशिष्टता को जन्म देता है। विवाह संस्कार वासना को नियमित कर उसे सुष्ठु स्वरूप प्रदान कर देता है। युग्म धर्मसम्मत मार्गानुसरण के साथ संयत दाम्पत्य जीवन जीने लगता है। परिवार में नारी कन्या या पुत्री रूप में जन्म लेती है। वात्सल्यमय वातावरण में पालित-पोषित होकर वह क्रमशः विकास को प्राप्त करती है। जब वह परिणय-योग्य हो जाती है तो दाम्पत्य-सूत्र में आबद्ध होकर धर्मपत्नी और गृहिणी का स्वरूप ग्रहण करती है। वही कालान्तर में ममतामयी माता का गौरवपूर्ण पद प्राप्त करती है और सामाजिक-धार्मिक नाना क्षेत्रों में सक्रिय रहती है। समाज में उसे गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है, परिवार में मान-सम्मान। ऐसी महिमामयी नारी-महिला का समाज में सदा एक-सा प्रतिष्ठित स्थान रहा हो—ऐसा भी नहीं है। कभी उसे गरिमा-महिमा का पात्र माना गया तो किसी युग में उसकी उपेक्षा और अवमानना भी कम नहीं हुई।

समाज के सन्दर्भ में नारी की स्थिति युगानुयुग परिवर्तनशील बनी रही है। नारी की महत्ता और गौरव, उसका वर्चस्व और गरिमा कभी उच्च से उच्चतर होती रही है तो कभी उसमें ह्रास परिलक्षित होता है। एक-सा स्वरूप उसका कभी नहीं रहा। 'आज' नारी की जो सामाजिक और वैयक्तिक स्थिति है—'कल' वैसी न थी। यह अन्य बात है कि नारी अपनी विद्यमान अवस्था को अतीत की अपेक्षा उन्नत मानती हो और अन्य जनों की धारणा इससे विपरीत रहती हो। जिस अवस्था को वह प्रतिबंधपूर्ण और दासता भरी मानती रही हो; वह सामाजिक आदर्शों से परिपूर्ण स्वीकार की गयी हो—ऐसा भी संभव है। जो अवस्था नारी को स्वीकार्य नहीं रही हो, समाज उसी के पक्ष में रहा हो। जैसा भी हो, पर यह सत्य है कि नारी का स्वरूप रहा परिवर्तनशील ही है।

परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप नारी-स्वरूप के परिवर्तन का अजस्र और अनन्त क्रम मानव जाति के आदिकाल से ही चल रहा है। यह भी निर्विवाद तथ्य है कि वैदिककाल इस दृष्टि से स्वर्णकाल रहा है। समाज के लिए साहित्य एक विश्वस्त दर्पण रहा है। साहित्य में ही प्रति युग का समाज स्थायी रूप से प्रतिबिम्बित और अंकित हो गया है। इस छवि को निहारकर हम तद्युगीन समाज और उसके वर्गों की, उनकी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ पहचान कर सकते हैं। यह पहचान सर्वथा विश्वसनीय, तथ्याधारित और निश्शंक होती है। नारी स्वरूप का इतिहास भी इसी प्रकार हमारे साहित्य में सुरक्षित रूप में

संगृहीत हो गया है। किसी भी युग के साहित्य के अध्ययन के माध्यम से हम तत्कालीन नारी-स्थिति की यथार्थ झलक पा सकते हैं। यदि साहित्य की विधा समाज के स्वरूप का अंकन करने, अथवा उसके नियमन से सीधे-सीधे सम्बन्धित है तो उस विधा की कृतियाँ सविस्तार और सांगेपांग रूप में नारी और समाज के संदर्भों को चित्रित कर देती हैं। अन्यथा भी नारी-समाज की दृष्टि में किस काल में क्या स्थान रखती थी-यह साहित्य के अन्यान्य प्रकरणों से स्पष्ट हो जाता है। नारी-इतिहास के समग्र क्रम को व्यवस्थापूर्वक समझने की दृष्टि से उसे अमुक कालों में विभाजित कर लेना सुविधाजनक रहेगा। यह विभाजन सांस्कृतिक विकास के इतिहास के काल-विभाजन के अनुरूप रखा जाय तो और भी अधिक सुविधा संभव है। इस दृष्टि से, सम्बन्धित कालों के साहित्य और शास्त्रों को आधार माना जा सकता है। नारी स्वरूप के विकास के इस दीर्घ क्रम का अथ वैदिककाल से माना जाना चाहिए और तब से अब तक के विकास-क्रम को समझने के लिए इसे निम्नलिखित युगों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) वैदिककाल (२) महाकाव्यकाल (३) उपनिषद्काल
(४) जैनकाल (५) बौद्धकाल (६) संस्कृत युग
(७) अपभ्रंश युग (८) मुस्लिम युग (९) आधुनिक युग

वैदिक युग की नारी

भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं में एक प्रमुख विशेषता यह भी रही है कि नारी को अतिशय सम्माननीय माना जाता है। यह विशेषता कभी अपनी पूर्ण कान्ति पर रहती है तो कभी इसकी आभा मन्द हो जाती है, किन्तु यह सर्वथा लुप्त कभी नहीं हुई। यह भी एक ज्ञातव्य बिन्दु है कि युग-युग में इस सम्मान के प्रकटीकरण की विधियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि नारी-सम्मान हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से रहा है। यह एक भाव भी रहा है, शील भी और एक उत्कट आदर्श भी। वैदिककाल में यह भाव अपनी उल्लेखनीय उच्चता पर रहा। इस भाव में जो तनिक भी पिछड़ा पाया जाता उसे सुसंस्कृत मानने में एक स्वाभाविक संकोच रहा। यह कोई सौजन्य नहीं; अपितु एक अनिवार्य तत्त्व माना जाता था-किसी संस्कारित व्यक्ति, अथवा वर्ग के लिए। यह एक सामाजिक मर्यादा ही बन गयी थी। व्यष्टि और समष्टि—दोनों दिशाओं से नारी को अपेक्षित सम्मान मिलता था।

वैदिक युग में नारी देवी रूपा-शक्ति मानी जाती थी। यज्ञादि धर्म क्रियाओं और अनुष्ठानों में पुरुष के संग-संग नारी की सहभागिता सर्वथा अनिवार्य रहती

थी। नारी ने स्वयं अपने अनुरागपूर्ण मृदुल और मधुर प्रवृत्तियों से समाज की इस धारणा को पुष्ट और सशक्त किया कि वह मानवीयता की प्रतिमूर्ति है, वैभव और श्री समृद्धि की प्रतीक है,[१] शुभ और शिव का साक्षात् संदेश है। इस युग में नारी को पुरुष के अस्तित्व की परिपूर्णता के लिए अनिवार्य माना गया। नारीविहीन पुरुष अपूर्ण माना जाता था। सृष्टि को अपनी अनवरतता के लिए नारी ही वरदान स्वरूप मिली है। यह जगत् का प्रसार करती है, अपनी मातृत्व शक्ति से ही यह सृष्टि को अग्रसर करती है। ऐसा माना जाता था कि स्त्री, स्वदेह तथा संतति—इन तीनों का समन्वय ही पुरुष को परिपूर्णता प्रदान करता है। पतित्व का गौरव किसी पुरुष को अपनी पत्नी से प्राप्त संतति से ही मिलता है।

प्रत्येक युग में नारी को पुरुष की अर्द्धांगिनी स्वीकारा गया है और वस्तुस्थिति यह है कि यह मूल विचार वैदिक युग में ही अस्तित्व में आया। नारी को गृह-क्षेत्र की सर्वोच्च सत्ताधारिणी, स्वामिनी माना जाता था। ऋग्वेद में इसे (नववधू) घर की साम्राज्ञी की संज्ञा दी गयी है। पुरुष का हस्तक्षेप गृह-संचालन में नहीं रहता। परिवार के भरण-पोषण का दायित्व सुचारु रूप में निभाने के हेतु से तथा सेवा-परिचर्या करने के कारण ही नारी को 'भार्या' कहा गया।[२]

पूर्व विवेचनानुसार—नारी के गौरव और गरिमा में आगामी युगों में अधोगति के चिह्न भी मिलते अवश्य हैं, किन्तु वैदिक युग में उसका व्यक्तित्व सर्वोपरि रहा, उसकी महत्ता और वर्चस्व बढ़ा-चढ़ा रहा—इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता। सदादर्शों के उद्दीपन में और समाजोत्थान में नारी का जो योगदान रहता था; उससे उसकी गरिमा वृद्धि ही हुई। यह सत्य है कि ऋग्वेदानुसार पुरुष की सत्ता महती है; तथापि नारी का वर्चस्व भी नगण्य नहीं कहा जा सकता। वह अधिकार-सम्पन्ना है और अपने अधिकारों को व्यवहार में लाने में भी वह पीछे नहीं है। नारियाँ विद्वत्ता में भी पीछे न थीं। अपाला, घोषा, लोपा-मुद्रा आदि अनेक विदुषी महिलाएँ ख्यात-नाम थीं जिनके कंठों में ऋचाओं का निवास था। इला, माही, भारती आदि का तो ऋग्वेद में परम ज्ञानवती महिलाओं के रूप में उल्लेख भी किया गया है। पुरुष के आदिगुरु के रूप में नारी को ही सम्मान मिला है।

---

१. या बल बिन्दते जायां तावदर्द्धो भवेत् पुमान्।
नहि प्रजायते सर्व पुंजायेतेत्यपि श्रुतिः॥ —वेदव्यासस्मृति

२. (क) साम्राज्ञी श्वसुरे भवः साम्राज्ञी अधिदेवृषु। —ऋग्वेद १०/८५/४६
(ख) विभर्ति भयते वाऽसौ भार्या। —उत्तरा. चूर्णि, पृ. १२०

वेदों के पश्चात् स्मृतियाँ रची गयीं, किन्तु इन दोनों के मध्य उपनिषद्काल रहा है। उपनिषदों में नारी की स्वाधीनता का स्वर मिलता है। धर्म द्वारा प्रतिपादित नियमों से वह आबद्ध नहीं है। वह स्वचेतनाधीन रहती है और अपने उत्थान का मार्ग चयन करने में वह सर्वथा स्वतंत्र है। दाम्पत्य और पति का वर्चस्व भी उसके मार्ग में व्यवधान नहीं बनता। राजा जनक की राजसभा में युग के शिखरस्थ ज्ञानवान ऋषि याज्ञवल्क्य के साथ, विदुषी गार्गी का प्रखर शास्त्रार्थ एक अति महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। इससे संकेत मिलता है कि स्त्रियाँ जटिल दर्शनशास्त्र जैसे विषयों में भी कैसी अद्भुत गति रखती थीं। अनेक स्त्रियाँ उपनिषद्काल में परम मेधावी एवं चिन्तनशीला थीं। यही नहीं, ज्ञान-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा और सक्रिय चेष्टा भी उनमें रही है। महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं। संन्यास ग्रहण करते समय उन्होंने अपनी एक पत्नी मैत्रेयी से उसकी अभिलाषा जाननी चाही और प्रश्न किया कि "धन-वैभव में क्या लोगी तुम?" मैत्रेयी ज्ञानाभिलाषिणी थी। उसने कहा—"ये सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। यदि देना ही चाहते हो तो मुझे शाश्वत, अमर और अमिट वस्तु दो। 'अक्षर' ज्ञान-प्राप्ति की ही मेरी कामना है।" यह प्रसंग नारी की जिज्ञासु प्रवृत्ति के साथ-साथ एक और भी तथ्य को संकेतित करता है। उस युग में स्त्री तो एक ही पुरुष से विवाह करती थी, किन्तु पुरुषों को बहुविवाह का अधिकार था। जिस प्रकार पुरुष को अपनी पत्नी पर एकाधिकार रहता था, पूर्व युग में तो नारी का भी अपने पति पर पूर्ण एकाधिकार था। पत्नी अपने पति के हृदय का समग्र स्नेह प्राप्त करती थी। किन्तु इस उपनिषद्काल में पति का स्नेह अनेक पत्नियों के मध्य विभाजित होने लगा। सपत्नियों के साथ नारी को उसमें साझेदारी करनी पड़ती। उसके अन्यान्य अधिकार भी इसी प्रकार क्षीण होने लगे और योगरूप में उसके वर्चस्व में मंदी आने लगी। अब भी पुरुष ही दो पत्नियों का पति हो सकता था; नारी दो पतियों की पत्नी नहीं रह सकती थी।

यह प्रथा उत्तरोत्तर प्रबल होती गयी। रामायणकाल में पुरुष अनेक-अनेक विवाह करने लगा, जैसे राजा दशरथ चार रानियों के स्वामी थे। इस अधिकार-ह्रास की स्थिति में भी उपनिषद्काल की नारी का वर्चस्व परवर्तीकालीन नारी की अपेक्षा अधिक ऊर्जस्वित रहा, इसमें कोई सन्देह नहीं। हम पाते हैं कि उत्तर वैदिककाल में भी नारी-सम्मान और उसके प्रति उच्च भावना यत्किंचित् रूप में पूर्ववत् रही। शिक्षा-प्राप्ति की स्वाधीनता उसे प्राप्त रही और वह उसका भरपूर उपयोग करती एवं स्वयं को विदुषी रूप देने में सचेष्ट रहा करती। ब्रह्मवादिनी वर्ग की स्त्रियाँ तो आजीवन अपने शैक्षिक विकास में ही लगी रहती थीं। बाद

में चलकर ज्यों-ज्यों धर्म के क्षेत्र में आडम्बर बढ़ते गये-स्त्रियों को धार्मिक क्रियाओं से पृथक् रखने की प्रवृत्ति भी बढ़ती चली गयी। निम्नवर्गीय स्त्रियाँ वैदिक कर्मकांड की प्रतिभागिता से वंचित रहने लगीं।

नारी-सत्ता में संकोच स्पष्टत: दिखायी देता है—सूत्रों और स्मृतियों के काल में। अनेक प्रतिबन्धों और बाधाओं से वह घिर गयी। ईसा पूर्व दूसरी सदी का यह काल था, जब उसकी ऊर्जस्विता, तेजस्विता और मनस्विता के प्रखर भानु को ग्रहण लगने लगा और तेजोहतता आरम्भ हुई। जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसके अधिकार सीमित होने लगे। नारी के समग्र जीवन का नियन्ता पुरुष हो गया। कन्या अवस्था में वह पिता के, पत्नी रूप में वह पति के और माता रूप में वह पुत्र के आधिपत्य में रहने लगी। पवित्रता और सुरक्षा की दृष्टि से और नारी के संरक्षण के प्रयोजन से ही यह परिवर्तन अपेक्षित माना गया होगा। अब तो पति-सेवा में ही नारी-जीवन की सिद्धि मानी जाने लगी। अधिकारपूर्ण स्वतंत्र अस्तिव की नारी-छवि धुँधला गयी। अब नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी के स्थान पर उसकी छायामात्र रह गयी। उसकी स्वाधीनता के स्थान पर उसकी मर्यादा अधिक महत्त्व पाने लगी। इसी क्रम में जैन और बौद्ध परम्पराओं का विकास आ जाता है। बौद्ध परम्परा में तो नारी का धर्मक्षेत्र में प्रवेश निषिद्ध रहा, संघ-प्रवेश उनके लिए लगभग वर्जित-सा रहा। नारी की प्रतिभागिता से संघ की आयु में ही ह्रास की आशंका का अनुभव किया जाता था।

इसके विपरीत जैन परम्परा बड़ी उदार और विशाल हृदयता की परिचायक रही। भगवान महावीर स्वामी ने स्त्री और पुरुष में किसी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार्य नहीं माना। दोनों को साधना-उपासना का समान अधिकार प्राप्त था। नारी की गरिमा और अधिकार सत्ता में बढोत्तरी होने लगी। सामाजिक स्तर पर उसे पुन: प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी और उत्तर उपनिषद्काल में जहाँ नारी को पुरुष की छाया जैसा ही स्वरूप मिलने लगा था—वहाँ अब जैन परम्परा में उसे पुरुष की परम सहचरी होने का गौरव पुन: प्राप्त हुआ। पत्नी रूप में नारी ने पति-सेवा के अद्भुत उदाहरण भी प्रस्तुत किये। उसे पुन: देवी रूप प्राप्त होने लगा। राजीमती, चन्दना, मृगावती सुलसा, जयन्ती, सुजाता, अमरादेवी, रूपा, तुदयमदा आदि ऐसी ही लोकख्यात देवियाँ रही हैं। अब नारी-गरिमा के विकास के द्वार खुल गये थे। उसकी गणना १४ रत्नों में होने लगी। उसकी महत्ता इतनी बढ़ी कि बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार भी संकट की अवस्था में नारी को प्रथम संरक्षणीय माना गया। साधना, स्वाध्याय और आराधना के क्षेत्र में स्त्रियों ने उच्च

उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। अपना आध्यात्मिक उत्थान करते हुए स्त्रियों को तीर्थंकरत्व प्राप्ति का भी अबाध अवसर सुलभ था। भगवान मल्लिनाथ स्वामी का सहज ही उल्लेख इस संदर्भ में किया जा सकता है। आर्या चन्दना को भगवान महावीर स्वामी की प्रथम शिष्या होने का यश प्राप्त हुआ था, जिसके संरक्षण में अनेक साधिकाओं ने मोक्ष लाभ किया। अनेक स्त्रियाँ थीं जिन्होंने धर्म-प्रचार व धर्मोपदेशक की सार्थक भूमिकाओं का निर्वाह किया। विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में भी नारी ने अतुल कीर्ति प्राप्त की। कल्पसूत्र के अनुसार भगवान महावीर के संघ में १४,००० साधु थे, तो ३६,००० साध्वियाँ थीं। अर्थात् यदि ७ साधु थे तो १८ साध्वियाँ थीं। इससे पूर्व भगवान पार्श्वनाथ के संघ में १६,००० साधु और ३८,००० साध्वियाँ थीं। साधु और साध्वियों का अनुपात ८ : १९ का रहा। स्पष्ट है जैन परम्परा में धर्म के क्षेत्र में स्त्रियों की सक्रियता की न केवल स्वाधीनता रही, उस प्रतिभागिता को प्रोत्साहन भी मिलता रहा है और पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ आगे बढ़ी हुई हैं, कम से कम पीछे तो कही ही नहीं जा सकतीं।

निःसंदेह भगवान महावीर नारी के प्रति अधिक उदार और उसकी आन्तरिक क्षमताओं के प्रति अधिक विश्वस्त थे। उनके मन में नर-नारी के भेद की कोई लक्ष्मण रेखा नहीं थी। नारी को पुरुष के समान ही मुक्ति की अधिकारिणी मानकर उन्होंने नारी सत्ता को सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया।

जैन परम्परा में इस प्रकार नारी ने अपने अधिकारों और समानता का गौरव पुनः प्राप्त किया, उसका वर्चस्व प्रखर होने लगा, उसके आहत आत्म-विश्वास को भी सहारा मिलने लगा। अब वह क्रीत सेविका न होकर एक स्वतंत्र चेता, विवेकशील, जागृत और बुद्धिमती का रूप ग्रहण कर चुकी थी। अब वह दयनीय न होकर चारुता की प्रतिमूर्ति हो गयी। उसे धर्म और समाज की सार्थक इकाई का गौरव पुनः प्राप्त हो गया।

नारी की स्थिति और उसके स्वरूप की विकास-यात्रा की यह एक झलक मात्र है जो यह प्रकट करती है कि नारी को अपनी अजस्र गौरव यात्रा में किस प्रकार उतार-चढ़ाव देखने पड़े हैं। इससे आगे भी उसका यह क्रम निरन्तर बना रहा है। उसके व्यक्तित्व में अनेक अँधियारे-उजियारे पक्ष आते-जाते रहे हैं। सम्यक् अध्ययनार्थ, वैदिककाल से आरम्भ हुई नारी की स्वरूपगत विकास-यात्रा का विवेचन क्रमिक रूप में और सविस्तार प्रस्तुत करना ही हमारा मूल प्रतिपाद्य है।

●●

वैदिककाल में नारी

वर्तमान में नारी और पुरुष दो वर्गों में विभक्त कर मानव-जाति को देखने का जो अभ्यास-सा हो गया है—यह परम्परागत अवश्य है; किन्तु यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन भी नहीं है। इसी के वशीभूत हम एक वर्ग की अन्य से तुलना भी करते हैं, एक को दूसरे से उत्तम मानने अथवा न मानने का एक क्रम भी बना लेते हैं। इस भेद-स्थिति के चलते नारी अपनी पुरुषों के साथ समस्तरीयता अथवा समकक्षता का दावा भी करती है। कुछ मनस्वीजन, नारी वर्ग की स्थिति का मूल्यांकन कर उसे दयनीय मानते हैं। राजसत्ता उसके लिए आरक्षण की व्यवस्थाएँ करती है। नारी-जीवन के उत्थान के लिए अतिरिक्त प्रयास शासन और सामाजिक संगठनों द्वारा किये जा रहे हैं। स्वयं अनेक नारी-संगठन इस दिशा में सक्रिय हैं। नारी को सामान्यत: अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई, अशिक्षित और अज्ञ मानकर उसमें चेतना लाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। उसे उसके अधिकारों का बोध कराया जा रहा है। इससे यह आशय अवश्य ग्रहण किया जा सकता है कि नारी किंचित् हीनावस्था में है। वह अबला चाहे न हो, किन्तु अबोध अवश्य है। उसे अपने गौरव और गरिमा का भान स्वयं ही नहीं है। यह यथार्थ हमारे देश में विद्यमान अवश्य है, किन्तु इसकी जड़ें गहरी नहीं हैं, कम से कम सुदूर अतीत तक उनकी व्याप्ति तो मानी ही नहीं जा सकती है। हम प्राचीनकाल में देखते हैं कि नारी-पुरुष जैसा कोई भेद समाज में न था। इन वर्गों की परस्पर तुलना किये जाने की कोई स्थिति नहीं रहती थी। एक को दूसरे से श्रेष्ठ घोषित करने की न प्रवृत्ति थी और न ही उसकी कोई अपेक्षा थी। दोनों वर्ग समकक्ष थे; वरन् नारी पुरुष से कतिपय संदर्भों में कुछ आगे ही मानी जाती रही। आश्चर्य है कि ऐसी श्रेष्ठ नारी अपनी गुणवत्ता और उच्चस्तरीयता को विस्मृत कर आज पुरुषों के संग अपनी समकक्षता की सिद्धि के लिए लालायित है। वह तो पुरुषों को मानवीय गुणों—दया, क्षमाशीलता, स्नेह, करुणा, विनय, सर्वजनहितायता, कोमल व्यवहार आदि की शिक्षा और प्रेरणा अपना आदर्श प्रस्तुत करते हुए बड़े ही प्रभावशाली ढंग से देती है। वह पुरुषों के लिए प्रथम गुरु का स्थान रखती

है। वेदकाल में नारी बड़ी उन्नत और उत्तम स्थिति में रही है। सम्मान, समकक्षता, अधिकारवत्ता और गौरव-गरिमा की दृष्टि से नारी के लिए यह काल स्वर्णिम युग था। नारी देवी-तुल्य मानी जाती थी। स्वयं उसे भी अपनी अवमानना की शिकायत नहीं थी।

भारतीय समाज की यह प्रमुख सांस्कृतिक विशेषता रही है कि नारी के प्रति विशिष्ट सम्मान का भाव रखा जाय। वेदों के काल में यह भाव अपने चरम पर मिलता है। यह सम्मान हमारे समाज में समष्टि रूप में भी था और व्यक्ति-व्यक्ति के मन में व्यष्टि रूप में भी था। नारी-सम्मान की प्रवृत्ति व्यक्ति के सुसंस्कारित होने की प्रतीक मानी जाती थी। इस युग में राजकाज संचालन और सामाजिक सम्मान की दृष्टि से सोलह प्रकार के व्यक्तियों को रत्न माना जाता था। नृपति की राजसभा में अनेक रत्न शोभित होते थे। जैसे—राजपुरोहित, पराक्रमी योद्धा, मेधावी अमात्य, विद्याधारी पंडित आदि। इनमें राजरानी को भी रत्नों में एक प्रमुख स्थान प्राप्त होता था। ''महिषीरत्न'' या स्त्री रत्न (इत्थी रयण) राजा को शासन कार्य में महत्त्वपूर्ण सहयोग देती थी। यह नारी की राजनैतिक और सामाजिक सम्मानपूर्ण मान्यता का एक सुदृढ़ प्रमाण कहा जा सकता है। रानियाँ राजसिंहासन पर अपने पति-राजा के साथ आसीन होती थीं। वे राजा के साथ समर भूमि में भी सहगामिनी रहा करती थीं। शौर्य और पराक्रम में भी वे अग्रणी थीं और साहस की तो वे प्रतिमूर्ति ही हुआ करती थीं। अनेक रण-प्रसंग मिलते हैं जिनमें पत्नियाँ युद्धरत पतियों के रथ की सारथी (चालक) रही हैं। वे सक्रियतापूर्वक युद्ध में भाग भी लेती हैं। विश्चला का उदाहरण ऐसा ही मिलता है। एक प्रतिघात में उसका पैर टूट गया था और अश्विनीकुमारों ने उसकी चिकित्सा की थी। कहा जाता है कि वृत्रासुर की जननी हनु भी पुत्र के साथ-साथ युद्धभूमि में गयी थी और इन्द्र ने उसका वध कर दिया था। नमुचि ने तो महिलाओं का एक पूरा सैन्य ही संगठित कर लिया था। नारियाँ वीरांगनाएँ हुआ करती थीं।

शौर्य और पराक्रम के क्षेत्र में ही नहीं; मानसिक उत्थान के क्षेत्र में भी नारियों को उल्लेखनीय उपलब्धियाँ प्राप्त थीं। शिक्षा-प्राप्ति में वे सदा सचेष्ट रहा करती थीं। अनेक विदुषियों की चर्चाएँ हमारे वाङ्मय में सुलभ होती हैं। गार्गेयी, मैत्रेयी आदि तो शास्त्रज्ञाता में पुरुष विद्वानों की अपेक्षा भी कुछ आगे सिद्ध हुईं। स्त्रियाँ शिक्षा की सभी विधाओं में रुचि लेती थीं। काव्य, संगीत, नृत्य, अभिनय आदि विषयों का भी वे चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त करतीं और इनके व्यावहारिक

प्रयोग में भी पारंगत रहती थीं। शिक्षा-प्राप्ति और विद्या-ग्रहण की दृष्टि से—"**द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवाहश्च**"; अर्थात् स्त्रियों की दो कोटियाँ थीं—(क) ब्रह्मवादिनी, और (ख) सद्योवाह। सभी कन्याएँ ब्रह्मचारिणी रूप में रहकर विद्याध्ययन करती थीं। इनमें से कुछ अपना पर्याप्त अध्ययन क्रम पूर्ण कर विवाह कर लेतीं और गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर लेती थीं। ये स्त्रियाँ 'सद्योवाह' कहलाती थीं। इसके विपरीत अन्य स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम स्वीकार नहीं करतीं और आजीवन विद्याध्ययन की साधना निरन्तरित रखती थीं। ये स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। इस वर्ग की महिलाएँ जीवनभर ब्रह्मचारिणी रहती थीं। ऐसी स्त्रियाँ—"**तत्र ब्रह्मवादिनीनामग्नीन्धनं वेदाध्ययन स्वगृहे च भैक्षचर्येति**"; अर्थात् यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने, वेदों का अध्ययन करने तथा अपने घर में भिक्षा माँगने की अधिकारिणी हुआ करती थीं। ऐसी अनेक ब्रह्मवादिनी स्त्रियों ने पुरुष विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर अपना वर्चस्व स्थापित किया। ब्रह्मवादिनी अनेक स्त्रियों ने त्याग-तपस्या के भी अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किये। अपनी ऐसी उपलब्धियों के आधार पर कतिपय नारियों को ऋषिभाव की प्राप्ति भी हुई। अनेक ने मंत्रों का साक्षात्कार भी कर लिया। ऋग्वेद के अनेक सूक्त ऐसी महिलाओं के योगदान के परिणाम हैं। घोषा, रोमशा, विश्वारा, प्रलोभतनयाशची, अपाला आदि ऋषिपद प्राप्त ऐसी ही महान् नारियाँ रही हैं, जिन्हें इस प्रकार की गौरवपूर्ण कीर्ति प्राप्त हुई। लोपामुद्रा ने भी अपने पति अगस्त्य ऋषि के साथ सूक्तों का साक्षात्कार किया था।

परिवार व्यवस्था और नारी का स्थान

भारत आज भी ग्रामों का देश है और कृषि यहाँ के अर्थतंत्र ही नहीं; संस्कृति की भी मूलाधार है। वेदकाल में भी यह देश ग्रामों में ही बसता था। जैसे एक-एक ईंट जुड़कर प्रसाद निर्मित हो जाता है, वैसे ही एक-एक परिवार के योग से ग्राम की संरचना होती थी। परिवार इस प्रकार ग्राम-गठन की सार्थक इकाई हुआ करता था। परिवार भी स्वतः ही एक संगठित इकाई के रूप में सर्वथा व्यवस्थित और सुसंचालित लघु समाज जैसा था। परिवारों के इस स्वरूप के कारण ही सारा समाज और देश व्यवस्थित, सुसंगठित और सुसंचालित था। परिवार में जो आदरपूर्ण स्थान नारी को प्राप्त था-उसी की छाया रूप में हमें तत्कालीन सामाजिक नारी-सम्मान की उत्कटता दिखायी देती है। यद्यपि वेदों के काल में पुरुष सत्तात्मक परिवार थे—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; तथापि स्त्री की गौरव-गरिमा को भी घटाकर आँकना तथ्यों से परे, भ्रान्त जगत्

में विचरण करने के समान ही होगा। स्त्री-सम्मान, स्त्री-सत्ता, स्त्री-स्वातंत्र्य, स्त्री-वर्चस्व और स्त्री-गौरव सभी कुछ तत्कालीन समाज में विद्यमान था और उसकी मूल, परिवार में नारी की महिमापूर्ण स्थिति ही थी।

परिवार का वरिष्ठ पुरुष ही मुखिया अथवा गृहपति कहलाता था—वह चाहे ज्येष्ठ भ्राता, पिता अथवा पितामह हो। समाज के सन्दर्भ में अर्थात् बाह्य व्यवहार में वह परिवार का नेतृपुरुष माना जाता था, वही समाज में परिवार का प्रतिनिधित्व करता था और उसे ही परिवार के नियन्ता के रूप में सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी। इस यथार्थ के साथ-साथ इस तथ्य को भी स्वीकारना होगा कि नारी ही घर की रानी थी। समस्त गृहनीतियाँ वही निश्चित करती थीं। स्त्री ही घर की संचालिका थी। परिवार के भरण-पोषण की सुख-सुविधा की, सौमनस्यपूर्ण पारस्परिक व्यवहार की, सांस्कृतिक वैभव की वही नियामक थी, विधायक और संचालक थी। यह गौरव उसे पतिगृह में प्रवेश के प्रथम दिवस से ही प्राप्त हो जाता था। नवपरिणीता वधू को गृह की 'साम्राज्ञी' की संज्ञा प्राप्त होती थी। आज पत्नी को पति की अपेक्षा कुछ हीन मानकर सोचा-समझा जाता है—ऐसा वेदकाल में नहीं रहा। आर्यजनों की विशेषता ही यही रही है कि वे नारी का सम्मान पूजा-भावना की सीमा तक करते थे। नारी को वे अपनी अपेक्षा निम्न और हेय नहीं मानते थे। नारी तो पुरुष का आधा भाग (अर्द्धांग) मानी जाती थी। नर-नारी एक पूर्ण इकाई और नारी के अभाव में नर की अपूर्ण स्थिति मानी जाती थी। 'पत्नी' शब्द की व्युत्पत्ति सम्बन्धी व्याख्या से भी इसका अनुमोदन हो जाता है। यज्ञ प्रसंगों में वह यजमान (पुरुष) की सहधर्मिणी हुआ करती थी और उसकी अनुपस्थिति में एकाकी पुरुष आहूति का अधिकारी मान्य नहीं हुआ करता था। आलोच्य युग में यह सार्वदेशिक महत्त्व की भावना बन चुकी थी कि पत्नी पुरुष का (पति का) आधा भाग है और जाया ही घर है। इससे तत्कालीन नारी के प्रतिष्ठापूर्ण स्थान का सहज ही आभास हो जाता है।

परिवार में नारी का सम्माननीय स्थान तीन रूपों में रहा करता था—(क) दुहिता, (ख) पत्नी, और (ग) माता।

एक व्याख्या के अनुसार परिवार में गो-दोहन (गाय दुहने) का कार्य परिवार की पुत्रियों के पास रहा करता था; अतः उन्हें दुहिता कहा जाता था। उस युग में गो पूज्या मानी जाती थी और दोहन परिवार का एक अत्यावश्यक और महत्त्वपूर्ण कार्य था, अतः दुहिता जनक-जननी की लाड़ली हो जाया करती थीं। उन्हें अमित स्नेह प्राप्त होता था। यास्क द्वारा की गयी 'दुहिता' शब्द की व्युत्पत्ति

इसी प्रकार की है—'**दोग्धेर्वा**'—दुहने के कारण वह दुहिता है। एक व्याख्याकार ने इसी की एक अन्य विपरीत व्याख्या भी की है—

''सा हि नित्यमेव पितः सकाशात् दोग्धि, प्रार्थना पश्चात्''

अर्थात् वह पिता से धन दुहती रहती है, अतः वह दुहिता है। विवाह के समय दिये जाने वाले धन की चिन्ता में कन्या का पिता दुःखी रहता है। पुत्री पिता के लिए इस कारण दुःख की कारण रहती है। किन्तु पिता की एक दुश्चिन्ता यह भी रहती है कि उसकी प्रिय पुत्री विवाहोपरान्त हम परिजनों से दूर पतिगृह में चली जायेगी। इस वियोग की कल्पना ही पिता के लिए दुःखद बनी रहती है। वस्तुतः 'दुहिता' की व्याख्या शुभाशुभ अनेक स्वरूपों में की गयी है। यह भी कहा गया है—'**दूरे हिता दुहिता**'; अर्थात् उसके दूर रहने में ही पिता का हित है। यह भी कहा गया कि—''**दूरे सति सति सा पितुः हिता पथ्यं भवति इति दुहिता इत्युच्यते।**'' तो यह कथन भी मिलता है—''**सा हि यत्रैवदीयते, तत्रैव दुर्हिता भवति**''; अर्थात् वह जहाँ-जहाँ भी जाती है, वहाँ उसका स्वागत नहीं होता। ऐतरेय ब्राह्मण में भी दुहिता को दुःख की खान कहा गया है, किन्तु ये धारणाएँ अर्द्ध-सत्य का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। वस्तुतः तो कन्या के पितृगृह-त्याग का प्रसंग ही परिजनों के लिए परिणयपूर्व भी और उसके पश्चात् भी दुःख का कारण रहता है। यह भी सत्य है कि वेदकाल में पुत्र-प्राप्ति की ही कामना की जाती थी। विवाह का उद्देश्य माना गया—''**पुंसै पुत्राय बेतवै।**'' इससे यह आभास हो सकता है कि उस युग में कन्या को उत्पीड़क और दुःखद माना जाता था, किन्तु इसे सर्वथा सत्य रूप में स्वीकार करना अनुपयुक्त रहेगा। वास्तव में पुत्र-प्राप्ति की कामना इस हेतु से की जाती थी कि उस संघर्षपूर्ण काल में परिवार की सुरक्षा के लिए वीर पुरुषों का आधिक्य रहे। अन्यथा यह कामना कन्या-विरोधी कदापि नहीं रही। चाहे पुत्री की कामना नहीं की जाती हो, किन्तु पुत्र-प्राप्ति के समान ही कन्या-जन्म को भी मांगलिक माना जाता था, वैसा ही उत्साह और मोद का भाव रहता और पुत्र एवं पुत्री को समान स्नेहपूर्ण लालन-पालन मिलता था। कन्याओं के विषय में उक्त कतिपय विरोधी टिप्पणियों के आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों का यह निष्कर्ष कि वैदिककाल में कन्यावध हुआ करता था—सर्वथा मिथ्या और भ्रामक है। इससे अधिक काला असत्य और कुछ हो ही नहीं सकता। हरिदत्त वेदालंकार हमारे यहाँ एक प्रसिद्ध समाज-विचारक हुए हैं। उन्होंने हिन्दू-परिवार मीमांसा में इन निष्कर्षों का सशक्त खंडन भी किया है।

कन्या सभी परिजनों के लिए प्रिय रही, सभी का स्नेह उसे प्राप्त होता रहा। पुरुषों के लिए वह भला अप्रिय क्यों होती। वही विकास पाकर जाया और जननी होगी, उससे पुनः पुरुष की अवतारणा होगी—**'तज्जाया जाया भवति यादस्यां जायते पुनः।'**

माता का परिवार में सर्वाधिक सम्माननीय स्थान स्वीकृत था। 'मातृ' शब्द की व्युत्पत्ति से ही यह सिद्ध हो जाता है—**मान + तृ (= मातृ)**; अर्थात् आदरणीया। इस आदर भाव के पीछे भी सुदृढ़ आधार है। माता जननी है, निर्मात्री है। सन्तति के प्रति निश्छल स्नेह उसकी पावनता का प्रतीक है। उससे सारा जगत् सेवा, त्याग और स्नेह की प्रेरणा लेता है। ऋग्वेद में भी चर्चा आयी है कि किसी के लिए माता सर्वाधिक प्रिय और घनिष्ठ सम्बन्धी होती है। इसी के साथ यह भी कहा गया है कि मनुष्य परमात्मा को पिता के स्थान पर माता मानकर अधिक तुष्ट और प्रमुदित होता है। देश को भी माता की संज्ञा देकर व्यक्ति उसके प्रति अधिक समर्पित हो सका है। आज भी 'भारत माता' के गौरव की रक्षा करना देशभक्तों का परम कर्त्तव्य रहता है। पिता की अपेक्षा भी माता अग्रगण्य मानी जाती है। 'माता-पिता' कहा जाय—इसी प्रभाव से प्रचलित है; 'पिता-माता' नहीं। इसी प्रकार **''मातृदेवोभव, पितृदेवोभव''** कहा गया है। ऋग्वेद में माता को गुरु रूप में भी मान्यता दी गयी है। अथर्ववेद में निर्देश दिया गया है कि माता के अनुकूल मन वाले बनो—**मात्र भवतु सम्मनाः**। उपनयन संस्कार के समय भी ब्रह्मचारी सबसे पहले अपनी माता से भिक्षा माँगे—इसका मान्य विधान है। कन्या के विवाह भी माता की अनुमति के साथ ही निश्चित और सम्पन्न हुआ करते थे।

नारी का गृहस्थ रूप और भी अधिक गरिमापूर्ण है। पत्नी तो घर की ही पर्याय हो चुकी थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि पत्नी घर पर रानी बनकर रहे। आर्यों के गृहस्थधर्म का अर्थ ही यह था कि वे पत्नियों के साथ धर्माचरण और यज्ञादि करें। इस प्रकार गृह और गृहस्थधर्म का मूल आधार नारी थी। पति-पत्नी तो मिलकर यज्ञ करते ही थे, स्त्रियों को पृथक् से यज्ञादि का अधिकार था—**''योषितो यज्ञया इमाः।''** उल्लेख मिलता है कि शस्य-वृद्धि के लिए सीता स्वतंत्र रूप से यज्ञ किया करती थी। पति और पत्नी दोनों ही संयुक्त रूप से यजमान होते थे, किन्तु इसके लिए पत्नी का पावन और वैध रूप अनिवार्य था। यही कारण है कि कालान्तर में पत्नी के इस अधिकार पर कुछ प्रतिबन्ध आते गये। उपनयन संस्कार के अभाव में वे इस अधिकार से वंचित रह जाती थीं। आज के सन्दर्भ में स्त्रियों को उपनयन संस्कार असामान्य-सा लगता है,

किन्तु वेदकाल में स्त्रियाँ यज्ञोपवीत धारण करती थीं। यह तो, परवर्ती स्मृतिकाल में इसका प्रचलन समाप्त हो गया था। अन्तर्जातीय विवाह की स्थिति में भी पत्नी का पति के साथ संयुक्त यजमान होना सम्भव नहीं होता था। यज्ञ के समय श्रीराम को भी सीता की स्वर्ण-प्रतिमा को अपने वाम पक्ष में स्थापित करना पड़ा था। इसी अनिवार्यतावश महर्षि याज्ञवल्क्य ने यह विधान किया कि यदि एक पत्नी का देहान्त हो जाय तो पति यज्ञ कार्य के लिए तुरन्त विवाह करे। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

दाहित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृतवतीं पतिः।
आहरेद्विधिवदारानग्नींश्चैवाविलम्बनय॥

इस प्रकार क्रमशः उनका यह अधिकार उत्तरोत्तर क्षीण होता गया, किन्तु वेदकाल में उनको इस अधिकार-सम्पन्नता से उनके प्रतिष्ठापूर्ण स्थान प्रमाणित होता है।

इस युग में पशुपालन की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति थी। अतः पशुओं की रक्षा और पालन करने वाली होने के कारण स्त्रियों की विशेष महत्ता थी। पशुओं को धन माना जाता था और पशुओं की वृद्धि को ही समृद्धि। इस प्रकार सुरक्षा का प्रश्न भी बड़ा प्रबल था। अतः वीर-माता बहुत समादृत समझी जाती थी। पुरुष ऐसी गुणवती पत्नी प्राप्त करने की प्रार्थना देवताओं से करते थे। समाज में सम्मान के साथ-साथ इनके प्रति दुलार का भाव व्याप्त था। इनके जीवन और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए पुरुष प्राणोत्सर्ग तक को तत्पर रहते थे। गृहपति के नाते पति का नियमन पत्नी पर भी स्वाभाविक रूप से रहता अवश्य था, किन्तु गृह संचालन में वह पति के हस्तक्षेप से मुक्त रहा करती थी। गृहिणी पति की प्रिया होने के कारण 'जाया', संतति की माता होने से 'जनी' और पति की सहधर्मिणी होने से 'पत्नी' की संज्ञा से शोभित होती थी।

पत्नी के कर्त्तव्य

प्रत्येक पत्नी सच्चे अर्थों में नारी है। विवाहोपरान्त ही वह किसी नर की पत्नी होती है और नर से सम्बद्ध होकर ही वह नारी कहलाने की अधिकारिणी बनती है। नारी के वर्ग में इसी कारण सधवा स्त्रियों को प्रथम स्थान प्राप्त है। नारी रूप में ही वह सौभाग्यवती होती है। ऋग्वेदानुसार सौभाग्य का अर्थ है—पति का नीरोग जीवन। सौभाग्यवती नारी पति के प्रति मंगलकामी रहती है। उसकी दो कामनाएँ होती हैं—

(१) **'आयुष्मानस्तु पति'**—मेरा पति पूर्ण आयुष्य प्राप्त करे, दीर्घजीवी हो।

(२) **'एधन्तां ज्ञातयो मम'**—मेरी जाति की आभिवृद्धि हो।

इन आदर्शों में नारी के अनेक कर्त्तव्य-समुच्चय गर्भित हैं। ऋग्वेद में यह भी व्यक्त किया गया है कि पत्नी को उद्धत नहीं होना चाहिए, न ही उसे दुराग्रही होना चाहिए। उसे हर निर्णय और उसकी क्रियान्विति बहुत सोच-समझकर करनी चाहिए। विचारशीलता ही नारी को उसकी सधीरता की और गम्भीरता की पहचान दिलाती है। वेदों में पत्नी के लिए कहा गया है कि उसे पतिपरायणा और पतिव्रता होना चाहिए। विवाहित नारी की यह कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता, सर्वप्रमुख चारित्रिक गुण माना गया है कि वह पति के प्रति एकनिष्ठता का भाव अचल रूप में रखे। इसी में उसकी सर्वोच्च कोटि की नैतिकता निहित है। इस रूप में नैतिक शैथिल्य पत्नी के लिए निन्दा का विषय माना गया और कहा गया है कि पुंश्चली (व्यभिचारिणी स्त्री) पाप की भागी होती है। पतिपरायणा होने के साथ-साथ पत्नी का आदर्श यह भी था कि वह सास-ससुर की सेवा करे, घर समाज की पुष्टि भी करे। उसे कोमल व्यवहारी होना चाहिए, उसकी दृष्टि में भी क्रोध-आक्रोष न झलके और प्राणिमात्र के लिए उसमें हितैषिता का भाव रहना चाहिए।

आज के सन्दर्भ में जनसंख्या का आधिक्य जीवन के अनेक क्षेत्रों में समस्याओं का कारण बना हुआ है। अधिक संतति पारिवारिक जीवन को भी दुःखमय बना देता है। 'कम सन्तान-सुखी इन्सान' का आदर्श अनुकरणीय माना जाने लगा है। वेदकाल में भी यह एक स्थापित आदर्श था। ऋग्वेद में उल्लेख है-अधिक सन्तान होने से जीवन कष्टमय हो जाता है। वैदिककाल में सामान्यतः दस सन्तति का आधान मिलता है—यह भी कदाचित् सुरक्षा के कारणों से रहा होगा। यह भी स्थिति थी कि संसाधनों के प्राचुर्य के कारण इस सीमा तक कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती थी। भाग्यशालिनी वह स्त्री मानी जाती थी जिसके शरीर में, अनेक सन्ततियों को जन्म देने पर भी कोई विकार न आए। पुत्र और पुत्री समान समझे जाते थे; तथापि 'पुत्रसंतति से स्त्री की प्रशंसा है''—ऐसा उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। इसके पीछे भी सुरक्षा-क्षमता के विकास की आवश्यकता का कारण ही प्रमुख रहा होगा।

वैवाहिक विधान और नारी

वेदों के काल में भी विवाह-संस्था का अस्तित्व था और बड़े व्यवस्थित रूप में था। विवाह विधा का स्वरूप भी ऐसा था, जिससे नारी की गरिमा ही नहीं,

उसके वर्चस्व में भी अभिवृद्धि होती थी, उसकी अस्मिता का भी विकास होता था। इसे आठ संस्कारों में प्रमुख स्थान प्राप्त था और यह सम्बन्ध मात्र शारीरिक न होकर आध्यात्मिक भी था, अत: इसे पुण्य संस्कार की कोटि में रखा गया था।

ऋग्वेद में बाल-विवाह के प्रचलन के साक्ष्य नहीं मिलते। युवावस्था प्राप्त हो जाने पर ही वैवाहिक जीवन में प्रवेश होता था। वेदों में उल्लेख है कि कन्या के '**पत्येशंसन्ती**' हो जाने पर ही उसे विवाह-योग्य अवस्था में माना जाय। यहाँ पत्येशंसन्ती का भाव पति की कामना करने वाली; अर्थात् पर्याप्त यौवन प्राप्त से ही है। पतिगृह में प्रवेश करने पर नववधू को यह आशीर्वाद प्राप्त होता था कि वह सास आदि सभी की साम्राज्ञी बने। इससे भी उसकी परिपक्वावस्था की ही पुष्टि होती है। अल्पायु वधू को ऐसा आशीर्वाद दिया जाना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।

ऋग्वेदकाल में सामान्यत: एकल विवाह का ही विधान था; बहुविवाह का प्रचलन नहीं था; अथवा नगण्य-सा था। बहुविवाह की स्थिति में भी प्रथम पत्नी को ही आधिकारिक स्थान प्राप्त होता था। यही कारण है कि यह प्रथा अधिक प्रचलन नहीं पा सकी। यज्ञादि के प्रसंगों में सदा ही 'पत्नी' शब्द का प्रयोग एकवचन रूप में हुआ है। इससे भी एक (प्रथम) पत्नी की मान्यता और एकल विवाह की पुष्टि होती है। विवाह के तीन प्रकार थे। एक तो राक्षस या क्षत्रिय विवाह—जो वर द्वारा अपहृत कन्या के साथ होता था। इसमें शक्ति और पराक्रम का आधार रहता था, कन्या की सहमति भी संदिग्ध रहा करती थी। दूसरा, स्वयंवर विवाह में कन्या स्वयं अपने लिए वर का चयन कर सके, इसकी सुविधा निहित रहती थी। यह भी गौरवपूर्ण विवाह संस्कार था। और तीसरा प्रकार था—प्राजापत्य या ब्रह्म विवाह; जिसमें दाम्पत्य जीवन की पावनता का स्पर्श भी था, इसके शास्त्रीय विधि-विधान भी थे और यह आध्यात्मिक सम्बन्धों पर आधारित था। यही पुण्य विवाह माना जाता था। पर्याप्त वयस्क हो जाने पर ही युवाओं को गृहस्थ जीवन में प्रवेश मिलता था—यह एक सुस्थापित तथ्य और सत्य है। अत: यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि ये पर्याप्तत: विवेकवान हो जाते थे; तथापि विवाह के लिए पिता की आज्ञा अनिवार्य मानी जाती थी। कन्या के विवाह में माता की अनुमति भी अपेक्षित रहा करती थी। प्रशंसनीय यह है कि वर-वधू भी इसे सहर्ष स्वीकार करते थे और अपने लिए श्रेयस्कर मानते थे। कन्या के लिए उपयुक्त और श्रेष्ठ वर निश्चित करने में माता-पिता को भी सुख और संतोष मिलता था। पिता के अनिवार्य कर्त्तव्यों

में एक प्रमुख कर्त्तव्य यह था कि वह अपनी पुत्री का विवाह सुचारु रूप में सम्पन्न कराए।

विधवा विवाह अनेक सामाजिक समस्याओं के निदान रूप में चाहे आज कतिपय विचारकों द्वारा स्वीकार किया जाने लगा हो, किन्तु इसे अनुमोदित करने के पक्ष में समाज अपना मानस बना नहीं पाया है। वेदकाल में भी हमें उल्लेख मिलते नहीं हैं, या ये अत्यल्प रहे और उन्हें शुभ नहीं माना गया। उनको प्रतिष्ठित स्थान समाज में प्राप्त नहीं हुआ। सती-प्रथा का भी सामान्य प्रचलन नहीं था; किन्तु इसके पीछे स्वेच्छा का आधार था। पति के निधन पर पत्नी यदि चाहे तो सती हो सकती थी। इतना अवश्य रहा कि इस विकल्प का चयन करने वाली स्त्री के प्रति अमित सम्मान का भाव समाज में जागृत हो जाया करता था। कभी हमारे समाज में पर्दा-प्रथा भी रही और बड़ी दृढ़ता के साथ रही, किन्तु अब इसमें तीव्रता के साथ शैथिल्य आता जा रहा है। वेदों के काल में पर्दा-प्रथा रंचमात्र भी नहीं रही। महिलाएँ निस्संकोच समाज-विहार करती थीं, सामाजिक गतिविधियों में प्रतिभागिता का भलीभाँति निर्वाह करती थीं। अपने गृह में तो स्त्रियाँ सर्वथा उन्मुक्त भाव से रहा करती थीं, कोई प्रतिबंध; किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं करता था। जब महिलाएँ घर से बाहर निकलतीं तो उपरि-परिधान का प्रयोग अवश्य करती थीं, चादर जैसे अतिरिक्त वस्त्र से अपना तन आवृत कर लिया करती थीं। यह सभ्यतापूर्ण व्यवहार का भाग बन गया था। नारी सुलभ सहज व्रीड़ा की उपस्थिति भी इस व्यवहार में झलकती है। लज्जा नारी का शृंगार माना जाता था।

इस सलज्जता को नारी की एक अनिवार्य मर्यादा के रूप में समाज भी मानता था और स्वयं नारी वर्ग भी। वेदों में नारी का बड़ा कोमल-कमनीय स्वरूप उभरता है। तत्कालीन स्त्रियाँ सौन्दर्यप्रिय, शृंगारप्रिय रहीं, साथ ही अदब-आदब में वे बहुत आगे रहीं। जहाँ सलज्जता उनके शोभन, अलंकार होकर उनके सौन्दर्य को सच्चा रूप देते और बढ़ाते थे, वहीं प्रासंगिक मर्यादाओं से उनकी गरिमा बढ़ी हुई रहती थी। ऋग्वेद में निर्दिष्ट किया गया है कि स्त्री को इस प्रकार रहना चाहिए कि पर-पुरुष उसके रूप को देखते हुए भी नहीं देख सके, उसकी वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुन सके। पुरुषों की सभा में बैठना, पुरुषों के सम्मुख भोजन करना शास्त्रों में वर्जित माना गया था। वेद का आदेश है—

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादको हर।
मा ते कश प्लकौ दृशन्त्स्मी हि ब्रह्मा बभूविथ॥

अर्थात् "हे साध्वी नारी, तुम नीचे को देखा करो, ऊपर न देखो। पैरों को परस्पर मिलाकर रखो। वस्त्र इस प्रकार पहनो कि तुम्हारे ओष्ठ तथा कटि के नीचे के भाग पर किसी की दृष्टि न पड़े।" यह लज्जावनतता सतीत्व धारण में पत्नियों के लिए सहायक और प्रेरक मानी गयी।

स्त्रियों की आभूषणप्रियता प्राय: प्रतियुग में उनकी सहज वृत्ति मानी गयी है। वेदों में भी इस वृत्ति को मान्य समझा गया है और कहा गया है कि "स्त्रियों को मस्तक पर आभूषण धारण करना चाहिए, उसे शयन विदग्धा होना चाहिए, उन्हें सदा नीरोग अंजन एवं स्निग्ध पदार्थों से भूषित रहना चाहिए। उसे बहुमूल्य धातु रत्नों से अलंकृत सुवस्त्रा, निरश्रु, सुरूपा, हँसमुख, कर्त्तव्यनिष्ठ और पतिप्रिया होना चाहिए।" वलय (कंगन), माला, हार आदि आभूषण उस काल में भी प्रयुक्त होते थे। सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्रों का उपयोग किया जाता था जो सुन्दर, रंग-बिरंगे, बेल-बूटों से अलंकृत होते थे। वस्त्र बुनना और उन्हें अलंकृत करना—स्त्रियाँ इन कामों में भी रुचि लिया करती थीं। स्त्रियाँ रोजमर्रा की जिंदगी में श्वेत वस्त्र ही धारण करती थीं उत्सवादि अवसरों पर ही रंगीन परिधान प्रयुक्त होते थे।

नारी—श्रेष्ठत्व में ह्रास का क्रम

नारी गौरव-गरिमा की सर्वोच्चता का युग वेदों का काल रहा है। इस दृष्टि से यह स्वर्ण युग कहा जा सकता है। सत्य यह भी है कि इसके अनन्तर इस श्रेष्ठत्व में न्यूनता का प्रवेश होने लगा। ऋग्वेद नारी के जिस श्रेष्ठत्व का साक्ष्य है, उसके कुछ ही कालान्तर का अथर्ववेद उसे कुछ निम्न करके ही प्रस्तुत करता है। अथर्ववेद के अनन्तर भी ह्रास का यह क्रम जारी मिलता है। ऋग्वेदकाल के उत्तर चरण में ही यह हीनत्व कदाचित् दृष्टिगत होने लगा था। पत्नी का गौरव ऋग्वेद में अपनी उच्चता के साथ चित्रित है; तथापि नारियों के प्रति हीन विचार भी विद्यमान मिलते हैं। एक स्थल पर इन्द्र का मत व्यक्त हुआ कि स्त्रियाँ अपने मन पर वश नहीं रख सकतीं, तो एक अन्य स्थल पर उर्वशी की मान्यता आयी है कि स्त्रियों का चरित्र भेड़ियों के सदृश है कि वे विश्वास स्थापित कर घात कर देती हैं। उसका कथन है—

पुरुरवो मा गृधः।
न वे स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति।
सालावृकानां हृदयान्येतः।

ऋग्वेद में अन्यत्र उल्लेख मिलता है—"नारी निरीन्द्रिय (शक्तिहीन) होने से सोम की अनधिकारिणी एवं पापी पुरुष से भी गयी बीती है।" और "पतिक्रीता होने पर भी अन्य पुरुष के साथ विचरण करने से, स्त्री झूठी है। वह विनाश और आपत्ति की हेतु है।" चरम पर पहुँचकर नारी सम्बन्धी धारणाओं में जो उतार आने लगा था वह ऋग्वेद के पश्चात् निरन्तर निम्न से निम्नतर स्तर पर नारी को पहुँचाता रहा है।

अथर्ववेद में नारी-गौरव की हीनता के लक्षण स्पष्टत: दृष्टिगत होने लगे थे। ऋग्वेद में नारी-गौरव और आचरण के श्वेत और श्याम दोनों पक्षों का चित्रण है। वहाँ वह गरिमापूर्ण, शालीन, वर्चस्ववती एवं अधिकार-सम्पन्ना भी दिखायी देती है, तो उसमें नीति-च्युति भी दिखायी देती है। उसमें परम्परा-उल्लंघन का अभ्यास भी दृष्टिगत होता है। नारी चरित्र की यह श्यामलता अथर्ववेदकाल में उत्तरोत्तर सघन होती मिलती है। इस युग में कन्या-जन्म को अहितकर और अशुभ माना जाने लगा। अत: प्रकृतया ही पुत्र-पुत्री में अन्तर की परिखा और भी चौड़ी होने लगी और पुत्र की अपेक्षा पुत्री का महत्त्व घटने लगा। यही नहीं कन्या-जन्म को रोकने के उपचारों की सृष्टि भी इस युग में होने लगी। ऐसी प्रार्थनाएँ होने लगीं कि प्रजापति ने भ्रूण में जो आकार बनाया है, वहाँ कन्या के स्थान पर पुत्र को रख दें। पुत्र-प्राप्ति के मंत्र भी अथर्ववेद में मिलते हैं। कन्या-जन्म को प्रसन्नता और गौरव का प्रसंग यद्यपि नहीं माना जाता था; तथापि कन्या का उपनयन संस्कार पूर्ववत् होता रहा। अन्यान्य शास्त्रों में भी स्त्री के वेदाध्ययन अधिकार की चर्चा है और उसे 'यज्ञोपवीतिनी' कहा गया है। 'यम संहिता', 'हारीत संहिता' आदि में भी इस आशय के पुष्टिकारक उल्लेख मिलते हैं। इनमें कन्या के विवाह से पूर्व उसके उपनयन संस्कार की आवश्यकता भी प्रतिपादित मिलती है और वेद स्पर्श, मन्त्रोच्चारणादि की साधिकारता भी। विवाह योग्य आयु सीमा प्रतिबंधहीन रही, किन्तु इस काल में विवाह के पूर्व प्रेम-'पूर्व राग' के प्रसंगों के उल्लेख मिलते हैं। स्पष्टत: यह कन्या-विवाह सम्बन्धी माता-पिता के अधिकारों के ह्रास का प्रतीक रहा। ब्राह्म विवाह इस युग में होते रहे; किन्तु गांधर्व विवाह भी होने लगे थे जो माता-पिता की अनुमति से नहीं होते, सामाजिक मान्यता और साक्ष्य से रहित होते और गोपनीय ढंग से सम्पन्न होते थे। प्रेमी के प्रेयसी के आवास पर जाने के समय सभी को निद्राधीन कर देने के प्रयोजन से अनेक मंत्रों की सृष्टि हुई जो अथर्ववेद में प्राप्त होते हैं।

अथर्वन ऋषि का नामाधारित है—अथर्ववेद मंत्रादिक-प्रधान है। ये मंत्र मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। किसी मंत्र में

किसी स्त्री की अपनी प्रतिस्पर्धी अन्य स्त्री के विफल काम होने की कामना है तो कुछ मंत्र अपने पति को वश में करने के प्रयोजन से हैं। ऐसे मंत्रों में इस प्रकार की प्रार्थनाएँ भी निहित हैं कि हे देवता, मेरे पति को उन्मत्त बना दो कि वह रात-दिन मेरे ही ध्यान में मग्न रहें। पति की मूर्ति बनाकर पत्नी तप्त बाणों से उसका मस्तक बेधती हुई वशीकरण मंत्र का जाप करती थी। अथर्ववेद के मंत्रों से तत्कालीन समाज में नारी के स्थान का परिचय तो मिलता ही है, नारी के मलिन आचरण और गौरवहीनता का आभास भी होता है।

कुछ शब्दों का अथर्ववेद में जिन अर्थों में प्रयोग हुआ है, उससे भी उस काल की नारी का परिचय मिलता है; यथा—'स्त्री' शब्द का जहाँ ऋग्वेद में नारी वर्ग के लिए प्रयोग हुआ, वहाँ अथर्ववेद में इसी शब्द का प्रयोग पत्नी के अर्थ में मिलता है। 'दम्पत्ति' शब्द का ऋग्वेद में अर्थ है—गृहपति (एकवचन), जबकि अथर्ववेद में इसका अर्थ पति-पत्नी (द्विवचन) लिया गया है। अर्थात् पति-पत्नी एक व्यष्टि इकाई रही, दोनों के कर्त्तव्य भी संयुक्त रूप में रहा करते थे। अथर्ववेद के कुछ ही मंत्र ऐसे हैं जिनमें सती-प्रथा के प्रचलन का आभास इस रूप में मिलता है कि भरणोपरान्त भी आत्मा रहती है और उसकी सभी प्रिय वस्तुएँ उसके संग जानी चाहिए, पत्नी भी दिवंगत पति की प्रिया होती है। इसके साथ ही तथ्य यह भी है कि सती होने की प्रवृत्ति लुप्तप्राय होती जा रही थी और इसके विरुद्ध पतिहीना हो जाने की अवस्था में उसके पुनर्विवाह के प्रसंग अधिक मिलते हैं। विधवा विवाह ऋग्वेदकाल में अमान्य थे, किन्तु अब इस काल में स्त्री इसके लिए स्वंतत्र थी।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का काल ऐसा संक्रान्ति युग रहा। जिसमें नारी को वैसा गौरव और वर्चस्व तो प्राप्त नहीं रहा जैसा ऋग्वेदकाल में था; ह्रास अवश्य रहा, किन्तु उसकी गरिमा में अभी अवनति इतनी भी नहीं हुई थी कि उसे पुरुष की दासी, मात्र भोग्या, अथवा सुख-साधन की सामग्री के रूप में ही देखा और आँका जाय। सामाजिक-धार्मिक कर्मों में वह अभी भी पुरुष की समस्तरीय सहभागिनी थी, पुरुष के स्नेह-प्रेम की अधिकारिणी थी।

मंत्र ब्राह्मण में नारी स्थिति के चित्रण में से भी इस सन्दर्भ में सहायता मिल सकती है। ऋग्वेद और उसके अनन्तर अथर्ववेद में विवाह पद्धति को पूर्णरूपेण स्थापना मिल चुकी थी, मंत्र ब्राह्मण में उन बिन्दुओं को विस्तार और सुस्पष्ट प्रतिपादन मिला। कतिपय संस्कार भी जुड़ गये। 'कन्यादान' के विषय में कहा गया—"यह कन्या सोम ने गंधर्व को, गंधर्व ने अग्नि को और अग्नि ने मुझे दी

है। सन्तति और समृद्धि इसका हेतु है।'' 'अश्मारोहण' की पद्धति विवाह के पश्चात् ही सम्पन्न होती है। अश्मारोहण का शाब्दिक अर्थ पर्वतारोहण से है जो शिलावत् सुदृढ़ता का प्रतीक है—सतीत्व का। इसके साथ लाजाहोम होता है। वधू भुना हुआ धान उछालकर अपने पति की दीर्घायु की कामना करती है। पत्नी की पति के प्रति श्रद्धा और हितैषिता की प्रवृत्ति इससे प्रमाणित होती है। पाणिग्रहण के समय वर भी वधू के दीर्घ जीवन और सद्भाग्य के लिए प्रार्थना करता है। मंत्र ब्राह्मण में एक मौलिक प्रसंग आता है, जिसका कोई रूप पूर्ववर्ती काल में नहीं मिलता कि वर वधू को कहता है—''तुम्हारा हृदय मेरे व्रतों-धार्मिक कर्त्तव्यों का और तुम्हारा मन मेरे मन का अनुवर्ती बने। पूर्ण चित्त से तुम मेरे आदेशों का पालन करो। बृहस्पति तुम्हें आदेश—पालन की शक्ति दें।'' इस युग का यह आदर्श सर्वयुगीन महत्त्व रखता है और पत्नी को पति-समर्पित बने रहने की प्रेरणा देता है। पति समस्त कार्यों में पत्नी के सहकार और प्रतिभागिता की कामना करे, उसे अपने समकक्ष माने, अपने से अभिन्न माने—यह स्तुत्य आदर्श ही माना जायेगा। एक श्लोक में कहा गया है—''जो कुछ तुम्हारे हृदय में है, वही मेरे हृदय में हो और जो कुछ मेरे हृदय में हो, वही तुम्हारे हृदय में हो।'' भावात्मक एकता की यह कामना भी कम स्तुत्य नहीं है। विवाह प्रसंग में ही ध्रुव दर्शन की प्रथा का उल्लेख भी मिलता है जो वधू के पति-परिवार में स्थिर रहने की कामना का प्रतीक है।

❑ स्रोत-सूत्रों में नारी

स्रोत-सूत्र ऐसे ग्रन्थ हैं जो वैदिक कर्मकांड के निर्धारक और विवेचक हैं। अत: विशद् रूप में नारी की सामाजिक स्थिति का आकलन इन ग्रन्थों के माध्यम से सम्भव नहीं है। तथापि यज्ञादि कर्मों में नारी की भूमिका का परिचय तो इनमें मिल ही जाता है। पूर्ववर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरुषों की अपेक्षा नारी की स्थिति यज्ञादि कर्मों में वैसी ऊँची नहीं रही; जैसी ऋग्वेदकाल में थी। 'स्वर्गकामोयजेत' को पुल्लिंग मानते हुए यह अर्थ लिया गया कि यज्ञ का अधिकार केवल पुरुष को है, नारी को नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों की धारणा का खण्डन करते हुए स्रोत-सूत्रों में इस सन्दर्भ में वेदों में नारी की स्थिति की पुष्टि की और उसे यज्ञाधिकारिणी माना गया। 'स्वर्गकामोया' को इन ग्रन्थों में पुल्लिंग नहीं, अपितु समुदाय वाचक माना गया और नर-नारी के भेद को ही अमान्य कर दिया।

यह भी सत्य है कि स्रोत-सूत्रों की इन मान्यता का विरोध भी हुआ और स्मृति का सन्दर्भ देते हुए कहा जाने लगा कि नारी को यज्ञादिक कर्मों का

अधिकार नहीं, क्योंकि वह सम्पत्ति का अधिकार नहीं रखती। सूत्रकार जैमिनी ने यह मत स्थापित करते हुए कि स्रोत की अपेक्षा 'स्मृति' का अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रबल स्थान है—कहा कि स्मृति में वर कहता है कि धर्म कार्यों में, सम्पत्ति-प्राप्ति में और उचित इच्छा-पूर्ति में पत्नी के मार्ग में बाधा नहीं डाली जायेगी। यह भी स्मृति में वर्णित है कि पत्नी पति द्वारा क्रय नहीं की जाती। वेदों में नारी का सम्पत्ति अधिकार भी सुस्थापित है, जो कुछ पति की अर्जित सम्पत्ति है, उस पर भी पत्नी का अधिकार है। जैमिनी ऋषि ने सिद्ध किया कि पुरुष की भाँति ही स्त्री के मन में भी यज्ञफल की कामना विद्यमान रहती है। सूत्रों-स्रोतों में नारी की जो अवमानना होने लगी थी उसे इस प्रकार निस्तेज भी किया गया था।

वेदों के अपने-अपने गृह्यसूत्र रहे हैं। वेदकाल में नारी का विवाह समावर्तन की समाप्ति पर ही विधि-सम्मत माना गया था और इसके अनुसार विवाह योग्य अवस्था २४ वर्षों से अल्प होना सम्भव नहीं था। गृह्यकाल में यह आयु अपेक्षाकृत कुछ कम हो गयी। माता को सर्वोच्च और सर्वोत्तम गुरु माना जाता था। माता का भरण-पोषण करना पुत्र का अनिवार्य कर्त्तव्य माना जाता था, चाहे माता व्यभिचारिणी ही क्यों न हो। व्यभिचारिणी स्त्री पति के लिए परित्याज्य हो सकती थी, किन्तु पुत्र के लिए नहीं। उसके लिए माता किसी भी अवस्था में पतिता नहीं मानी गयी थी।

❑ उपनिषद्काल में नारी

वेदकाल के अनन्तर उपनिषदों का युग रहा। उपनिषद् वैचारिक ग्रन्थ हैं। दर्शन और विचार इनके मूल विषय रहे। स्पष्ट है कि इनके माध्यम से नारी की सामाजिक स्थिति को आँकने की संभावनाएँ विरल ही हैं। ये ब्राह्मण ग्रन्थों के समकालीन रहे; अत: हमारा प्रयोजन यत्किंचित् रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्ण हो जाता है कि इस काल की नारी-स्थिति कैसी रही; तथापि उपनिषदों से भी कुछ प्रकाश इस विषय पर पड़ता अवश्य है। उपनिषदों में जागतिक नारी के स्वरूप का अंकन कम और नारीतत्त्व का दार्शनिक विवेचन अधिक हुआ। शक्तिमान परमात्मा की शक्ति रूप में उसका उल्लेख मिलता है। यह नारीतत्त्व माया, प्रकृति, इच्छा, श्री आदि विविध रूपों में अंकित है। शक्ति और शक्तिमान दोनों परस्पर आश्रित हैं, दोनों का अस्तित्व अन्योन्याश्रित है। दोनों अभिन्न हैं और दोनों का समन्वय ही परिपूर्ण स्वरूप है। यह कहा जा सकता है कि नर ही शक्तिमान है और नारी ही शक्ति है। शक्ति के बिना कैसा शक्तिमान ! और शक्तिमान के बिना शक्ति की अभिव्यक्ति का ठौर ही कौन-सा !

उपनिषदों में वर्णित है कि सृष्टि के आदि में शक्ति और शक्तिमान का जो युगल था—उसमें कामना जागी कि किसी अन्य की उत्पत्ति की जाय—"**सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुन समभवत्।**" तब मन के साथ वाणी का युगल निर्मित किया गया। इसके अनन्तर कतिपय अन्य युगल भी अस्तित्व में आये, किन्तु इनसे भी जब परमात्मा का परितोष न हुआ तो उसने इन सभी का समाहार स्वयं में कर लिया और विराट् रूप में जल पर शयन कर लिया। एकाकीपन से भयभीत वह गिर गया, उसका दो भागों में विभाजन हो गया और इन भागों के नाम ही 'पति' और 'पत्नी' हो गये। यह भी वर्णित है कि ब्राह्म के दो रूप सुख और आकाश—क्रमशः इन दोनों भागों में आ गये।

नरहीन नारी और नारीहीन नर इसी कारण अर्द्ध-युगल अथवा युग्मांश मात्र हैं। परिपूर्ण युगल इन दोनों के संगम से ही सम्भव है। नारी के अस्तित्वारंभ और नारी की महत्ता पर इस प्रकार उपनिषदों का विवेचन परोक्ष रूप में मिलता है। नारी से ही नर की पूर्णता है। 'क' रूप ब्रह्म के विभाजन से उत्पत्ति के कारण ही नर-नारी के दृश्यमान रूप 'काया' कहलाए। ये ही आदि नर और नारी—मनु और शतरूपा कहलाए—

शतरूपां च तां नारी तपोनिधृतकल्मषाम्।
स्वायम्भुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जग्रहे प्रभुः॥

उपनिषदानुसार नर और नारी एक ही तेज की दो ज्योतियाँ हैं—

एकस्तेज द्वै नाम।

एक अन्य प्रकार से भी उपनिषदों में नारी का महत्त्व-प्रतिपादन मिलता है। इस जगत् को परब्रह्म की यज्ञशाला मानते हुए नर को 'होता' और नारी को 'अग्नि' रूप में वर्णित किया गया है। होता द्वारा जो हव्य अर्पित किया जाता है; अग्नि उसे सम्बन्धित देवताओं तक प्रेषित कर देती है; वैसे ही नर द्वारा उपार्जित धनादि का नारी सम्यक् रूप में सम्बन्धित जनों तक प्रेषण का कार्य करती है। यही सृष्टि का व्यवहार है और नर तथा नारी के पारस्परिक सहयोग से ही यह चलता रहता है। यह भी कहा गया है कि स्त्री और पुरुष—दोनों एक ही वृक्ष पर बैठे दो पक्षी हैं। दोनों के मेल, सहकार और सौहार्द्र से विश्व की स्थिति है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिखाव जाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वादवत्यनश्नन्नन्यो अभिजाकशीती।"

—मुण्डकोपनिषद्

छांदोग्य उपनिषद् में विवाह-विधान भी सविस्तार वर्णित है। इसमें वर-वधू की यह वचनबद्धता आयी है कि हम दोनों के हृदय एक हो जायें। नर-नारी के मध्य ऐक्य-स्थापना का यह प्रयास भी स्तुत्य है जिसमें दोनों की समकक्षता भी ध्वनित होती है। इसी उपनिषद् में कदाचित् सर्वप्रथम अल्पवयस्का पत्नी का अंकन मिलता है। ऐसा भी अनुमान होता है कि ऐसे उद्धरण अपवाद रूप में ही रहे होंगे। सामान्यत: विवाह संस्कार वयस्कों के लिए ही था—इसके पर्याप्त प्रमाण भी मिलते हैं। इस उपनिषद् में ऐसे प्रसंग भी हैं जो आभास कराते हैं कि इस युग में ब्राह्मण पुत्र का शूद्र पुत्री से विवाह सम्बन्ध सम्भव हो गया था। सत्यकाम और जकाला का आख्यान इस युग की इस विशेषता को अंकित करता था कि सन्तानें अवैध भी मानी जाती थीं, किन्तु उनके गुणों और प्रवृत्तियों के आधार पर उन्हें वेदोपदेश ग्रहण करने के योग्य माना जा सकता है। जकाला दासी कार्य करने के कारण शूद्रवत् थी। उसके पुत्र सत्यकाम में ब्रह्म-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा थी। अत: आचार्य ने उसे ब्राह्मण स्वीकार कर आश्रम में प्रवेश दिया। पत्नी का रूप इस युग में विलास-साधन न होकर पति के धर्मकर्म में सहयोगिनी का रहा।

वृहदारण्यक उपनिषद् में पत्नी-ताड़ना के संकेत भी मिलते हैं। वेदों में पत्नी का कर्त्तव्य पति की आज्ञानुवर्तिनी रहना बताया गया था। अब इस युग में इसका उल्लंघन करने वाली पत्नी को ताड़ना दिये जाने की चर्चा आने लगी थी। बलपूर्वक पति अपनी आज्ञा का पालन पत्नी से करवाता था। यह बलप्रयोग अनुशासन निर्त्तहार्य ही होता था। यदि एक पति की पत्नी से अन्य पुरुष प्रीति रखने लगे तो ऐसी पत्नी उसकी प्रेयसी हो जाने के स्थान पर, उसके नाश के लिए मंत्रों का प्रयोग करती थी। पत्नी की एकनिष्ठता इससे प्रतिपादित हो जाती है।

प्राचीनकाल से हमारे यहाँ पुत्र-पुत्री में कोई अन्तर नहीं माना गया। उपनिषद्काल में भी यही स्थिति रही, किन्तु सामाजिक कुप्रथाओं और वित्तीय विषमताओं के परिवेश ने आज की स्थिति को इसके विपरीत कर दिया है। अधिकांश दम्पति कन्या की कामना नहीं करते। पुत्र-लालसा के वशीभूत हो वे अनीति से भी नहीं चूकते। ऐसी पद्धति आविष्कृत हो गयी है जो भ्रूण के लिंग का पूर्व ज्ञान करा देती है कि पुत्र होगा, अथवा पुत्री। पुत्री की स्थिति में दम्पति भ्रूण-विसर्जन कराकर पुत्री-प्राप्ति से पिंड छुड़ा लेते हैं और सुखानुभव करते हैं। वे इस तथ्य की ओर ध्यान ही नहीं देते कि वे सृष्टि के आवर्तन के क्रम में व्यवधान उपस्थित कर रहे हैं और यह घोर अनाचार है, जघन्य अपराध है।

उपनिषद्काल में इसके विपरीत यह प्रार्थना और कामना की जाती थी कि उन्हें विदुषी कन्या प्राप्त हो—

''अथ य इच्छेदुहिता ये पंडिता जायेत सर्वमायुरियात्।''

—वृहदारण्यक

हमारी संस्कृति का आधार प्रकृति है। प्रकृति की व्यवस्था है कि पुत्र और कन्याएँ—दोनों का जन्म होता रहे, ताकि सृष्टि का उत्तरोत्तर आवर्तन-क्रम चलता रहे। फिर हमारी संस्कृति प्रकृति के विरुद्ध कैसे चल सकती है और हम कन्या-विरोधी कैसे हो सकते हैं ! उपनिषदों में तो यह विधान भी आया है कि कन्या-प्राप्ति के निमित्त चावल और तिल मिश्रित, घृतयुक्त खिचड़ी का आहार लिया जाय। इस काल में कन्या-प्राप्ति की कामना और प्रार्थना ही नहीं की जाती थी, वरन् इसकी पूर्ति हेतु चेष्टा भी की जाती थी। उक्त विधान और ऐसे ही अन्य उपचारों को अपनाया भी जाता था। आज के युग को इससे प्रेरणा ग्रहण करना चाहिए और कथा के प्रति अनिच्छा तथा अनादर के भाव को अंकुरित करना चाहिए।

रामायणकाल में नारी

महाकाव्यकाल की महान् कृतियाँ न केवल इतिवृत्तात्मक थीं, अपितु वे समाज-सापेक्ष्य भी थीं। यही कारण है कि समाज की अनेक-अनेक स्थितियों, वर्गों, आदर्शों और विशेषताओं के परिचायक विवरण और वृत्तान्त उनमें प्राप्त होते हैं। नारी वर्ग का भी ऐसा सार्थक चित्रण हुआ है जिससे तत्कालीन नारी-चरित्र की विशिष्टताएँ और नारी के सामाजिक स्थान की विस्तृत व्याख्या सुलभ हो जाती है। इस दृष्टि से रामायण और महाभारत—ये दो अति महत्त्वपूर्ण महाकाव्य माने जा सकते हैं। कहा जाता है कि महाभारत में द्यूत-प्रसंग प्रमुख रहा है तो रामायण का प्रमुख विषय नारी-प्रसंग है।

वस्तुत: रामायण में नारी का गौरवगान सर्वप्रमुख भी है और यह सर्वत्र व्याप्त भी है। रामायणकालीन नारी ने अपने आदर्शों और आचरण से ऐसे अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो परवर्तीकाल में नारी के लिए प्रेरक रहे हैं। आदर्श भारतीय, सुसंस्कृत नारी का स्वरूप इस काल की नारी ने प्रस्तुत किया है। रामायण इस प्रकार समकालीन नारी का एक समग्र चित्र ही प्रस्तुत नहीं करती, वह आगत अनेक सहस्राब्दियों के लिए एक आदर्श आचरण मार्ग भी दिग्दर्शित करती है। रामायणकाल की नारी का प्रभावांकन आज की सन्नारियों पर दृष्टिगत होता है और यह प्रभाव आगामी शताब्दियों में भी अपनी गुणवत्ता और श्रेष्ठत्व के आधार पर निरन्तर बना रहेगा।

वेदकाल से आरम्भ नारी-वर्चस्व और नारी-अवस्था क्रमिक रूप से परिवर्तित होती रही है। रामायणकाल में हमें यह स्थिति पुन: उन्नत होती प्रतीत होती है। समाज में नारी का स्थान कन्या रूप में, गृहणी या पत्नी रूप में और माता रूप में आदर और स्नेह-सूचक रहा है। यह वह युग था, जब समाज में संयुक्त परिवारों का प्रचलन था। पिता ही गृहस्वामी हुआ करता था, किन्तु उसकी वशवर्ती होते हुए भी पत्नी को गृहस्वामिनी होने का गौरव प्राप्त था। ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी होता था—**"ज्येष्ठस्य रजता नित्यमुचितां ही कुलस्यन:।"** आधिकारिक मान्यता यह भी थी कि पुत्र ही पिता को नरकगामी होने से बचाता

है। पुत्र ही पिता के मरणोपरान्त उसकी उत्तरक्रिया करता था। अतः पुरुष पुत्र-प्राप्ति की कामना करते थे—इसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं था। पुत्र ही वंशकर भी माने जाते थे। इस सबसे पुत्रों का महत्त्व सहज ही प्रतिपादित हो जाता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह भी नहीं कि परिवार में कन्या का महत्त्व कम रहा हो। नारी का पुत्र-महत्ता सम्बन्धी विरोध भी दृष्टिगत नहीं होता था। माताएँ स्वयं भी पुत्र-प्राप्ति के हेतुक से तपस्याएँ किया करती थीं। पितृऋण, ऋषिऋण, देवऋणादि से मुक्ति के लिए पति-पत्नी मिलकर यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करते थे। इसी महत्तावश पत्नी के लिए धर्मपत्नी की संज्ञा अधिक सार्थक हो रही थी। समीक्षक और यशस्वी तत्वचिन्तक श्री बलदेव उपाध्याय की दृष्टि में—"रामायण वास्तव में पति-पत्नी की विमल प्रीति का प्रस्थापक महाकाव्य है।"

वाल्मीकि रामायण में भी संदर्भ आता है—

"मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता।"

तथा *"पूर्वैरयमपि प्रेतो गतो भार्गोऽनुगम्यते।"*

भाव यह है कि परिवार में परम्परागत रूढ़ियों-प्रथाओं और संस्कारों का अनुवर्तन होता था और इनमें स्त्रियों के निर्देश की प्रमुखता रहती थी। ये उल्लेख भी यत्र-तत्र मिलते हैं कि पति-पत्नी ही नहीं, माता-पुत्र, बहन-भाई, भाभी-देवर, सास-बहू के सम्बन्धों में भी स्नेहमयता थी और नारी वर्ग पारिवारिक सुख-शान्ति का मूलाधार बना रहता था। यह सत्य है रामायणकाल में भी परिवार पितृ-प्रधान थे। इस पुरुष प्रधानता के युग में भी नारी-महत्त्व कम नहीं था। पिता की आज्ञा का पालन परिजनों के लिए अनिवार्य माना जाता था। पिता की आज्ञा के बिना श्रीराम ने विवाह नहीं किया। इसके साथ ही माता की आज्ञा भी पुत्र के लिए पालनीय मानी जाती थी। पत्नी से यही अपेक्षा रहती थी कि वह भी पति-वंश के पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण करे। वधुएँ भी सहर्ष इसका पालन किया करती थीं। विपरीत आचरण वाली स्त्रियाँ निन्दा की पात्र होती थीं। पितृकुल को कलंक लगाने पर भी कैकेयी को 'स्वकुलोपघातिनी' कहा गया था।

कन्या की स्थिति

रामायणकाल में कन्या को परिवार के भीतर भी और बाहर भी असीम स्नेह प्राप्त होता था। इसके परवर्ती युग में पर्याप्त कालक्षेप तक यह स्थिति बनी रही। समाज में कहीं भी कन्या को घृणा या उपेक्षा का व्यवहार नहीं मिला करता था। जानकी राजा जनक की रानी की तनुजा न होते हुए भी उनसे मातृवत् स्नेह प्राप्त

करती रही। पुत्र-प्राप्ति तो प्रसन्नता और संतोष का आधार होता ही था, किन्तु मान्यता यह भी रही कि असंख्य पुण्यों के उदय रूप में ही कन्या का आगमन होता है—परिवार में। बड़ी तपस्याओं के परिणामस्वरूप पुत्री की प्राप्ति होती है। इस तथ्य से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि परिवार और समाज में बेटी और सामान्यत: नारी का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण और समादरयुक्त था। कन्याओं की उपस्थिति भर ही शुभ और मांगल्यपूर्ण मानी जाती थी, वे शुभ शकुन की निर्मात्री हुआ करती थीं। कुमारी कन्याओं की उपस्थिति अनेक धार्मिक अनुष्ठानों में अपेक्षित मानी जाती थीं और उन्हें स्नेहपूर्वक आमंत्रित कर आदरयुक्त स्थान दिया जाता था। युवराज के रूप में श्रीराम के अभिषेक के प्रसंग में भी आठ कन्याओं द्वारा उनका जलाभिषेक किया जाना वर्णित मिलता है।

कन्या के अभिभावकों को अपनी इस स्थिति के कारण बहुत गर्वानुभूति हुआ करती थी, किन्तु कन्या के प्रति उनके दायित्व भी कम नहीं होते थे। वे सदा सजग और चिन्तित रहते थे। पुत्री के चरित्र और पावनता की रक्षार्थ उन्हें सावधान और सचेत रहना होता था, तो उपयुक्त वर की खोज में वे चिन्तित भी रहते थे। स्वयं राजा जनक भी जानकी के विवाहार्थ चिन्तित और दु:खी रहे। स्वयं जानकी ने पिता की इस अवस्था का अनुभव किया था। सदुपदेश और सद्प्रेरणा द्वारा माता-पिता कन्याओं को सन्मार्ग पर आरूढ़ रखते थे। पुत्री की कल्याण-कामना के वशीभूत वे बहुत खोजबीन और विचार-विनिमय करके वर का निर्धारण करते थे। परिणयोपरान्त भी माता-पिता अपनी कन्या के शुभ, सुख और उत्कर्ष की कामना करते रहते। इस कामना की पूर्ति के पक्ष में वे कन्या को कौमार्यावस्था से ही सद्शिक्षा देते, पति-भक्ति और औदार्य की, सच्चरित्रता की महत्ता को हृदयंगम कराते थे। पतिगृह में अपनी पुत्री की कुशल-क्षेम जानने को भी आतुर रहते थे।

एक और बिन्दु भी ज्ञातव्य है। वाल्मीकि रामायण में सीता-हरण के अनन्तर अशोकवाटिका में विरहदग्धा, संतप्ता सीता जो दारुण विलाप करती है, उस स्थिति के लिए उपमान रूप में कहा गया है कि निर्जन वन में छोड़ दी गयी कन्या के समान वह रुदन कर रही थी। इससे क्या यह ध्वनित नहीं होता कि रामायण युग में भी माता-पिता कन्या का उत्पन्न होना सुख और संतोष का विषय नहीं माना करते थे, चाहे ऐसा अत्यल्प रूप में ही होता रहा हो। चाहे ऐसा इस कारण रहा हो कि माता-पिता के लिए कन्या का यथासमय उपयुक्त वर के साथ विवाह कराना एक कठिन समस्या रही हो, धरोहर के रूप में कन्या की पावनता और सुरक्षा पराये धन

की भाँति करते रहने की कठिनाई भी रही हो—यह सम्भव है; किन्तु कन्या-परित्याग की एक कलुषित प्रवृत्ति उस् काल में रही हो—यह आशंकित है। स्वयं जानकी भी शैशवावस्था में राजा जनक को खेत के गड्ढे में मिली, जब राजा हल हाँक रहे थे। कतिपय विद्वज्जन इसे भी कन्या-विसर्जन के प्रसंग के रूप में ही अनुमानित करते हैं। किन्तु ऐसी विसर्जित कन्याओं के लिए संरक्षण-तत्परता भी समाज में व्याप्त है—क्या इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता ?

रामायणकालीन शिक्षा और नारी

जब से शिक्षा का सन्दर्भ हमारे इतिहास और अतीत में प्राप्त होता है—तब से नारी का शिक्षित और विद्यावती होना; वरन् विदुषी होना भी पाया गया। शिक्षा के सन्दर्भ में प्राचीनकाल में पुरुष और स्त्री को लेकर कोई भेदभाव नहीं रहा। अनेक स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा भी अधिक प्रतिभाशाली और मेधावी भी सिद्ध होती रही है। नारी वर्ग पर अशिक्षा का अभिशापयुक्त कलंक तो अभी हाल ही का है। रामायणकाल में भी नारियाँ विदुषी थीं। यह भी नहीं कि ये केवल साक्षर रही हों, लेखन-वाचन की क्षमता ही उनमें रही हो; अपितु शिक्षा के समस्त आयामों को नारी ने भी अपनाया और अपना जीवनोत्थान किया। तत्कालीन व्यवस्थाओं में शिक्षा की चार कोटियाँ रहीं—(क) शारीरिक, (ख) मानसिक, (ग) व्यावहारिक, और (घ) नैतिक।

रामायणकाल में स्त्रियों के लिए इन चारों प्रकार की शिक्षा का विधान था। बालिकावस्था से ही उन्हें आयुधसंचालन, रथचालन आदि सामरिक विद्याएँ सिखायी जाती थीं। रणस्थल में आहत योद्धाओं की प्राथमिक चिकित्सा के लिए भी उन्हें अभ्यास कराया जाता था। रामायण के एक प्रसंग में रानी कैकेयी ने अपने स्वामी की समरस्थली में प्राण-रक्षा की और उन्हें बचाकर ले आयी थी। इससे उक्त नारी-क्षमता प्रमाणित होती है। राजा जनक की इस प्रतिज्ञा के पीछे भी एक रहस्य था कि जो वीर राजा-राजपुत्र भगवान शंकर के धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने में सफल होगा—उसी के संग वे जानकी का पाणिग्रहण करायेंगे। रहस्य यह था कि जानकी इतनी शक्तिमती थीं कि वे उक्त विशाल धनुष को सुगमतापूर्वक उठा लेती थीं। उनके लिए इससे उच्चतर शक्तिमान वर ही अपेक्षित था। शारीरिक शिक्षा के फलस्वरूप ही तत्कालीन नारियों में इस भाँति का सामर्थ्य और क्षमता थी। नारियों को अपने पति के साथ मिलकर भी और स्वतंत्र रूप से भी अनेक धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करनी होती थीं। अतः आरम्भ से ही उन्हें कर्मकांड का ज्ञान भी कराया जाता था। कौशल्या हवन करती हुई, जानकी

संध्यावन्दना करती और तारा मंत्र प्रयोग करती हुई रामायण में दृष्टिगत होती हैं। स्त्रियों को वेद-वेदांग, पुराण-उपनिषद्, इतिहास, शास्त्रादि में भी पारंगत बनाया जाता था। सीता में ऐसी विलक्षण प्रतिभा भी थी। संगीत, नृत्य, चित्रादि कलाओं में स्त्रियाँ निपुण होती थीं। यह व्यावहारिक शिक्षा का परिणाम था। माता-पिता, ऋषि, द्विग आदि से कन्याओं को स्त्रीधर्म के विभिन्न पक्षों का ज्ञान करा दिया जाता था। यह नैतिक शिक्षा का स्वरूप था जो उन्हें पति-पत्नी के पारस्परिक कर्त्तव्यों, पतिगृह में मर्यादापूर्ण आचरण, शील की महत्ता आदि विभिन्न आवश्यक विषयों का पूर्व में ही ज्ञान करा देती थी। यही कारण है कि स्त्रियों के मयार्दाहीनता, अनाचार आदि के उद्धरण नहीं मिलते।

विवाह-व्यवस्था और नारी

रामायणकाल में नारी पर विवाह-विषयक कतिपय मर्यादाएँ थीं और नारी उनका आदर भी करती थी। यह सुस्थापित सिद्धान्त था कि पिता ही कन्या के लिए वर का चयन करता था और उसके निर्णय-विवेक में कन्या की पूर्ण श्रद्धा रहा करती थी। विवाह के पूर्व पारस्परिक परिचय, रूपाकर्षण, आसक्ति, प्रणय-प्रस्ताव, पूर्वराग के लिए कोई स्थान नहीं था। स्वयंवर प्रथा भी थी अवश्य, किन्तु वरण की स्वाधीनता कन्या को अमर्यादित रूप में नहीं थी। पिता के नियमन के अधीन ही स्वयंवर हुआ करता था। पिता के प्रण ने सीता के स्वयंवर-स्वातंत्र्य पर मर्यादा डाल ही रखी थी। पिता भी अपने अधिकार का उपयोग नीतिमत्ता और कन्याहित की भावना के साथ करता था। विवाह-विषयक पित्रानुमति और आज्ञा का आदर न केवल कन्या, अपितु पुत्र भी करते थे। सीता स्वयंवर में श्रीराम ने सीता के वरण की पात्रता प्राप्त कर ली थी, किन्तु विवाह पिता दशरथ की आज्ञा पाकर ही किया। यह मर्यादा भी थी कि कन्या की याचना स्वयं कन्या से नहीं, उसके पिता से की जाती थी।

अल्पायु कन्या विवाह-योग्य नहीं मानी जाती थी। वयस्कता-अनिवार्य स्थिति थी, जिसके अभाव में विवाह सम्भव ही नहीं था। बाल-विवाह का कोई भी प्रसंग रामायण में नहीं है। यह भी आवश्यक माना जाता था कि वर और कन्या—आयु, शील, वृत्त और लक्षणों में परस्पर समतुल्य हों; अर्थात् विवाह बेमेल नहीं हो। आयु क्रम से ही भाइयों के विवाह हुआ करते थे।

विवाह के प्रकार और प्रणालियाँ

रामायणकाल में छह प्रकार के विवाह प्रचलित थे, जिनका स्मृतिकारों ने परवर्तीकाल में निम्नलिखित रूप में नामकरण किया—(१) ब्राह्मण विवाह,

(२) प्रजापत्य विवाह, (३) आसुर विवाह, (४) गांधर्व विवाह, (५) राक्षस विवाह, और (६) पैशाच विवाह।

ब्राह्मण विवाह में वर और कन्या पक्ष के बीच द्रव्यादि के लेन-देन का व्यवहार नहीं रहता है। प्रजापत्य विवाह में कन्या पक्ष द्वारा वर का समुचित सत्कार किया जाता है और तब उसे सहधर्माचारिणी के रूप में कन्या का दान कर दिया जाता है। आसुर विवाह में वर द्वारा धन-सम्पत्ति शुल्क के रूप में कन्या को दी जाती है तो गांधर्व विवाह-विवाह पूर्व आसक्ति के कारण, कामेच्छा-पूर्ति के लिए होता है। गांधर्व विवाह सार्वजनिक रूप में नहीं, प्राय: प्रच्छन्न रूप में होते थे। कन्यापहरण के पश्चात् किया जाने वाला विवाह राक्षस विवाह कहलाता है और विवाह से पूर्व ही बलपूर्वक और पाशविकतापूर्वक वासनोपशान्ति का क्रम रहा हो, वह पैशाच विवाह माना जाता था। ऐसे विवाह के मूल में अनाचार रहा करता था।

प्रजापत्य विवाह ही तत्कालीन समाज में सर्व सामान्य रूप में प्रचलित था। विवाह सम्बन्धी आवश्यक सारे कृत्य तीन चरणों में सम्पन्न होते थे। प्रथम चरण में क्रमश: लगन भेजना (वर प्रेषण), बारात का स्वागत (सीमान्त पूजन), वंशावली-वाचन, वर-वधू-गुण-परीक्षा, वाग्दान, नान्दी श्राद्ध और गोदान की प्रक्रियाएँ होतीं। द्वितीय चरण में मूल विवाह संस्कार आता था। वधूगृह में वर का आगमन, होम, कन्यादान, पाणिग्रहण, अग्नि-परिणयन, पिता से उपहार प्राप्त कर वधू का पतिगृह को प्रस्थान इस चरण में होता। और तृतीय चरण का सम्बन्ध उन मांगलिक कृत्यों से रहता जो पतिगृह में प्रवेश के समय और तदनन्तर होते थे। यथा—गृहप्रवेश, वधू पतिगृह (स्वागत), आमंत्रित देवताओं का उत्थापन (विसर्जन) आदि। ज्ञातव्य है कि इस काल में अग्नि के केवल तीन फेरे होते थे। सप्तपदी की प्रथा कालान्तर में आयी। इसी प्रकार दहेज-प्रथा का अस्तित्व भी उस समय नहीं था। मात्र इतना रहता था कि स्वेच्छापूर्वक कन्या को उसके पिता की ओर से उपहार मिलते थे। इस निमित्त न तो समाज की ओर से अनिवार्यता रहती थी और न ही वर-पक्ष की ओर से कोई अपेक्षा रहती थी। उपहार सम्बन्धी किसी अनुबन्ध के आधार पर विवाह सम्बन्ध का निश्चयीकरण होता हो—ऐसा नहीं था। उपहार में क्या-क्या दिया जाय, या कितना दिया जाय इस सम्बन्ध में पिता स्वच्छन्द रहता था।

वधू को जो उपहार पिता की ओर से प्राप्त होते थे, पतिगृह में वही 'स्त्रीधन' कहलाता। स्त्रीधन पर पत्नी का स्वत्व रहता और इसका उपयोग-उपभोगादि के

लिए भी वह सर्वथा स्वतंत्र थी। अन्य कोई इसका नियामक नहीं होता था। विवाह पश्चात् वधू को वर-पक्ष की ओर से भी जो उपहार समय-समय पर मिलते वे भी स्त्रीधन में ही सम्मिलित होते रहते थे। इन उपहारों को जो कन्या को उसके पिता की ओर से मिलते थे—दहेज की वैसी परिभाषा में परिगणित नहीं किया जा सकता, जो आज विद्यमान है। न कष्टकर, न शोषण की प्रतीक; न दूषित और न ही अभिशाप रूप में। इसके लिए विवाह-पूर्व और विवाहोपरान्त भी वर-पक्ष की ओर से न कोई माँग और न ही दबाव रहता। उपहार का यही स्वरूप कन्या के हित में रहा करता था, उसके लिए सुखद था। कन्या के पिता को चाहे उस रूप में दहेज न देना पड़ता हो, जिस रूप में वह आज प्रचलित है, पर किसी-किसी प्रसंग में वर को शुल्क देना पड़ जाता था। यदि कन्या सामान्य से अधिक गुणवती-रूपवती हुई अथवा वर किंचित् अधिक आयु का हुआ तो उसे कन्या-पक्ष को यह शुल्क देना होता था जो द्रव्य रूप में प्रायः कम ही होता था, किसी अन्य रूप में ही अधिक होता था। उदाहरणार्थ—कन्या-पक्ष को कोई वचन देना और उसकी पूर्ति करना अथवा कन्या-पक्ष की किसी माँग या शर्त को पूर्ण करना आदि। परम गुणवती सीता के लिए श्रीराम को धनुर्भंग करना पड़ा, कैकेयी के लिए नृपति दशरथ को वचन देना पड़ा कि कैकेयी-पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा।

एकाधिक पत्नीत्व प्रथा

राजवंशों में एक से अधिक विवाह करने की प्रथा पुरुष वर्ग के लिए प्रचलन में थी। इसी के अनुकरण में प्रजाजन भी इस प्रथा के अनुयायी हो गये और इस प्रकार बहुपत्नीत्व की विशेषता तत्कालीन समाज में आ गयी थी। अयोध्यापति दशरथ की तीन रानियाँ थीं और इनके अतिरिक्त उनके अन्तःपुर में साढ़े तीन सौ स्त्रियाँ और भी थीं। रामायणकार ने उल्लेख किया है—"**अस्मै देवा मया सीता दियंशुल्का महात्मने।**" अर्थात् सीता के पालन-पोषण का भार बड़ी रानी को दे दिया गया। इससे स्वयं सिद्ध है कि जनक भी अनेक रानियों के स्वामी थे। प्रसिद्ध है कि कश्यप ऋषि की तो आठ पत्नियाँ थीं।

बहुपत्नी प्रथा को सामाजिक अवमानना तो प्राप्त नहीं थी, किन्तु इसे श्रेयस्कर भी नहीं माना जाता था। इस प्रथा को अनेक दृष्टियों से सदोष रूप में देखा जाता था। पति अपनी किसी पत्नी विशेष के प्रति अधिक प्रेम और असक्ति से ग्रस्त हो यह भी स्वाभाविक है और तब तज्जनित परिणामस्वरूप अन्य पत्नियों की उपेक्षा भी स्वाभाविक ही है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सौतिया डाह होती और

नाना प्रकार के अनर्थ होते। गृहकलह रहता, षड्यंत्र होते—इतिहास ऐसे वृत्तान्तों से भरा पड़ा है। सपत्नीयों के समर्थकों के गुट बन जाते और इस प्रकार विघटन अस्तित्व में आता, ऐक्य को हानि पहुँचती। इतनी रानियों के गौरव-गरिमा के निर्वाह पर अपव्यय भी अत्यधिक होता और राज्य वित्तीय दौर्बल्य से ग्रस्त रहता। इन्हीं कारणों से एक पत्नित्व की महिमा का अवमूल्यन सम्भव न हो सका। रामायणकार ने तो इस आदर्श को बहुत प्रशस्त भी किया है। उनके राम एक पत्नीव्रती थे। सीता-हरण की दशा में भी वे पुनर्विवाह नहीं करते। यज्ञादि के लिए भी वे सीता की स्वर्ण प्रतिमा के विकल्प को ही अपनाते हैं।

यहीं इस जिज्ञासा का उठना भी अति स्वाभाविक है कि क्या रामायणकाल में एक स्त्री एकाधिक पति भी रखती, या रख सकती थी? उत्तरी भारत में उस काल में भी यह प्रथा प्रचलित नहीं थी और आज भी इसे निन्दनीय माना जाता है। नारी का शील एकनिष्ठता में ही निहित माना जाता है और यही पातिव्रत्य का आधार भी रहा। दक्षिण भारत इस विषय में अपवाद रहा। तारा, रंभा, मन्दोदरी आदि ऐसी नारियाँ थीं जिनके एक से अधिक पति रहे। इस सन्दर्भ में भी यह स्पष्टता नहीं है कि इनके दो-दो पति एक ही समय में रहे, अथवा उन्होंने एक के पश्चात् अन्य पुरुष को अपने पति रूप में स्वीकारा और इस प्रकार किसी भी समय इनके पतियों की संख्या दो या दो से अधिक नहीं रही हो।

दाम्पत्य सम्बन्ध और विच्छेद

सामान्यत: पति-पत्नी का दाम्पत्य सम्बन्ध मधुर और सरस ही रहा करता था, किन्तु प्रसंगवशात् उसमें तिक्तता या कटुत्व का आ जाना उस काल में भी सहज-स्वाभाविक रहा। सहज प्रिय सम्बन्धों में कटुत्व आने के पीछे ही सुदृढ़ और स्पष्ट सकारणता का आधार होता था। स्वार्थपरता, अराजकता, सपत्नी कलह, परदारा या पर-पुरुष में अनुरक्ति या व्यभिचार। इन कारणों से पति-पत्नी का पवित्र प्रेम कलुषित हो जाया करता था।

विवाह-विच्छेद या पत्नी-परित्याग रामायणकाल में सामान्य नहीं रहा। विवाह तो जन्म-जन्मान्तरों का सम्बन्ध माना जाता था—अटूट और असमाप्य। तथापि कतिपय स्थलों पर रामायण में भी परित्याग के उद्धरण-चाहे अपवादस्वरूप ही सही; किन्तु मिलते अवश्य हैं। इनके पीछे वे ही कारण उत्तरदायी रूप में रहे जो दाम्पत्य को विषाक्त बनाने वाले माने जाते थे। कैकेयी की माता ने पति के जीवन-मरण से भी लापरवाही दिखायी, कैकेयी स्वयं बहुत स्वार्थी प्रवृत्ति की थी। इनके पतियों ने इनका परित्याग कर दिया था। व्यभिचार

के कारण अहिल्या का और लोकापवाद के भयवश सीता का भी परित्याग किया गया। कारणों के निवारण या निस्तारण पर इन दोनों का पुनर्ग्रहण भी संभव हो गया था। अराजकता की स्थिति में पत्नी द्वारा पति के परित्याग के प्रसंग भी रामायणकार द्वारा वर्णित हुए हैं।

दाम्पत्य स्वरूप में वासना का योग

दाम्पत्य का एक स्वरूप आध्यात्मिक है, तो दूसरा निर्मल और निश्छल पारस्परिक प्रीति का है। साथ ही दाम्पत्य के साथ वासना का योग भी अभिन्न रूप में हो जाता है। काम का कायिक रूप ही वासना रूप में व्यक्त होता है। काम का अदम्य प्रभाव प्राणिमात्र पर तारा द्वारा भी स्वीकार किया गया था। इन्द्रियजित राम भी काम की वाम गति से विस्मित रह गये। कामाभिभूत राजा दशरथ की वासनानुभूति (कैकेयी के प्रति) तो महाअनर्थकारी हो गयी थी।

प्रेम अत्युच्च और परम पावन भाव रहा और वह व्यावहारिक भी रहा। विवाहपूर्व का प्रेम हेय माना जाता था, पूर्व राग की प्रवृत्ति इस काल में दृष्टिगत ही नहीं होती। एकांगी या एकल पक्षीय प्रेम भी हेय माना जाता था। रावण इसी आधार पर सीता को स्पर्श नहीं कर पाता था। रामायणकाल में पत्नी के साथ वासनायुक्त प्रेम या कामान्ध व्यवहार हेय समझा जाता था।

कामुकता निन्दनीय प्रवृत्ति समझी जाती थी और नारी के मर्यादार्थ संयमित होने की अपेक्षा पर बल दिया जाता था। विवाह का प्रयोजन मात्र संतति लाभ माना जाता था, वासना-तृप्ति नहीं। कामुक और स्त्रीजित व्यक्ति-स्त्रैण निन्दनीय समझे जाते थे। "मैं वानर होकर भी पत्नी-वियोग में दुखित नहीं हुआ—शीलवान होकर भी, हे राम ! आप इतने विरहाकुल क्यों होते हैं"—सुग्रीव का यह कथन इस प्रसंग में कितना मार्मिक है।

काम सम्बन्ध यदि धर्मनिर्दिष्ट रूप से अमर्यादित रूप में हों तो वे अनैतिक यौन क्रिया, या व्यभिचार मात्र होकर रह जाते हैं। आसक्ति तो पत्नी के प्रति भी अशोभनीय होती है। मर्यादित काम में भी मध्यम मार्ग का अनुसरण उपयुक्त होता है। स्त्रियों के लिए तो कामवृत्त पूर्णतः गर्हित माना गया था। पर-स्त्री विषाक्त भोजनवत् होती है उसके संग संसर्ग महापाप माना गया। पर-दाराएँ पुरुष के पराभव का कारण मानी जाती थीं। ऐसा परिणय प्रस्ताव भी सामाजिक अनाचार माना जाता था। यह भी कहा गया कि जो व्यक्ति धर्म और अर्थ को एक तरफ रखकर मात्र काम का सेवन करता है, वह दशरथ की भाँति संकट में पड़ता है। जीवन के अन्यान्य पदार्थों के साथ काम का संतुलित रूप ही वरेण्य है।

नारी का वधू रूप एवं पत्नी रूप

वधू रूप में नारी रामायणकाल में भी सर्वथा शोभाशालिनी, गरिमामयी, मृदुल और स्नेह पात्र रही। पतिगृह में उसे सादर प्रवेश कराया जाता और उसे अपनी अधिकार-सम्पन्नता का आभास भी कराया जाता था। वह तुच्छ या नगण्य नहीं है इस परिवार में, परिजनों की इस भावना को समय-समय पर अनेक माध्यमों से व्यक्त किया जाता। विनय भावना के साथ वधू भी अपने सास-ससुर के अधीन स्वयं को मानकर चलती और सास-ससुर भी अपनी इस अधिकारवत्ता का प्रदर्शन अपने व्यवहार में नहीं करते थे। पतिगृह में नवीन वातावरण उसे अपने आगन्तुक होने का आभास दीर्घकाल तक न कराता रहे—वह संकोचशीला न बनी रहे, स्वजनों के साथ शीघ्र ही घुल-मिल जाय, स्वयं को इस नवीन परिवार और उसके सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल ढाल ले—इस आवश्यकता की पूर्ति की दिशा में सास आदि परिजनों का स्नेहमय, कोमल व्यवहार वधू की पूर्ण सहायता करता था। वधू शीघ्र ही इस नव-परिवार की रीति-नीति के अनुरूप बन जाया करती थी। सास-ससुर अपनी संतति से भी अधिक ममता और स्नेह उसे देते। पति का असीम प्रेम भी उसे मिलता। सास, ननद, जिठानी-देवरानी, जेठ-देवरादि से कभी कलह या अप्रिय, कटु व्यवहार का प्रसंग ही नहीं बनता था।

पत्नी रूप में नारी का बड़ा गरिमायुक्त और शालीन चित्र रामायण में उभरा है जो तत्कालीन नारी-गौरव का प्रतिनिधित्व करता है। पति के प्रति सर्वथा समर्पिता पत्नी एकनिष्ठता की साकार स्वरूप हो गयी थी। सीता के अपहरण के पश्चात् उसका जो व्यक्तित्व निखरा था, उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग उसके सतीत्व और शील से सम्बन्धित रहा। वाल्मीकि ने बड़ी ही भावपूर्णता के साथ इस मर्म को प्रकट किया है—

चरणेनापि सव्येन न स्पर्शयेत् निशाचरम्।
रावणं कि पुनरहं कामधेयं विगर्हितम्॥

सीता रावण से प्रेम करना तो दूर, बायें पैर से भी उसे स्पर्श करना घृण्य समझती हैं।

नारी की इस महती समर्पण भावना के प्रत्युत्तर में भी पुरुष का व्यवहार और धारणा किस प्रकार की होती—इस पक्ष का चित्रण करते हुए वाल्मीकि ने व्यक्त किया है कि यदि रावण ने इन्हें (सीता को) छू लिया तो इसमें इनका क्या दोष ! उन्होंने तो अपना हृदय सदा ही राममय बनाये रखा। उन्हें इस बात का

बड़ा खेद है कि राम ने क्रोधावेश में उनके स्त्रीत्व के दुर्बल अंश को सामने कर लिया है और उनके पातिव्रत्य के सबल अंश को पीछे धकेल दिया है—

मदधीनं तु यत् तन्मे हृदये त्वयि वर्तते।
पराधीनैष्व गात्रेषु किं करिव्याम्पनीश्वरा॥

त्वया तु नर शार्दूल ! क्रोधमेवानुवर्त्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥

न प्रमाणीकृतः पाणिर्वात्ये बालेन पीड़ितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्॥

सती-साध्वी नारी के मन में ही ऐसे प्रतिक्रियात्मक भावों का उद्रेक सम्भव है। सीता को शील के क्षेत्र में तत्कालीन नारी वर्ग की प्रतिनिधि माना जा सकता है।

आदर्श पत्नी का यह आध्यात्मिक कर्त्तव्य था (अधिकार भी) कि वह धार्मिक कृत्यों में सहधर्मिणी बनकर पति का सहकार करे और उसे यज्ञों के माध्यम से देवऋण से और सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्त करे। पत्नी के सक्रिय सहकार के बिना पति का उऋण होना सम्भव नहीं है। वाल्मीकि रामायण के ऐसे उल्लेखों से दाम्पत्य जीवन में नारी की महती स्थिति का आभास स्पष्टतः हो जाता है।

दशरथ अपनी रानियों के संग बैठकर यज्ञ करते थे। बाली के मरण पर उसकी पत्नी तारा कहती है कि आपने युद्ध-यज्ञ का स्नान मेरे बिना कैसे कर लिया। राम ने अश्वमेध यज्ञ किया था और इसके पूर्व सीता का पुनर्वनवास हो गया था। श्रीराम ने सीता की स्वर्ण प्रतिमा संग रखकर यह यज्ञ किया। पत्नी की अनुपस्थिति में पति यज्ञ-क्षमता नहीं रखता था, किन्तु पति यदि अन्यत्र व्यस्त हो, अनुपस्थित हो, अथवा असमर्थ हो तो पत्नी स्वयं एकाकी अवस्था में भी यज्ञ कर सकती थी। तारा ने ऐसी स्थिति में ही बाली हितार्थ यज्ञ किया था। अन्य परिजनों के हितार्थ भी स्त्रियाँ एकाकी और स्वतंत्र रूप में यज्ञ किया करती थीं; यथा—माता कौशल्या ने राम के श्रेयार्थ यज्ञ किया था। स्त्रियाँ पितरों के तर्पण करने की शक्यता भी रखती थीं। राज्याभिषेक पति का ही नहीं, पत्नी का भी साथ ही साथ किया जाता था। पति के निधन पर विधवा पत्नी पति के अन्तिम संस्कार में भी सम्मिलित हुआ करती थी। राजा दशरथ की पत्नियों ने श्मशान कार्य सम्पन्न किये थे। तारा के लिए भी ऐसा ही वृत्तान्त मिलता है। शवयात्रा में स्त्रियाँ आगे चला करती थीं चाहे अन्य अवसरों पर वे पुरुषों का अनुगमन किया करती हों।

रामायणकाल में पत्नी के लिए पतिव्रता होना एक सहज धर्म ही हो गया था। स्त्रियों के लिए पति ही देवता होता था। पति के लिए 'पति परमेश्वर' जैसी संज्ञा संयुक्त रूप में प्रचलित हो गयी थी। पति ही पत्नी की एकमात्र गति माना जाता था। पत्नी स्वयं को पति की सहधर्मिणी और दु:ख-सुख में उसकी सहचरी मानती थी। परलोक के लिए भी वे स्वयं को अपने पति की सहवर्ती मानती थीं। सीता को हार्दिक विश्वास था कि मरणोपरान्त भी उनका पुनर्संगम श्रीराम से ही होगा। धार्मिक कार्यों का पत्नी की अनुपस्थिति में सम्पन्न होना अशक्य था। सामाजिक, राजनैतिक कार्यों में ही नहीं; पुरुष को गृहपति के रूप में अपने दायित्व पूर्ण करने में भी पत्नी का सहयोग प्राप्त रहता था। वे अपने परामर्श से राजनैतिक स्थितियों तक को प्रभावित-परिवर्तित कर उन्हें उत्तम बना देती थीं। सीता के जीवन में भी ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं। युद्ध में भी पत्नी पति-संगिनी रहती और सार्थक भूमिका निभाती थी। रानी कैकेयी राजा दशरथ के साथ उन्हीं के रथ में आरूढ़ होकर युद्ध क्षेत्र में गयी। रथचक्र के भग्न होने के कारण संकट की घड़ी में भी अपने प्राणों को जोखिम में डालकर भी उसने पति की जीवन-रक्षा की थी।

इस युग में पति के महत्त्व का प्रतिपादन भी पत्नी के सन्दर्भ में पर्याप्तत: हुआ। माना जाता था कि जैसे तारों के अभाव में वीणा और चक्रों (पहियों) के अभाव में रथ—वैसे ही पति के बिना पत्नी क्रिया और कृतित्व से हीन रह जाती है। उसकी नियति पति के प्रारब्ध से जुड़कर एक-रूप हो जाती है। यह भी कहा गया है कि स्त्री की शोभा आभूषणों से भी अधिक अपने पति से होती है। वनवास के लिए प्रस्थान करते समय श्रीराम ने अपनी माता कौशल्या को जो उपदेश दिया—उससे नारी-आदर्शों की पुनर्स्थापना हुई। उन्होंने कहा कि स्त्री के लिए पति ही देवता, गुरु, गति, धर्म, प्रभु और सर्वस्व है। अत: पति में एकान्त निष्ठा ही पत्नी का धर्म है। पति-चरणों की सेवा का सुख-रिद्धि-सिद्धियों के सुखों से भी अधिक श्रेयस्कर होता है। माता-पिता, पुत्रादि सीमित सुख दे पाते हैं, पति ही अमित सुख का स्रोत होता है—

"स्त्रियं भर्ता ही देवतम्"....."
मितं ददाति हि पिता, मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥

लगभग इसी आशय की सीख अनुसूया द्वारा सीता को भी दी गयी और श्रीराम के उपदेशों को विस्तार देते हुए सीता ने भी उक्त कथन किया। महाभारत, मत्स्यपुराण आदि ग्रन्थों में भी ऐसे कथन हैं।

इससे इस आदर्श की महत्ता स्वयंसिद्ध है। वाल्मीकि कृत रामायण में यह भी कहा गया है—

भर्तुः शुश्रुषया नारी लभते स्वर्गभूतलम्।
अपि या निर्नमस्कारा निवृता देव पूजनात्॥

पति-सेवा न करने वाली स्त्री जप-तप, व्रतोपवास करके भी नरकगामी होती है और देवाराधन न करने पर भी पति-सेवा से उसे उत्तम स्वर्गलोक मिलता है। गुणहीन पति भी अनुसूया की सम्मति में देवता-तुल्य है। इस आशय के कथन के प्रत्युत्तर में सीता ने गर्व के साथ कहा—मेरे स्वामी तो सर्वगुण सम्पन्न हैं—यदि वे शीलरहित और दुष्चरित्र भी होते तब भी मैं उनकी सेवा में ही रत रहती। अन्यत्र भी वर्णित है—"**पति शुश्रुषान्नार्यास्तपानोन्यद्विधीयते**"; अर्थात् स्त्री के लिए पति-सेवा से बढ़कर अन्य कोई तप नहीं। स्त्री को शौर्य, पराक्रम, साहस की प्रतिमा रूप में भी वाल्मीकि ने चित्रित किया। सीता स्व-कष्टों में तो सहिष्णु रहती ही है; वह पति के कष्ट-निवारण के उद्योग में भी प्रवृत्त रहती है। राम के प्रति उनका कथन है—"मैं वन में आपके मार्ग के कंकड़ हटाती हुई, आपके आगे-आगे चलूँगी। ऐसी सीता का पुनर्वनवास कितना दुःखद प्रसंग जनसामात्य के लिए हो सकता है, किन्तु स्वयं सीता ने पति-आज्ञा को तत्परतापूर्वक स्वीकार किया। इस प्रसंग ने भारतीय नारी की प्रश्नहीन निष्ठा, कष्ट-सहिष्णुता और तितिक्षा भावना की उच्चता को दृढ़तापूर्वक सुस्थापित किया है और भावी नारियों के लिए सन्मार्ग सुझाया है। सीता रामायणकालीन नारी-आदर्शों की सजग प्रहरी थीं। उनके आचरण और विचार तत्कालीन नारी समाज के सद्गुणों के प्रतीक माने जा सकते हैं। नारी, सीता के माध्यम से ममता, मांगल्य और मंजुलता का कोष चित्रित हुई है। वह पुरुष का सहारा ही नहीं, उसके लिए प्रकाश-स्तंभ भी है। उसमें सहज व्रीड़ा, संकोचशीलता, श्रद्धा, स्नेह, माधुर्यादि नारी सुलभ स्वाभाविक गुण थे। इन समस्त महिमाओं से मंडित जानकी महान नारियों—शची, रोहिणी, सावित्री, दमयन्ती में भी शीर्ष स्थान की अधिकारिणी है। पतिदेव राम के लिए वन के समस्त कष्टों को सहर्ष सहन करने को तत्पर सीता के लिए सभी अवस्थाओं में पति-सेवा ही सदा श्रेष्ठ रही है। श्रीराम के बिना उन्हें स्वर्ग-लाभ भी स्वीकार्य नहीं—"**यस्वया सह स स्वर्गा निरयो यस्त्व्या विना।**" पुरुष के साथ सदा-सर्वदा रहने वाली उसकी परछाईं भी अंधकार में उसका संग छोड़ देती है; किन्तु विपत्तिकाल में सीता श्रीराम का साथ निभाती है।

रावण द्वारा अपहृत सीता पर तो विपत्तियों का पर्वत ही टूट पड़ा था, किन्तु यही उसकी परीक्षा की घड़ी भी थी। राक्षसराज रावण के प्रलोभनों को ठुकराकर उसने एकनिष्ठता, अनन्यता और राम के लिए सभी कष्टों को सहन कर लेने के संकल्प का परिचय दिया था। रावण द्वारा दी गयी यातनाओं से भी वह भयभीत और विचलित नहीं हुई और न ही उसे लंका का वैभव पति-विमुख कर सका। सीता तो उसे धिक्कारपूर्वक यह कह देती है—"मैं तो पुरुष-सिंह राम की अनुवर्तिनी हूँ, तू गीदड़ मुझ सिंहनी को प्राप्त करना चाहता है।" अग्नि-परीक्षा से सर्वथा पवित्र सिद्ध हो चुकी जानकी का भी पति श्रीराम ने लोकापवाद के भय से परित्याग कर दिया था, किन्तु इस कारण भी सीता की पतिभक्ति और श्रद्धा विचलित नहीं हो सकी। ऐसा पावन सिया-चरित युग-युगों की नारियों के लिए शील का आदर्श क्यों न बने !

ऐसी सन्नारियों के वर्चस्व में भी स्वतः वृद्धि हो जाती है। पतिगृह-स्वामी होते हुए भी स्वेच्छापूर्वक ऐसी पत्नियों के स्नेहाधीन हो जाते हैं। पति के मन पर पत्नी शासन करने लग जाती है। श्रीराम भी सीता के कंचनमृग का आखेट करने का आग्रह अस्वीकार्य नहीं मान सके। कैकेयी ने भी पति दशरथ की शासिका होने का खूब परिचय दिया। वनगमन के समय राम का अनुगमन न करने वाले अयोध्यावासियों की भर्त्सना उनकी पत्नियों द्वारा हुई थी। पत्नियाँ पतियों को समरांगण हेतु प्रस्थान के लिए भी प्रेरित करती थीं और योद्धापति अपनी पत्नियों से भर्त्सना पाने के भय से युद्धभूमि में शत्रुओं को पीठ नहीं दिखाते थे—इन प्रवृत्तियों का भी रामायण में प्रचुर चित्रण हुआ है।

रामायणकाल में भी स्त्रियाँ सौन्दर्यप्रिय हुआ करती थीं। रंग-बिरंगे, रेशमी, सूती व ऊनी वस्त्रों का प्रयोग होता था। उत्तरीय और अधोवस्त्र—दो भागों में पोषाक रहा करती थी। सिलाई का प्रचलन भी था। आभूषणों का उपयोग भी होता था जो सौन्दर्य-वृद्धि के साधन थे, किन्तु पति ही पत्नी का एकमेव प्रमुख भूषण होता था। शृंगार प्रसाधनों और आभूषणों से पत्नी का तन और अधिक कमनीय और रमणीय हो उठता था, किन्तु पतिरायणता का अभाव हो तो ये सारे भूषण दूषण होकर रह जाते हैं—ऐसी मान्यता थी। इसी से उसके मुख पर हर्षाभा और मुस्कान रहती—उसकी शोभा द्विगुणित हो जाती थी। पति का सुख ही पत्नी को सर्वोच्च रूप में काम्य रहता था। इसके लिए माना जाता था कि हँसमुख स्वभाव, प्रगाढ़ अनुरक्ति और मृदु-मधुरभाषिता स्त्री के लिए अत्यावश्यक तत्त्व थे। ये ही उसके शृंगार प्रसाधन, सच्चे अर्थों में हो जाते थे। विनम्रता उसमें देवित्व के गुण भर देती थी।

रामायणकाल में स्त्रियाँ सदा पति-हितकामी रहा करती थीं। तदर्थ वे व्रत-उपवास करतीं, धार्मिक अनुष्ठान करतीं, दानादि भी किया करती थीं। आदर्श पत्नी अपना हृदय अपने पति के हृदय से जुड़ा रखती थी। वशिष्ठ जी ने तो इस आन्तरिक सामीप्य के आधार पर कहा है कि "पत्नी ही पति की आत्मा होती है।"

रामायणकालीन आदर्श पत्नी के स्वरूप का मूल तत्त्व यही स्वीकारा जाता था कि वह पति के सुख की स्रष्टा बनी रहे। तदर्थ उसमें शारीरिक मनोज्ञता और नैतिक सदाशयता के गुणों की अपेक्षा अनिवार्य मानी जाती थी। आदर्श पत्नी में दासी, सखी, भार्या, भगिनी और माता के गुण एक साथ विद्यमान हों—यह आवश्यक माना जाता था। दशरथ ने कौशल्या में यह सम्मिलित स्वरूप दृष्टिगत होते पाया—

यदा यदा ही कौशल्या दासीवच्च सखीव च।
भार्यावद् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति॥

पत्नी का जहाँ पति-समर्पिता स्वरूप रामायणकालीन आदर्श रहा, वहाँ नारी का ओज और तेजस्विता भी अपने स्थान पर आवश्यक भी और नीतियुक्त भी मानी गयी है। पति के विपथगामी हो जाने की घड़ियों में उनकी भर्त्सना करने के अपने अधिकार का नारी ने बड़ी सतर्कता के साथ सदुपयोग किया है और उसका निमित्त या हेतुक मात्र यही रहा है कि पति को दोषमुक्त कर पुनः सन्मार्ग पर आरूढ़ कर दिया जाये। ऐसे अवसरों पर ओजस्विनी नारी का अपना असंतोष, आक्रोष और खिन्नता प्रकट करना स्वाभाविक ही है। अपने वचन से हटते देखकर कैकेयी ने दशरथ को बुरा-भला कहा, शूर्पणखा ने रावण को कर्त्तव्य-विमुख और कायर कहा। दशरथ की अपने प्रति की गई उपेक्षा की चर्चा कौशल्या ने श्रीराम के सम्मुख की। श्रीराम को वन भेज देने पर उन्होंने दशरथ से तीखे वचन भी कहे। यहाँ नारी-गरिमा का परिचय कौशल्या के इस व्यवहार से भी मिलता है कि जब दशरथ ने अपने किये पर क्षमायाचना की तो कौशल्या को भी पश्चात्ताप होता है और अपने वचनों के लिए वह दशरथ से क्षमा याचना करती है। उनकी मान्यता है कि यदि पत्नी पति से अनुनय-विनय करवाती है तो वह दोनों लोकों से जाती है।

❑ पति के कर्त्तव्य पत्नी के प्रति

रामायणकाल में पत्नी के लिए ही कर्त्तव्यों और मर्यादाओं का विधान नहीं था; अपितु पतियों के लिए भी आचरण के आदर्श थे। पत्नी की गरिमा और

गौरव का निर्वाह निरन्तरित रखना पति का कर्त्तव्य होता था। पति पत्नी के साथ व्यवहार में शिष्टाचार का पालन करता और पति पत्नी की अभिलाषा-पूर्ति में पीछे नहीं रहता। पत्नी के प्रति पति के तीन सर्वप्रमुख कर्त्तव्य थे—

(१) पत्नी का भरण-पोषण करना।

(२) स्त्रीधन का उपयोग न करना।

(३) दाम्पत्य सम्बन्धी एकनिष्ठता का पालन करना।

पुरुष पत्नी का पालन करने के कारण ही 'पति' और उसका भरण करने के कारण ही 'भर्ता' कहलाने की पात्रता रखता है—

"भार्याया भरणाद् भर्ता, पालनाच्च पतिः स्मृतः॥"

पुरुष का पुरुषार्थ ही इसी में था कि वह पत्नी के लिए अशन-वसन (भोजन-वस्त्र) की सुविधा सुलभ कराए, उसके सुख का ध्यान रखे, उसका संरक्षण और सुरक्षा करे और अपने प्रीतिपूर्ण व्यवहार से उसे सदा प्रसन्न रखे।

पत्नी-अर्जित धन या स्त्रीधन को अपनी जीविका का आधार मानने वाले पतियों को तत्कालीन समाज आदर की दृष्टि से नहीं देखता था। वे महा घृणित समझे जाते थे। एक पत्नीव्रत पति के सदाचरण का मूलाधार माना जाता था। पति के मानस में पत्नी का आदरणीय स्थान रहा करता था। पत्नी के सद्परामर्श उसके लिए ज्ञातव्य रहा करते थे—उन्हें पालनीय माना जाता था। अमुक परामर्श पति के लिए अशम्य रह जाता तो भी पति के सदायशतापूर्ण व्यवहार में कोई कमी नहीं आती। मन्दोदरी की सम्मति रावण ने चाहे अमान्य कर दी हो, किन्तु उसने पत्नी को अप्रिय वचन नहीं कहे।

पति का आदर्श और कर्त्तव्य यह भी था कि वह एक-दारा-रत रहे। उसके जीवन में अन्य किसी प्रेयसी का प्रवेश न हो। उसकी अनुरक्ति अपनी पत्नी के प्रति ही रहे। राम की महानता के लिए जो आधारभूत गुण थे, उनमें इस गुण की भी प्रधानता रही है। वे अनन्यभाव से सीता के साथ प्रीति रखते थे। पर-स्त्री सेवन महापाप माना जाता था। इस प्रकार तो पत्नी के अधिकारों का हनन कर वह दुष्टात्मा ही सिद्ध होता था। पत्नी के सम्मान को आदर्श पति द्वारा रक्षणीय माना जाता था। विराध्य द्वारा सीता का स्पर्श, श्रीराम को पितृ-मरण और स्व-राज्यच्युति से भी अधिक दुःखकर प्रतीत हुआ। पत्नी के सम्मान की रक्षार्थ पति प्राणों की बाजी लगा देते थे। राम-रावण युद्ध के पीछे सीता की सम्मान-रक्षा का ही मूल प्रश्न था।

स्वाभाविक रूप से ही स्त्री समाज में सम्मान की पात्र मानी जाती थी। श्रीराम ने संकेतित किया था कि नारी के सम्मान की प्रथम रक्षिका वह स्वयं है। न घर, न वस्त्र, न दीवारें, न राजसत्कार किसी स्त्री के सम्मान की रक्षा कर सकता है। उसका सदाचरण ही उसका रक्षक है। सदाचारिणी स्त्री सर्वत्र वंदनीय-पूजनीय हो जाती है। पतिव्रता अनुसूया सर्ववन्दनीय थी। नारी के लिए उस युग में देवी, कल्याणी, भद्रे, सुभगे जैसे आदरणीय सम्बोधनों का प्रयोग नारी के प्रति सम्मान की सामाजिक प्रवृत्ति का द्योतक है। नारी के साथ वार्त्तालाप में भी पुरुष शिष्ट, मृदु और मधुर भाषा का प्रयोग करता था, सम्मानसूचक व्यवहार करता था। बद्धकरों को मस्तक तक पहुँचाकर हनुमान और विभीषण सीता से वार्त्तालाप करते थे। रथारूढ़ होते समय स्त्रियों को पहले अवसर दिया जाता और सुखद स्थान दिया जाता था। बिना पूर्व सूचना और अनुमति के सहसा स्त्रियों के सम्मुख पहुँचाना पुरुषों के लिए अशिष्टता माना जाता था। स्त्रियों को घूरना भी वर्जित था। पति के साथ न होने की अवस्था में स्त्री से अकेले में बात करने में भी मर्यादाहीनता मानी जाती थी।

स्त्री-वध सर्वथा वर्जित था। जब नारी के प्रति व्यवहार में कठोरता भी निन्दनीय मानी जाती थी, तब स्त्री-वध का तो विचार आना ही असंभव है। जिन अपराधों के लिए पुरुषों को मृत्युदण्ड दिया जा सकता था, स्त्रियों को केवल कुरूप कर दिया जाता था। मानवता की रक्षा के लिए जब अन्य कोई मार्ग ही शेष न रह जाय, तभी स्त्री-वध को शक्य माना जाता था।

स्त्री-अवमानना के विविध पक्ष

रामायणकाल में नारी स्वाधीनता, गौरव, महिमा, वर्चस्व और सामाजिक सम्मान से मंडित रही है—इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। तथापि श्वेत-श्याम पक्षों का युग्म रहता ही है। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या उस काल में कतिपय ऐसी प्रथाएँ या परम्पराएँ भी थीं कि जिनके कारण नारी-जाति के गौरव की किसी सीमा तक हानि हुई हो, उनका सामाजिक स्तर पर अवमूल्यन हुआ हो। क्या रामायणकाल में पर्दा-प्रथा जैसा कोई प्रतिबंध रहा? क्या पुरुषों द्वारा कभी उन्हें हेय और तुच्छ भी समझा गया? क्या वे मात्र विलास-सामग्री के समान समझी गयीं? क्या उन्हें उपहार में दिये जाने योग्य माना गया? क्या उनका अपहरण किया जाता था? क्या गणिका जैसा गर्हित रूप भी नारी का रहा? क्या उनकी स्वाधीनता को सीमित किया गया था? आदि-आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो नारी के गौरव को प्रभावित करने वाले हैं। इस दृष्टि से इन पर सम्यक् रूप में विचार किया जाना भी प्रासंगिक ही है।

पर्दा-प्रथा

भारतीय समाज में मध्यवर्ती काल में पर्दा-प्रथा व्यापक और सुदृढ़ रूप से प्रचलित रही, किन्तु प्राचीनकाल में इसका आरम्भ भी नहीं मिलता। वेदकाल में तो केवल इतना था कि कुलीन स्त्रियाँ घर के बाहर जब भी निकलतीं तो एक अतिरिक्त उत्तरीय या चादर से देह को आवृत कर लेती थीं। रामायणकाल में भी स्त्रियों के लिए पर्दे में रहने का विधान नहीं मिलता; हाँ, राक्षस स्त्रियाँ किसी सीमा तक इसकी अपवाद कही जा सकती हैं। पर्दा-प्रथा भी स्त्री-स्वातंत्र्य पर एक आघात कही जा सकती है।

स्त्री में स्वाभाविक रूप में व्रीड़ा का भाव, सलज्जता या संकोच की एक आन्तरिक प्रवृत्ति रहती है। यही उसके अवनत नयन और विहार-सीमन के रूप में प्रकटत: परदे के रूप में दिखायी देती है। स्त्री तब अवगुंठन (घूँघट) या यवनिका में रहती है, अथवा उसे रखा जाता है। रामायणकाल में राम-सीता के वनवास प्रसंग में एक स्थल पर खेद व्यक्त करते हुए वाल्मीकि ने वर्णित किया है कि जिस (सीता को) नभचर भी देख नहीं पाते थे, उसे आज पथचर देख रहे हैं। इस कथन से पर्दा-प्रथा के अस्तित्व का संकेत मिलता है, किन्तु इसे राजसी जीवन की भव्यता का सूचक ही अधिक कहा जा सकता है। अन्यथा राजमहिषियों के लिए भी यवनिका अथवा अवगुंठन की प्रतिबद्धता नहीं रही। सामान्यत: अन्त:पुर में ही राज-नारियाँ रहा करती थीं। अकारण और निरुद्देश्य विचरण नहीं हुआ करता था। केवल अति विशिष्ट अवसरों पर वे बाहर आतीं; जैसे यज्ञ, महोत्सव, स्वयंवर, विवाह समारोहादि। अवगुंठनहीन अवस्था में ही स्त्रियाँ इन अवसरों पर रहती थीं। सीता का सहचरी के रूप में श्रीराम के साथ वनवास जीवन में उन्हें कहीं अवगुंठनवती रूप में नहीं देखा गया। श्रीराम से अनुनय-विनय करने के प्रयोजन से दशरथ-रानियाँ चित्रकूट गयीं—तब भी वे यवनिका में नहीं थीं। अवगुंठनहीन रूप में ही तारा ने भी लक्ष्मण जी से भेंट की थी। रावण-वध के प्रसंग में वर्णित हुआ है कि मन्दोदरी आदि रावण की रानियाँ अवगुंठन हटाकर रुदन-क्रन्दन करने लगीं। विभीषण ने सीता को राम के पास भेजा, तब भी उसने अपने समाज की प्रथानुसार पर्दे में भेजा। राक्षस-समाज में इन प्रकरणों से पर्दा-प्रथा की सजीवता का संकेत मिलता है।

राजमहिषियाँ अन्त:पुर में सर्वथा स्वच्छन्द जीवन बिताती थीं, किन्तु कोई पुरुष पूर्व सूचना एवं अनुमति के बिना अन्त:पुर में प्रवेश नहीं पा सकता था। इसी प्रकार अपने पति की उपस्थिति में पर-पुरुष के समक्ष स्त्री का आना भी न

वर्जित था, न ही इसमें कोई दोष माना जाता था। मनोवैज्ञानिक आधार खोजा जाय तो पर्दा-प्रथा का हेतु एक यह भी रहा कि नारी की अस्मिता को, उसके निर्मल रूप को दुष्टों की कुदृष्टि से रक्षित रखा जाय। यदि यह आधार पर्दा-प्रथा के लिए स्वीकार्य रहे तो यह तथ्य भी हमारे समक्ष आता है कि ज्यों-ज्यों नारी की सबलता और आत्मरक्षा की क्षमता कम होती गयी, त्यों ही त्यों पर्दा सबल होता गया। रामायणकाल में तो नारी अपनी रक्षार्थ समर्थ थी। उसका चरित्रबल ही उसका समर्थ रक्षक हो जाता है। अपने सतीत्व के तेज से ही रावण-राज्य में सीता ने अपनी पवित्रता की रक्षा कर ली थी। स्त्री की यही आन्तरिक सबलता उसे किसी भी कुदृष्टि से दूर रखती है—अवगुंठन जैसे बाह्य साधनों का प्रयोजन स्वत: पूर्ण हो जाता है, भौतिक रूप में अवगुंठन, यवनिकादि की अपेक्षा ही समाप्त हो जाती है। रामायणकाल में अपनी इसी अन्तस की शक्तिमत्ता के आधार पर स्त्री के स्वातंत्र्य पर कोई रोक-टोक आवश्यक ही अनुभव नहीं की जाती थी। वह धार्मिक समारोहों, सामूहिक भोजों, क्रीड़ादि आयोजनों, कलाप्रदर्शनों में स्वंतत्रतापूर्वक सम्मिलित होती ही थी। मंगलावसरों पर कन्याओं का आगे-आगे चलना, अथवा स्त्रियों द्वारा पुष्प वर्षा आदि के अंकित दृश्य स्त्री को शेष समाज से अलग-थलग सिद्ध नहीं करते। पर्दे की व्यापकता या दृढ़ता से यह सम्भव नहीं रह पाता। स्त्रियाँ अपने पति के साथ इस अवगुंठनहीन अवस्था में परिवार और समाज में विहार करती थीं। गुरुजनों (बड़े-बूढ़ों) के समक्ष उपस्थित होने में भी उन पर कोई रोक नहीं थी। सीता श्रीराम के संग अपने परिवार के अग्रजों-बुजुर्गों के पास वनगमन के पूर्व अनुमति माँगने को गयी थीं। वनवासकाल में भी श्रीराम के संग सीता भारद्वाज ऋषि, अगस्त्य मुनि आदि के आश्रमों में गयीं। रावण साधुवेश में जब कुटीर पर आया तो सीता ने उसका उचित सत्कार किया था। आहत जटायु को सीता ने स्पर्श कर उसे सान्त्वना दी। इन प्रसंगों से प्रकट होता है कि नारी स्वातंत्र्य पर रामायणकाल में कोई बाह्य प्रतिबंध पर्दे के नाम से भी न था।

नारी पर पुरुष वर्चस्व का प्राबल्य !!

रामायणकाल में प्राय: स्त्री-पुरुष युग्म को इकाई रूप में तो मान्यता प्राप्त थी, किन्तु इस इकाई के घटक रूप में होते हुए भी स्त्री की अपनी स्वतंत्र स्थिति भी थी। स्त्री पुरुष के व्यक्तित्व में सर्वथा समाहित होकर स्वयं नगण्य नहीं हो गयी थी और पुरुष उसका अमर्यादित नियन्ता हो गया हो—ऐसा भी नहीं था। यह तो परवर्तीकाल में स्त्री के दुर्बल होते जाने के कारण वह आत्मरक्षार्थ

पुरुषाश्रम की अपेक्षा करने लगी और पुरुष पक्ष भी क्रमशः हावी होता चला गया। स्मृतिकाल में तो यह सिद्धान्त ही बन गया—"**न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।**" तब यह माना जाने लगा कि स्त्री का पिता, पति, पुत्रादि के संरक्षण में रहना ही उचित है। रामायणकाल में स्थिति ऐसी नहीं रही—तथापि नारी-वर्चस्व में ह्रास आने लगा और पुरुषों की साधिकारता में अभिवृद्धि होने लगी।

नारी इस युग में भी इतनी वर्चस्वनिम्ना होने लग गयी थी पुरुष का उस पर सम्पत्तिवत् अधिकार या स्वामित्व-सा स्थापित हो गया। सम्पत्ति की ही भाँति पुरुष द्वारा उसका आदान-प्रदान किया जाता था। स्त्री को दान-उपहार में दिया जाता था। रावण-बालि मैत्री अनुबंध में स्थिर हुआ था कि स्त्रियाँ दोनों की सामान्य सम्पत्ति मानी जायेंगी। पिता की आज्ञा से तो मैं राज्य ही क्या, पत्नी भी भरत को दे सकता हूँ—श्रीराम के ये वचन भी ज्ञातव्य हैं। यह समाज व्याप्त सामान्य मान्यता थी कि यदि पत्नी को नियंत्रण और देख-रेख में न रखा जाय तो वह मातृकुल, पितृकुल और पतिकुल के लिए कलंक का कारण बन सकती है। वाल्मीकि रामायण में भी ऐसे कथन हैं। पति के अनिवार्य कर्त्तव्यों में यह एक प्रमुख कर्त्तव्य माना गया कि उसे पत्नी का रक्षण करते हुए उसके योगक्षेम का वहन करे। अधिकार-सम्पन्नता में बढ़ोत्तरी के परिणामस्वरूप पति की दृष्टि में पत्नी का तुच्छ होना भी सहज ही स्वाभाविक है। वह यह मान सकता है कि पत्नी मेरे अधिकार की वस्तु है, उसके साथ मैं जैसा व्यवहार करना चाहूँ—वैसा कर सकता हूँ। वह उसके लिए नगण्य-सी हो जाती है। अनुज लक्ष्मण जब शक्ति-आघात से मूर्च्छित हो गये तो श्रीराम सशोक विलाप करते हुए यह भी कहते हैं कि स्त्री और बांधव तो सर्वत्र मिल जाते हैं, किन्तु सहोदर नहीं मिल सकता। आत्मसम्मान की रक्षार्थ उन्हीं श्रीराम ने लोकापवाद के भय से सीता का परित्याग भी कर दिया। ऐसे प्रसंगों से रामायणकालीन नारी के गौरव में आए ह्रास का परिचय मिलता है।

नारीत्व पर पुरुष वर्चस्व की प्रबलता ने ही पुरुष को प्रेरित किया कि वह स्त्री को भोग्या माने, विलास की वस्तु से अधिक उसकी महत्ता स्वीकार ही न करे। स्त्रियाँ उपहार-भेंट में दी जाती थीं, राक्षसों के द्वारा नारी-अपहरण एवं शीलभंग, मृत भाई की भार्या से विवाह कर लिया जाता था। देवतागण मर्त्यलोक की सुन्दरियों के प्रति आकृष्ट रहते, मर्त्यलोक के नर अप्सराओं के संग प्रणय के लिए लालायित रहते थे। इन प्रवृत्तियों से पुरुष स्वयं यही प्रमाणित करता था कि स्त्री उसके लिए भोग की सामग्री मात्र है और इस प्रकार नारी-गौरव की अवमानना ही होती थी।

इस दृष्टि से यह भी ज्ञातव्य है कि कन्यादान तो पिता द्वारा किया ही जाता था, किन्तु साथ ही अनेक कन्याएँ और दासियाँ उपहार में दी जाती थीं। वनगमन को तत्पर श्रीराम ने ऋषि को उपहार में अनेक कन्याएँ दीं। दशरथ के श्राद्ध में भी ब्राह्मणों को दान में अनेक कन्याएँ दे दी गयीं। ये प्रदत्त कन्याएँ अपने नये स्वामी के घर में दासीवत् सेवा-कार्य करतीं और सर्वथा गौरवहीन जीवन व्यतीत करतीं। अश्वमेध यज्ञों में तो पुरोहितों को राजा अपनी रानियाँ भी दान करते थे। यह भी मात्र औपचारिकता थी। वास्तव में तो पुरोहितों को धन-धान्य से ही संतुष्ट करना पड़ता था। उपहार में दी गयी कन्याओं से भी यौन तृप्ति का प्रयोजन नहीं रहता था। अत: स्त्रियों के नैतिक मान-सम्मान को ठेस नहीं लगती, तथापि उन्हें आदान-प्रदान के योग्य माना जाना भी उनके गौरव और मर्यादा को निम्न तो कर ही देता था।

अपहरण किये जाने से भी नारी की अस्मिता पर विपरीत प्रभाव आता था, किन्तु यह पुरुष की दुष्प्रवृत्ति मानी जाती थी और निन्दनीय भी। विभीषण ने सीताहरण पर रावण से कहा कि उसका यह दुष्कृत्य धर्म और अर्थ का विनाशक है। उस युग में पर-स्त्री पर कुदृष्टि रखने वाले को भी देश निकाले का दंड मिलता था। चाहे वह राजकुमार ही क्यों न हो। अपहरण जघन्य अपराध माना जाता था और इसके परिणाम में सर्वनाश ही होता था। मन्दोदरी ने रावण को सचेत किया था कि पतिव्रता के आँसू व्यर्थ नहीं जाते। वास्तव में सीतापहरण के कारण ही रावण का मरण और लंका का सर्वनाश हुआ। रामायणकाल में इस प्रकार नारी के गौरव की रक्षा के सक्रिय प्रयत्न भी प्रबल रहे। अशुभ को अस्वीकार्य और निन्दनीय भावना अशुभ के निस्तेज होने की प्रक्रिया का एक सशक्त साधन बन गया था।

नारी का परम गौरव : मातृत्व

मातृत्व भारतीय नारी के स्त्रीत्व की चरम परिणति है। मातृत्व से उसके नारीत्व को परिपूर्णता मिलती है। मातृ रूप में ही नारी का परम गौरव निहित रहता है और इसी में उसके जीवन की सिद्धि मानी है। इस सृष्टि को नारी के मातृत्व रूप में एक अत्युच्च वरदान प्राप्त है जो उसके लिए प्राणवायु के समान है। पुत्र रूप में वह पति को ही पुनर्जन्म देती है और यत्नपूर्वक वह उसे पालित-पोषित भी करती है। भारतीय परम्परानुसार रामायणकाल में भी विवाह का चरम और परम लक्ष्य सुयोग्य सन्तति (पुत्र) की प्राप्ति है, अंध-कामोपभोग नहीं। माता का सबसे बड़ा गौरव इसी में माना जाता था कि वह जगत् को क्षमतावान

सद्गुणी, सुयोग्य पुरुष दे। इस प्रयोजन की प्राप्ति के लिए स्त्रियों के साधनात्मक प्रयत्न भी रहते थे—केवल कामना भर नहीं। गर्भकाल में नारी आचार-विचार की पवित्रता का ध्यान रखती थी—जिससे पुत्र संस्कारशील बने। पुत्र पिता के अनुरूप और कन्या माता के अनुरूप होती है। प्रायः यह मान्यता भी थी, तथापि माता ही पुत्र की प्रथम आचार्य हुआ करती थी। वह सद्शिक्षा और प्रेरणा द्वारा बालक को संस्कारशील और सच्चे अर्थों में मानव बनाती थी। माता गर्भकाल में पुत्रहितार्थ वेदों और शास्त्रों का श्रवण-मनन करती थी कि उसका पुत्र त्रिलोकजयी जैसा पराक्रमी हो, मेधावी हो। पुलस्त्य-पुत्र विश्रवा का श्रेष्ठत्व उनकी माता की सद्प्रवृत्तियों का ही परिणाम था। रावण की माता ने अपनी दुष्प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप ही दुर्गुणी सन्तति प्राप्त की। रावण और कुंभकर्ण जैसे दुराचारियों को जन्म देने वाली माता स्वयं अपयश की भागी बनी। सफल मातृत्व सुसन्तति में ही निहित माना जाता था।

माताएँ अपनी सन्तति से अतिशय ममता रखतीं और पुत्रों का माता के प्रति पुण्यभाव की श्लाघनीय रहा करता था। श्रीराम और उनकी माताओं का पारस्परिक व्यवहार तो इस दृष्टि से आदर्श ही हो गया था। कौशल्या तो श्रीराम के वन-गमन पर बछड़े का अनुगमन करने को आतुर गाय की भाँति हो गयी थी। पुत्र के लिए भी माता का आदेश प्रत्येक अवस्था में पालनीय रहता था। कौशल्या-पुत्र राम के वियोग में अन्य रानियाँ भी पुत्रहीन माताओं की भाँति उद्विग्न और दुखित हो उठी थीं। माताएँ पुत्र और पति के प्रेम में से जब कभी किसी एक के ही प्रेम को अपनाने की विवशता में होतीं तो पति-प्रेम को अपनाना ही श्रेयस्कर माना जाता था। पुत्र की अपेक्षा पति को प्राथमिकता और प्रधानता देना भी नारी-आदर्श था। इस आदर्श की अवहेलना करने पर ही कैकेयी निन्दा-भर्त्सना की पात्र हो गयी थी। पुत्र के लिए माता और पिता की आज्ञाओं में भेद होने की स्थिति में पुत्र के लिए मात्राज्ञा की अवहेलना दोष न माना जाकर पित्राज्ञा का अनुसरण करना अपेक्षित माना जाता था। श्रीराम ऐसे व्यवहार के कारण आदर्श पुत्र माने जाते हैं।

मातृत्व नारी-जीवन के लिए बहुत श्रेयस्कर माना जाता था, माता रूप न केवल संतति के लिए; अपितु समग्र समाज के लिए श्रद्धेय माना जाता था। ऐसी स्थिति निस्सन्तानता की स्थिति किसी भी नारी के लिए अतिशय दुःखद हो—यह भी स्वाभाविक ही है। मातृपद पाने को तो प्रत्येक स्त्री में एक स्वाभाविक ललक रहती है और इस उत्कट कामना में जो स्त्री असफल रह जाती, उसके पति के लिए भी यह स्थिति अत्यन्त दुःखदायी होती थी।

विधवाओं की स्थिति

विधवा स्त्रियों की सामाजिक दशा रामायणकाल में वैसी न थी, जैसी वर्तमान में है। वैधव्य नारी जीवन का घोरतम दु:खद पक्ष तो तब भी माना जाता था, किन्तु इस कारण नारी के सामाजिक सम्मान में कोई कमी नहीं आती थी। उन्हें उपेक्षित जीवन जीने को विवश नहीं होना पड़ता था। सामाजिक-धार्मिक, मांगलिक कार्यों में विधवा की उपस्थिति न तो अशुभकर मानी जाती थी, न ही वर्जित। राम-सीता के अयोध्यागमन पर विधवा माताओं ने आरती उतारकर उनका स्वागत किया था। उन्होंने सीता का शृंगार अपने हाथों से किया और श्रीराम का राज्याभिषेक भी किया।

विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा मात्र राक्षसों में थी। अनेक राजाओं का वध कर रावण ने उनकी विधवाओं के साथ विवाह रचाए। वानरों में भी यह प्रथा थी। आर्यों में पुनर्विवाह की कल्पना भी नहीं होती थी। चाहे—"**भयानामपि सर्वेषां वैधव्यं व्यसनं महत्**" वैधव्य को घोरतम विपत्ति माना जाता था, किन्तु इस देवी विपत्ति को सहन करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं था। विधवाओं का जीवन असमाप्य वियोग का एकाकी और अभिशप्त जीवन होकर रह जाता था; किन्तु ऐसी स्त्रियाँ संयम, व्रत, तपादि में बहुत आगे निकल जाती थीं और समाज का अधिक सम्मान उन्हें प्राप्त होता था।

पुनर्विवाह का विधान न होने की दशा में अध्यात्मरत हो जाना विधवाओं के लिए एक मार्ग था; तो सती हो जाने का दूसरा मार्ग भी था। इस मार्ग को अपनाने वाली स्त्रियाँ और अधिक श्रद्धेय हो जाती थीं। विधवाओं के लिए सती होना अनिवार्य होना तो दूर रहा—इस विकल्प को अपनाने वाली स्त्रियों की संख्या ही अत्यल्प रहा करती थी। कैकेयी के प्रति दशरथ का यह कथन कि "मेरी मृत्यु के पश्चात् तू पुत्र के साथ राज करना।" इस तथ्य को प्रकट करता है कि सती-प्रथा सामान्य नहीं थी।

नारी-दोष-निर्देश

रामायणकाल में नारी समष्टि रूप में सामान्यत: वन्दनीय आचरण की रही। हमारे सांस्कृतिक आदर्श उनके आचरण-व्यवहार में ही जीवित रहे और पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ते रहे। विचारणीय प्रश्न यह है कि नारी गौरव से सिक्त इस युग में भी क्या नारी के दोषों, अभावों, विकारों की चर्चा कहीं हुई थी? इस प्रश्न के उत्तर में 'ना' नहीं कहा जा सकता। वाल्मीकि कृत रामायण में नारी के अनेक दोषों का उल्लेख हुआ है। तुलसीदास ने 'मानस' में उन्हें आठ वर्गों में

रखकर वर्णित कर दिया—साहस, अनृत, चपलता, माया, भ्रम, अविवेक, अशौच और अदया।

अपने अबलात्व को विस्मृत कर नारी प्राय: दुस्साहसी होती है। साहस का यह आडम्बर उसी के लिए विपत्ति का कारण बन जाता है। उसे अपनी सत्ता और शक्तिमत्ता का मिथ्याभिमान होता है, जिससे उसमें दुराग्रह और अनर्थकारी दृढ़ता आ जाती है। कैकेयी का दुराग्रह और सीता का स्वर्णमृगार्थ हठ विनाशक ही सिद्ध हुए। दुराग्रह के कारण स्त्री निर्दय और क्रूर हो जाती। उसमें दया का भाव शेष नहीं रहता। वह कटुभाषिणी और पति की भी शासिका हो जाती है। स्त्रियों को स्वभाव से ही अविवेक का घर माना गया। विवेकहीनता के कारण पुत्रवत् देवर लक्ष्मण पर सीता ने सन्देह किया। यही अविवेक स्त्रियों को सुगमता से चपल बना देता है। वे अस्थिरता, उत्सुकता, यौनप्रवृत्ति और पर-पुरुष आकर्षण जैसे दूषणों से घिर जाती हैं। इसके साथ ही अपने इन विकारों के परिणामजन्य तिरस्कार व निन्दा से स्वयं को बचाने के लिए वे माया का आश्रय लेती हैं। वे छल-छद्म और मिथ्याचरण करने लगती हैं। स्त्रियों को रामायण में भी अनैक्य (फूट) की निर्मात्री कहा गया है। सीता के कटु वचनों के उत्तर में लक्ष्मण ने पंचवटी में कहा—स्त्रियाँ भाइयों में अलगाव करा देती हैं—

"विमुक्त धर्माश्चपलास्तीक्ष्ण भेदकरास्त्रिय:।"

विचारणीय यह है कि रामायणकाल में नारियों के इन विकारों की महत्ता कितनी है? वास्तव में रामायण में ये विकार आये अवश्य हैं, किन्तु नारी-चरित्र का यह सामान्य स्वरूप उसमें नहीं रहा। ये अवगुण नारी-जाति के न होकर अमुक नारी-विशेष तक ही सीमित हैं। ऐसी कतिपय स्त्रियों के विकारों के आधार पर तत्कालीन समग्र नारीवर्ग का मूल्यांकन करना—उसका अवमूल्यन करना होगा। अन्यथा; रामायणकाल में, योग रूप में नारी का जो स्वरूप रहा है, उसे देवत्व के समीप का स्वरूप कहा जा सकता है। वह स्वरूप तो ऐसे सद्गुणों से संयुक्त है कि युग-युग में भारतीय नारी का दिग्दर्शक बना हुआ है और इसका यह महत्त्व चिरन्तन है—शाश्वत है।

महाभारतकाल में नारी

रामायणकाल और महाभारतकाल के मध्य लगभग तीन सहस्राब्दियों का अन्तराल माना जाता है। इस दीर्घ कालान्तर में भारतीय जीवन मूल्यों में बड़ा बदलाव आया। राम कहते थे राजा भरत बनेगा, मैं नहीं और भरत कहते थे राम राजा बनेंगे, मैं नहीं। दोनों उस काल में एक-दूसरे के लिए कहते थे—मैं नहीं तुम राजा बनोगे। महाभारत में यह त्यागभावना स्वार्थभावना में ढल गयी। एक भाई (कौरव) दूसरे भाई (पांडव) से कहता था—तू नहीं मैं राजा बनूँगा। ऐसा ही दूसरा भाई भी कहता था। जीवन अध्यात्म से हटकर भौतिक सुखों की ओर अग्रसर होने लगा था। इस सुखोपभोग के लिए मनुष्य नीति-अनीति का भेद भी विस्मृत करता जा रहा था। इस परिवर्तित काल में नारी-गौरव कैसे अपरिवर्तित बना रह सकता था। उसमें भी रामायणकाल की अपेक्षा भिन्नत्व विकसित हो गया था। नारी-स्थिति के इतिहास क्रम में महाभारतकालीन बदलाव एक महत्त्वपूर्ण मोड़ माना जा सकता है। नारी को आदरणीय मानना भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं में से एक है। न्यूनाधिक रूप में यह तत्त्व बना रहा। इससे नारी गौरव की उच्चता में सार्थक रूप से संबल सुलभ रहा।

कन्या का शुभ स्वरूप

नारी जीवन का आरम्भिक चरण कन्या रूप ही होता है। परिवार में वह पुत्री रूप में, समाज में बालिका या कन्या रूप में वह विकास-प्राप्ति के क्रम में बढ़ती रहती है। कन्या-जन्म परिवार में दु:खद नहीं माना जाता था। सभी परिजनों का पावन स्नेह कुलकन्या को प्राप्त होता रहता था। माता-पिता की ममता और वात्सल्य भाव भी पुत्री के लिए बना रहता था। पुत्री के सुख के लिए, उसके हर्ष के लिए माता-पिता कुछ भी करने को तत्पर रहते थे। शुक्राचार्य तो अपनी पुत्री देवयानी की प्रसन्नता के लिए अपने प्राणों को भी संकट में डाल देते हैं। देवयानी के प्रियतम कच का वध कर शत्रुपक्ष उसकी राख को मदिरा में मिलाकर शुक्राचार्य को पिला देते हैं। शुक्राचार्य को जब अपने उदर से कच की वाणी सुनायी देती है तो वे अपना उदर चीरकर उसे देवयानी के हितार्थ बाहर निकाल

लेते हैं। द्रुपद-सुता—द्रौपदी को स्नेहपूर्वक माता-पिता अपनी गोद में बिठाये रखते थे। पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार पुत्री के पक्ष में रहा करता था। महाभारत का यह निर्देश भी है कि पिता को पुत्री से कलह नहीं करना चाहिए।

रामायणकाल की भाँति ही इस काल में भी समाज कन्याओं का मांगलिक स्वरूप स्वीकार किया करता था। उनकी उपस्थिति ही मांगल्य की प्रतीक हो जाती थी। मंगलावसरों पर कन्या-दर्शन शुभ माना जाता था। राज्यारोहण के समय युधिष्ठिर को भी कन्या दर्शन कराया गया था। कार्यसिद्धि के लिए कुमारी कन्याओं द्वारा, कार्यारंभ के समय कर्त्ता का अभिनन्दन कराया जाता था। कन्याएँ भी अपने पितृकुल के लिए सर्वस्व परित्याग को तत्पर रहती थीं। पित्राज्ञा से शर्मिला ने कुल-प्रतिष्ठा की रक्षार्थ देवयानी का आजीवन दासत्व स्वीकार कर लिया था। महाभारत के एक आख्यान में आता है कि एक ब्राह्मण-कन्या बक राक्षस का आहार बन जाने के लिए पिता से आज्ञा माँगती है। महाभारतकालीन कन्याएँ परिजनों, अभिभावकों, समाज का स्नेह और समादर तो प्राप्त करती ही थीं; प्रतिदान में भी वे पीछे नहीं रहती थीं।

कौमार्य-पावनता का प्रश्न

महाभारतकाल में भी कन्या की मांगलिकता का आधार उसका पावन कौमार्य ही था। इस महाकाव्य में इस पावनता का महिमागान स्थान-स्थान पर हुआ है। कहा गया है कि कौमार्य-पतन राज्य के पतन का सशक्त कारण बन जाता है। कौमार्य भंग में यदि कन्या स्वयं सहकारी रूप में प्रतिभागी हो तो उसे ब्रह्म-हत्या के पाप का तिहाई पाप लगता है। कन्या की प्रतिष्ठा हानि का तो अवश्यंभावी दुष्परिणाम होता ही है। कुन्ती, द्रौपदी आदि के कौमार्यावस्था में समागम को अपावन नहीं माना गया, किन्तु अन्य पूर्वा को स्वीकार्य नहीं माना गया। शाल्य द्वारा अम्बा का परित्याग भी प्रसिद्ध है। अर्जुन ने भी मुक्त-पूर्वा को प्राप्त करने वालों की गणना ब्रह्म-हत्या और गो-हत्या करने वालों के साथ की थी।

विवाह संस्कार

रामायणकाल में आठ प्रकार के विवाह संस्कार पूर्व से ही प्रचलित रहे थे और महाभारतकाल में भी ये यथावत् बने रहे। अन्तर यह है कि निम्न और हेय कोटि के विवाहों का प्रचलन रामायणकाल में नहीं, अथवा अत्यल्प हुआ करते थे और महाभारतकाल में उनका प्रचलन कुछ बढ़ गया। ध्यान देने योग्य तथ्य

यह भी रहा कि इस काल में प्रचलन के बावजूद ऐसी दूषित विवाह पद्धतियों के प्रति उच्च भाव नहीं रहा—उनकी निन्दा ही की गयी। गांधर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच विवाह पद्धतियाँ ऐसी ही हीन कोटि में समझी जाती थीं। शल्य-भगिनी माद्री का पाण्डु के संग विवाह-आसुर पद्धति के विवाह का उदाहरण है। सुभद्रा-अर्जुन और अम्बिका-विचित्रवीर्य विवाहों को राक्षस विवाह माना गया। गांधर्व विवाह का स्वयंवर पद्धति में रूपान्तरण हो गया। हिडिम्बा-भीम विवाह गांधर्व पद्धति का विवाह ही था, जबकि कीचक का द्रौपदी के साथ कुदृष्टिपूर्ण अनैतिक प्रयास पैशाच विवाह का प्रयास था।

पति-पत्नी सम्बन्ध

महाभारत महाकाव्य की घोषणा है कि नारी महाभाग्यशीला, पुण्यशीला और पूजा-योग्य है; वह गृह-शोभा होती है। विदुर-नीति के अनुसार पति का व्यवहार पत्नी के साथ बहुत मृदुल एवं मधुर होना चाहिए। वार्तालाप के दौरान पति की वाणी में माधुर्य अनिवार्य है। पत्नी के साथ विवाद करना भी निषिद्ध माना गया है। यह निर्देश भी है कि पति को अतिक्रोधावेश में भी पत्नी के विरुद्ध कोई अप्रिय कार्य नहीं करना चाहिए। महाभारत में उल्लेख है कि "**स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम्**"—स्त्री को गाली देने वाला नरकगामी होता है। पितामह भीष्म ने भी पुरुषों को सन्मार्ग का निर्देश दिया था-"पुरुषों को महिलाओं का सम्मान करना चाहिए, वे मान करने योग्य ही हैं। स्त्री से ही धर्म और रति के कार्य पूर्ण होते हैं। पुरुषो ! तुम्हारी सेवा-परिचर्या उसी के अधीन है। प्रजोत्पत्ति, प्रजापालन और प्रेम का अस्तित्व संसार में पत्नी से ही बने हुए हैं। पत्नी का सम्मान करो। इससे तुम्हारे समस्त कार्य सफल होंगे।"

स्त्रियों का लालन-पालन भी और पूजन करना भी पुरुषों का परम कर्त्तव्य है। महाभारत में एकाधिक स्थलों पर इस आशय के उल्लेख मिलते हैं कि जहाँ स्त्रियाँ पूजी जाती हैं—देवता वहाँ रमण करते हैं। जहाँ इनकी पूजा नहीं होती वहाँ धार्मिक क्रियाएँ भी असफल रह जाती हैं। यह भी कहा गया है कि स्त्रियाँ तो लक्ष्मी का रूप होती हैं। पुरुष चाहे पिता हो, भ्राता हो अथवा पति हो, उसे स्त्रियों को अलंकृत करना चाहिए, आभूषणों से सज्जित करना चाहिए। शकुन्तला द्वारा भी पति के लिए पत्नी का महत्त्व-प्रतिपादन इस प्रकार किया गया—

"पत्नी पुरुष का अर्द्ध भाग है; उसके लिए सर्वोत्तम मित्र है, वही धर्म, अर्थ और काम की मूल है। पत्नी पुरुष के लिए भवसागर पार करने का साधन है। पत्नी वाले पति ही यज्ञ की पात्रता रखते हैं, वे ही गृहस्थी के सुख के उपभोक्ता

होते हैं, श्रीयुक्त होते हैं। प्रियंवदा पत्नियाँ एकान्त में पति-मित्र होती हैं, धर्मकार्यों में पिता और आपदाओं के समय माता होती हैं। वे ही निर्जन गहन वन में विश्राम स्थल हैं। पत्नीयुक्त पति ही विश्वसनीय होता है। इसलिए दारा ही परम गति है। पति को आत्मरूप पुत्र की प्राप्ति पत्नी से ही होती है। मानसिक उद्विग्नता एवं व्यथाओं से आतुर पुरुष को पत्नी से वैसा ही सुख प्राप्त होता है, जैसा धूप से संतप्त व्यक्ति को स्नान से। अत्यन्त क्रुद्ध हो तब भी पति को ऐसा कोई कार्य न करना चाहिए जो पत्नी को अप्रियकर हो, क्योंकि रति, प्रीति और धर्मपत्नी के ही अधीन रहते हैं। स्त्रियाँ ही सन्तान की सनातन जन्मक्षेत्र हैं। ऋषियों में ऐसी कोई शक्ति नहीं कि वे बिना स्त्री के सन्तान उत्पन्न कर सकें।''

पत्नी की महिमा का वर्णन ''न गृहं'' जैसे अनेक श्लोकों में उपलब्ध होता है।[१]

रामायणकाल में जैसा था, लगभग वैसा ही महाभारतकाल में भी प्रचलन रहा कि पति पर पत्नी के भरण-पोषण और रक्षण का दायित्व रहे। भरण-दायित्व के कारण ही वह पत्नी का भर्त्ता और पालन करने के कारण पति कहलाता रहा। यह मान्यता भी महाभारत में स्थापित हुई कि उसी पुरुष का जन्म सफल है जो अन्नपान से अपनी पत्नी का मन जीत ले।

पत्नी की रक्षा करना भी पति का एक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य दायित्व था। यह विधान भी इस काल में मिलता है कि पत्नी-रक्षा के दायित्व-निर्वाह में असमर्थ पति नरकगामी होता है। ऐसे असमर्थ और अक्षम पुरुष लोकनिन्दा के पात्र भी होते थे। पत्नियों द्वारा उनकी भर्त्सना के प्रसंग भी महाभारत में आये हैं और ऐसे पतियों को कर्त्तव्यपूर्ति हेतु प्रोत्साहित और जागृत करने के प्रयास भी दिखायी देते हैं। द्रौपदी पर जब कीचक-संकट आया तो उसने पति भीम को नरकगामी होने से बचने की प्रेरणा देते हुए उसे कीचक से अपनी रक्षा का

---

१. न गृहं गृहमित्याहु गृहणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणी हीनमधय सदृशं मतम्।
वृक्ष मूले पि दयिता यस्य तिष्ठति तद् गृहम्।
प्रसादो पि तया हीनः कान्तारादतिरिच्यते।
नास्ति भार्या समोबन्धूर्नास्ति भार्यां समामतिः।
नास्ति भार्या समालोके सहायो धर्मसंग्रहे।
यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी।
अरण्ये तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहं॥

अनुरोध करती है। पत्नी-रक्षण की दिशा में निष्क्रिय पाण्डवों की भर्त्सना स्वयं द्रौपदी द्वारा की जाती है। दुर्योधन भी क्लीव पाण्डवों को बुरा-भला कहता है—उन्हें षण्ड कहते हुए सच्चे पुरुष हो जाने का उपदेश देता है। पतिहीना स्त्री को पाने के लिए लोग ऐसे लालायित हो जाते हैं, जैसे धरती पर पड़े माँस को देखकर पक्षीगण। संसार में कीचकवत् दुष्टों की भी भरमार है। यही प्रमुख कारण रहा कि स्त्री की स्वाधीनता को सीमित किया जाना अनिवार्य समझा गया। इस प्रतिबंध का औचित्य तीन कारणों पर आधारित माना जाता था। एक कारण तो यही था कि स्त्री को पर-पुरुष की कुदृष्टि से बचाया जा सके, दूसरा उसके योगक्षेम, भरण-पोषण सम्बन्धी आर्थिक कारण भी रहा। उसके लिए यह आश्रय अत्यावश्यक था। तीसरा एक यह कारण भी महत्त्वपूर्ण था कि जाति को वर्णसंकरता के विकार से बचाया जा सके। विदुर जी ने भी परामर्श दिया कि आपत्ति के लिए पुरुष धन संचित करें और धन से स्त्रियों की रक्षा करें। कोई घटना ऐसी दृष्टिगत नहीं होती कि राज्य-रक्षा के लिए शत्रुनरेश को स्त्री की भेंट की गयी हो। महाभारत के आदिपर्व के एक आख्यान में पति-प्राणों की रक्षा के लिए पत्नी बकासुर का आहार स्वयं बन जाने को तत्पर हो जाती हैं और तदर्थ पति से अनुमति माँगती है। पति तो पत्नी-रक्षा के कर्त्तव्य-रज्जु से आबद्ध था। वह भला अपने प्राणों के लोभ में ऐसा अनर्थ क्योंकर करता। उसने यही कहा कि मैं अपनी जीवन-रक्षा के लिए तुम जैसी साध्वी और अनुव्रती पत्नी का उत्सर्ग नहीं कर सकता।

पत्नी का स्वातंत्र्य अमर्यादित, असीम नहीं रहा, यह भी सत्य है; किन्तु तात्पर्य इसका यह भी नहीं कि दाम्पत्य जीवन में उसकी कोई महत्ता ही नहीं रह गयी हो। वह पति की दासी या सेविका रूप में कभी नहीं रही। उसने परामर्शदात्री के रूप में पति के सन्मार्गदर्शन की भूमिका भी निभायी और यथावश्यकता सशक्त प्रयत्न भी किये। अपनी शुभ बातों का पति द्वारा अनुसरण कराने के लिए वह कृतसंकल्प रहा करती थी और इसमें वह प्रायः सफल भी रहती। पति पर पत्नी का नैतिक प्रभाव इस काल में भी दुर्बल नहीं रहा। पत्नी के अधिकारों का प्रतिपादन करती हुई शकुन्तला अपने पति दुष्यन्त को खरी-खोटी सुनाती है। द्रौपदी ने भी धर्मराज युधिष्ठिर को, कीचक-प्रसंग में, उसकी पराक्रमहीनता के व्यवहार के लिए बहुत भला-बुरा कहा और युधिष्ठिर की धारणाओं के विपरीत भी द्रौपदी जयद्रथ-वध के लिए अर्जुन को उत्तेजित कर देती है। स्त्री-स्वातंत्र्य हरण करने वाले अंधे पति को नीतिज्ञा पत्नी ने अपने ही

पुत्रों द्वारा गंगा में प्रवाहित करा दिया। स्त्री पुरुष के नियंत्रण में तो थी; किन्तु यह नियंत्रण अमर्यादित नहीं रहा। पुरुष की अधिकारपूर्ण सत्ता स्त्री को अनुचित और अनीतिकर मार्ग को अपनाने के लिए बाध्य नहीं कर पाता था। औचित्य की निर्णायिका स्वयं नारी रही और वह औचित्य को ही वरेण्य माना करती थी। लोपामुद्रा ने पति की आज्ञानुसार, पति की अनुरूपता में मृग चर्म तो धारण कर लिया, किन्तु इस अवस्था में सन्तानोत्पत्ति की पति की कामना को अनुपयुक्त मानते हुए ठुकरा दिया। ऐसा लोपामुद्रा ने तब स्वीकारा जब अगस्त्य मुनि ने राजसी रूप ग्रहण कर लिया। नारी-तेजस्विता इन परिस्थितियों में भी मन्द नहीं हुई।

पति-सेवा रामायणकाल की भाँति महाभारतकाल में भी पत्नी के लिए महत्त्वपूर्ण बनी रही। शाण्डिली ने व्यक्त किया कि पति की सेवा करने वाली, उसकी रुचि-अरुचि का विचार कर व्यवहार करने वाली, उसकी निद्रा को निर्बाध रखने वाली पत्नी स्वर्ग-प्राप्ति की अधिकारिणी हो जाती है। पाँचों पाण्डवों को पति-सेवा के बल पर ही द्रौपदी ने स्ववश में कर लिया था। नारायणी इन्द्रसेना के पति की सहस्रवर्षीय आयु थी; किन्तु वह पति-सेवा में ही संलग्न रहा करती थी। सुकन्या ने भी अपने वृद्ध पति च्यवन ऋषि की भरपूर सेवा की।

पति-सेवा पत्नी की प्रमुख प्रवृत्ति रही, साथ ही उसके पति-प्रेम में अनन्यता का भाव भी ध्रुव रूप में रहा। विवाहिता नारी के जीवन में किसी अन्य पुरुष का प्रवेश वह स्वयं निषिद्ध रूप में स्वीकारती थी। यही सतीत्व उसका सर्वोच्च शील था। एक पतिव्रता नारी इस युग में अपना सबसे बड़ा धन मानती थी। नारी की यह अप्रतिम विशेषता उसकी तेजस्विता में अभिवर्धन करती थी। कहा जाता था कि शीलवती नारी के तेज के समक्ष तापसजनों का शाप भी हततेज हो जाता है। यह भी माना जाता था कि सती स्त्री सर्वज्ञ हो जाती है। उसके लिए कोई भेद रहस्य नहीं बना रह सकता था। कौशिक ब्राह्मण ने यह तथ्य गुह्य रखने का प्रयास किया कि उसके द्वारा सारस को भस्म कर दिया गया। आश्चर्यजनक रूप में ब्राह्मण-पत्नी को इस घटना का स्वतः ही ज्ञान हो गया था—बिना किसी सूचना के। पतिव्रता स्त्री को पर-पुरुष देखना भी चाहे तो उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं हो पाती थी।

पति को आदर्श पत्नी सन्मार्ग का निर्देश करती थी, पति के दोष-निवारण के उद्यम में भी वह अग्रणी रहती, किन्तु शासन वह पति का ही स्वीकारती थी।

पत्नी पति को अपना शासित नहीं बनाती थी। पत्नी-शासित पति निन्दा और अपयश ही प्राप्त करता है। पति के लिए पत्नी के साथ मधुर वाणी के साथ मधुर वाणी के प्रयोग को, कोमल व्यवहार को विदुर ने जब आवश्यक कहा—तब यह भी स्पष्ट किया कि इसका अर्थ यह भी नहीं कि पति पत्नी की अधीनता और शासन अंगीकार कर ले। महाभारतकाल की यह मान्यता भी प्रकाश में आती है कि पति यदि पत्नी-शासित है तो उसे नरक की गति मिलती है।

पत्नी के धन पर स्वयं उसी का अधिकार रामायणकाल की भाँति ही महाभारतकाल में भी बना रहा। यह स्त्रीधन पति अथवा अन्य जनों के द्वारा उपहारों से बढ़ता भी था और पति को स्त्रीधन पर कोई अधिकार नहीं था। हीन प्रवृत्ति के पति यदि पत्नी के स्त्रीधन का उपयोग आजीविका के लिए करते तो वे निन्दा के पात्र माने जाते थे। ऐसे भार्योपजीवी पुरुषों को गोहत्या के समान पाप लगता था। पत्नी अथवा ससुर के आश्रय में रहकर जीविका चलाना—उस काल में एक अभिशाप का रूप माना जाता था। इस लोक में वह दया का पात्र और हीन माना जाता और परलोक में वह निम्नगति का भागी होता था। उसे पापी और नराधम तो माना ही जाता था; वह असंभाष्य भी गिना जाता था; अर्थात् उससे कोई वार्त्तालाप का सम्पर्क भी नहीं रखता था। उसके पाप की कोई निष्कृति भी सम्भव नहीं थी।

पत्नी पर पति का सम्पदावत् अधिकार कितना !!

यह तो निश्चित् है कि पत्नी पर पति का असीम और अतिशय अधिकार-स्थापन महाभारतकाल में हो गया था, किन्तु क्या इति अति से भ्रमित होकर पति अपनी पत्नी के साथ अन्य सम्पत्ति जैसा व्यवहार करने लगा था? क्या उसका दान, विक्रयादि करने लगा था? इस काल में राजा को कन्याओं का उपहार देने का प्रचलन तो मिलता है, यज्ञ कराने वालों को भी कन्याएँ दान में दी जाती थीं, किन्तु पत्नी का दान किया जाना प्रचलित नहीं था। इस उल्लेख का कोई आख्यान भी सामान्यत: नहीं मिलता है—महाभारत में। अपवादस्वरूप ऐसे दो प्रसंग मिलते हैं जो विशेष परिस्थितियों में ही घटित हुए थे। राजा मित्रसह ने अपनी रानी मदयन्ती का दान वष्ठि को किया था और एक अन्य नरेश वृशादर्मियुवनाश्व ने अपनी रानियों का दान कर दिया। इन प्रसंगों का मात्र उल्लेख-सा मिलता है और परवर्ती शोध-खोज के आधार पर इनकी प्रामाणिकता भी अब संदिग्ध है। द्रौपदी को द्यूत क्रीड़ा में उसके पतियों द्वारा दाँव पर लगा देना एक ऐसा तथ्य है जो पत्नी को सम्पत्ति-सदृश मानने के समान

प्रतीत होता है। किन्तु पाण्डवों की इस प्रवृत्ति पर खुलकर खूब विवाद हुआ। इससे यह निष्कर्ष समक्ष आता है कि ऐसा होना पत्नी को सम्पदावत् माना जाना था, जुए में जीती हुई द्रौपदी पर पर-पुरुष दुर्योधन का अधिकार और उसका यह दावा कि विजित वस्तु का उपयोग विजेता अपने मनमाने ढंग से कर सकता है और ऐसा ही वह कार्य रूप में कर दिखाता भी है, किन्तु इस सबका विरोध हुआ। भीष्म पितामह के मौन की भी भर्त्सना हुई। स्वयं द्रौपदी ने क्षोभ व्यक्त किया। अस्तु—यह प्रकाश में आता है कि यह सब-कुछ अनुचित और अनीतिकर माना गया। यह सामान्य स्थिति इस काल की नहीं रही—एक अवांछित और निन्दनीय घटना मात्र थी। पत्नी-विक्रय या पत्नी-दान जैसा जघन्य कर्म महाभारतकाल की सामान्यत: प्रचलित प्रथा नहीं रही। कन्यादान ब्राह्मणों को किया जाना अवश्य ही प्रचलन में रहा। राजा लोमपाद ने राजकुमारी शान्ता का ऋष्यशृंग को दान किये जाने का प्रसंग महाभारत में आता है तो इसी प्रकार मदिराश्व ने हिरण्यहस्त को, भगीरथ ने कौत्स को, निमि ने अगस्त्य को, भरत्व ने अंगीरा को कन्यादान किया और महाभारत में इनके साथ-साथ अन्य अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनमें ऋषियों-ब्राह्मणों को कन्याओं का दान दिया गया।

महाभारतकाल में नारी विषयक हीनता के विचार

रामायणकाल में नारी अपेक्षाकृत अधिक सम्मानपूर्ण स्थिति में रही; तथापि उसके सम्बन्ध में निन्दापूर्ण और हीन विचार रहे अवश्य थे। चाहे ये जनमानस में स्थान प्राप्त ही क्यों न रहे हों और चाहे उनकी अनुरूपता में नारी के साथ व्यवहार भी क्यों न किया गया हो; किन्तु किसी प्रकार ऐसे हीन विचार ग्रन्थों में कम ही स्थान पा सके। इतना निश्चित है कि वेदों के काल के बाद से ही नारी गरिमा में ह्रास का जो क्रमारंभ हुआ; वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया। महाभारतकाल में भी अपने पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा इस दिशा में अधिक ह्रास का दृष्टिगत होना स्वाभाविक ही है और स्त्री की हीनदशा भी ग्रन्थों में पूर्वापेक्षा अधिक अंकित हुई। पर्याप्त सम्मान-प्राप्त होने के बावजूद भी नारी की निन्दा कम नहीं हुई। उसे निन्दनीय स्थिति में प्रस्तुत किये जाने का कार्य भी कम नहीं हुआ। उस काल में मान्यता रही कि यदि कोई हजार जिह्वा वाला हो, उसे सौ वर्षों का आयुष्य भी प्राप्त हो और उसके पास नारी-निन्दा के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य भी न हो—फिर भी वह नारी की निन्दा समग्र रूप में करने के पूर्व ही मरण को प्राप्त हो जायेगा। ऐसा अनन्त और ऐसा अनिर्वचनीय माना जाने लगा था—नारी का निन्दा-प्रसंग।

यदि जिह्वा साहस्रं स्याजीवेच्च शरदां शतम्।
अनन्यकर्मा स्त्री दोषानुक्त्वा निधनं ब्रजेत्॥

कहीं यह कहा गया कि स्त्री के लिए इस लोक में कुछ भी अगम्य नहीं है। वे कुबड़े, अंधे, मूर्ख और बुरे-से-बुरे व्यक्ति से भी संयुक्त हो जाती हैं[१]—तो कहीं यह कह दिया गया कि अमर्यादित स्त्रियाँ पति के साथ तभी मर्यादा में रहती हैं, जब उन्हें परिजनों का भय हो और अन्य पुरुष उन्हें चाहते न हों।[२] पितामह भीष्म की मान्यता में नारी संयमरहिता थी और इस कारण वह दुष्रक्षणीय रही। उनका कथन आया है—पुरुष किसी भी प्रकार से नारी की रक्षा नहीं कर सकता। जब विधाता ही रक्षा करने में असमर्थ है तो मनुष्य भला कैसे कर सकता है। वचन से, वध से, बंधनों से, विधि-क्लेशों से नारी की चौकसी नहीं की जा सकती; क्योंकि वे सदा असंयत हैं—

न तासां रक्षणं शक्यं कर्तुं पुंसां कवंचम्।
अपि विश्वकृता तात ! कृतस्तु पुरुषेरिह॥
वाचा च वध वन्धैर्ना क्लैशैर्वा विविधैस्तथा।
न शक्या रक्षितुम् नार्यास्ताहि नित्यमसंयता॥

ब्रह्मचर्य व्रतधारी भीष्म पितामह की यह मान्यता भी महाभारत में आयी है कि पुरुष तो धर्मप्राण प्राणी है और स्त्री धर्मच्युत करने के लिए ही अस्तित्व में लायी गयी है। पुरुष को पतित करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है। उसकी सृष्टि ही तब हुई, जब सभी पुरुषों के धर्मात्मा होने के कारण उनसे स्वर्ग के भर जाने की आशंका उत्पन्न हो गयी थी। महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख है। यह भी कहा गया है कि स्त्रियों से बढ़कर कोई पापी नहीं। वे जलती हुई अग्नि, माया, उस्तरे की धार, विष और नागिन हैं। महाभारत में युधिष्ठिर का यह मत भी व्यक्त हुआ कि स्त्रियाँ एक पुरुष से कभी तृप्त नहीं होतीं। वे गौओं की भाँति नये-नये पुरुष ग्रहण करती हैं। स्त्रियों में कामांधता का अपरिमित दूषण है। नारी अगणित दोषों का घर है।

●●

---

१. अपि ताः सम्प्रसज्जन्ते कुब्जान्ध जड़ वामनैः।
पंशुष्वथ च देवर्षे ये चान्ये कृत्सिताः नमः॥

२. अनर्थित्वन् मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च।
मर्यादायममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु॥

स्मृतिकाल में नारी

वेदोपनिषदों के अनन्तर समाज-व्यवस्था के स्वरूप-विवेचक ग्रन्थों-शास्त्रों में स्मृतियों का विशेष महत्त्व है। समाज के विभिन्न अंगों, वर्गों का निर्धारण समाज में उनका स्थान, उनके आदर्श स्वरूप का विवेचन, विभिन्न वर्गों का अपना-अपना वर्चस्व, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, उनके कार्यक्षेत्र, उनके अधिकार-कर्त्तव्य आदि का सविस्तार वर्णन स्मृतियों में हुआ है। मनुस्मृति का स्मृतिशास्त्रों में विशेष स्थान है। वर्ण-व्यवस्था, परिवार-व्यवस्था, समाज में नारी का स्थानादि विभिन्न लोक व्यवहारगत विषयों का आधिकारिक निर्धारण एवं विवेचन इस स्मृति का मूल प्रतिपाद्य रहा है। मनुस्मृति एक प्रकार से हिन्दू समाज की संरचना एवं संचालन का संविधान ही हो गया था। सुदीर्घ परवर्तीकाल में सामाजिक आदर्शों और मर्यादाओं का निर्देशन मनुस्मृति करती आयी है। आज भी जो संस्कार और संस्थाएँ हिन्दू समाज में परम्परागत रूप में विद्यमान हैं, उनका स्रोत मनुस्मृति ही है। इसमें एवं अन्यान्य स्मृतियों में प्रासंगिक रूप से स्त्री जाति के सामाजिक स्वरूप की झलक मिलती है। स्मृतियाँ तो विधायक स्वरूप रखती हैं। अत: निर्विवाद रूप में उनमें प्रस्तुत नारी स्वरूप को तत्कालीन नारी-स्थिति माना जा सकता है।

मनुस्मृति की नारी विषयक अवधारणाएँ हैं कि—

- स्त्रियाँ घर की शोभा हैं।
- जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं।
- जहाँ इनकी पूजा नहीं होती, वहाँ सभी धर्म-क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।
- जहाँ स्त्रियों का निरादर होता है, वहाँ लक्ष्मी भी रुष्ठ रहती है।
- उत्तम वस्त्राभूषण, भोजनादि से सत्कार कर स्त्री को प्रसन्न रखना चाहिए।
- सुशोभित स्त्री से सारे कुल की शोभाशीलता बनती है।

- शोभायमान स्त्री ही पत्नी रूप में पति की प्रसन्नता का कारण बनेगी। उत्तम सन्तान प्राप्ति भी तभी सम्भव होगी।
- अपत्य, धर्मकार्य, अपनी सेवा, रति, अपना स्वर्गादि पत्नी के ही अधीन है।
- जिस कुल में पति और पत्नी एक-दूसरे से तुष्ट और प्रसन्न हैं, वहाँ नित्य ही कल्याण रहता है।[१]

उपर्युक्त बिन्दु पर्याप्त रूप में स्मृतिकाल की नारी के पारिवारिक एवं सामाजिक स्थान का चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। इनसे योगरूप में यह प्रभाव ग्रहण किया जा सकता है कि स्मृतिकाल में भी सैद्धान्तिक रूप में नारी की गरिमा को पर्याप्तत: उच्चता प्राप्त थी। नारी का सम्मान पूजा की सीमा तक अपेक्षित था और नारी सम्मान में ही परिवार और समाज का कल्याण निहित था।

पत्नी रूप में नारी के कर्त्तव्य

मनु, याज्ञवल्क्य, शंख, व्यास आदि दार्शनिक ऋषियों ने पत्नी के कर्त्तव्यों का निर्धारण और विवेचन किया है। उनके विवेचन से सन्नारी के आदर्श व्यवहार की पद्धति भी निर्मित हुई जो उस काल में पालनीय मानी जाती रही। मनु ने कहा कि हँसमुख स्वभाव, गृहकार्य-दक्षता, स्वच्छता की आदत और मितव्ययिता आदर्श पत्नी/गृहणी की अनिवार्य विशेषताएँ हैं। याज्ञवल्क्य ने इन विशेषताओं के साथ अच्छी पत्नी के लिए संयम और सास-ससुर की वन्दना के तत्त्वों का भी योग कर दिया। सन्नारी के लिए शंख ने कहा कि उसे निषिद्ध व्यक्तियों से सम्पर्क नहीं रखना चाहिए और मनु ने भी अपनी अवधारणाओं में इसका अनुमोदन किया था। बृहस्पति ने यह अपेक्षित माना कि गृहणी गुरुजनों के पश्चात् सोए और उनसे पूर्व ही निद्रा का त्याग कर दे। उसके मन में और व्यवहार में इन वरिष्ठ जनों के प्रति अतिशय श्रद्धा और सम्मान का भाव भी अनिवार्य है।

व्यास स्मृति ने पत्नी और सद्गृहणी के कर्त्तव्यों का विवेचन सविस्तार हुआ है। यह स्मृति आदर्श पत्नी के लिए आवश्यक मानती है कि पति-सेवा-परायणता रहे। उसका यह गौरवपूर्ण स्थान भी माना गया है कि वह पति के लिए परामर्शदात्री होती है। पति के मनोरोगों के लिए पत्नी के समतुल्य अन्य कोई औषधि नहीं हो सकती। यह भी कहा गया कि स्त्री की अनुकूलता ही स्वर्ग है

१. संतुष्टे भार्या भर्त्ता भर्त्री भार्या तथैव च। —मनुस्मृति ३/६०

और उसकी प्रतिकूलता नरक से भी अधिक भयावह होती है। घर को घर नहीं कहते-स्त्री ही घर है[१] और भार्याहीन गृह जंगल से भी निकृष्ट है।[२] व्यास स्मृति में पत्नी को पति के लिए देवताप्रदत्त सखा की संज्ञा दी गयी है और कहा गया है कि कभी पत्नी कोई अप्रिय वचन प्रयुक्त कर भी दे—तब भी पति कभी अप्रिय वचन न कहे। पत्नी के अधीन ही पति की रति, प्रीति और धर्म रहते हैं। पत्नी का योगक्षेम पति का अनिवार्य कर्त्तव्य है। व्यास स्मृति में भी उल्लेख मिलता है कि भार्या का भरण करने के कारण ही पति भर्ता कहलाता है और उसका पालनहारा होने के कारण ही भर्ता पति कहलाने का अधिकारी हो सकता है।

व्यास ने नारी को सदा पवित्र माना और उससे जो घृणा करे उसे अपनी माता का अपमान करने वाले के समान समझा है। यह भी कहा गया है कि नारी तो लक्ष्मी है और उसके सान्निध्य से गृहदेवता भी प्रसन्न रहते हैं।

नारी-महत्ता का प्रतिपादन करते हुए व्यास स्मृति में कहा गया है कि पुरुष शौर्य है तो नारी सौन्दर्य है। पुरुष की विशेषता है उसकी विचार-शक्ति जो उसे कर्म-सम्पादन की क्षमता देती है। स्त्री की विशेषता उसकी प्रज्ञा है जिसके द्वारा वह पुरुष की विचारणा को नियमित और नियंत्रित करती है। वही विविध कर्म-विषयों में समन्वय और सामंजस्य भी स्थिर करती है। भगवान का अभिशाप नारी-कोप के रूप में किसी दुष्ट के दुराचार के विरोधस्वरूप उभरता है। दुःखिता का उपहासक अकल्याण का भागी होता है। दक्ष स्मृति के अनुसार—

प्रतिकूल कलत्रस्य नरको नात्र संशयः।

परिणय-सूत्र में बँधने के बाद भी यदि नर और नारी में भेद रहा तो नरक का दुःख यहीं मिलने लग जाता है। जहाँ मनु ने नारी के लिए माना—**पूजनीया प्रयत्नतः**, वहीं अन्य स्मृतियों में ऋषियों के समक्ष पति को यह प्रतिज्ञा ग्रहण करते बताया गया है कि मैं धर्म और अर्थ सम्बन्धी कोई कार्य पत्नी के बिना नहीं करूँगा—"**धर्मे अर्थे च नाति चरामि।**" इन सन्दर्भों से स्मृतिकालीन नारी के गौरवपूर्ण स्थान का आभास सहज ही हो जाता है। इसके विपरीत स्मृतियों में यह जो कथन मिलता है—'**न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति**' क्या इससे नारी-गरिमा को आघात लगा है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। सतही दृष्टि से, या प्रथम दृष्ट्या रूप में नारी प्रतिबन्धक रूप में अवश्य ही यह सिद्धान्त प्रतीत हो सकता

१. न गृहं गृहमित्याहुः गृहणी गृहमुच्यते।

२. न गृहेण गृहस्थ स्यात् भार्याया कथ्यते गृही।
यत्र भार्या गृहं तत्र भार्याहीन गृहंवनम्॥

है—पराधीनता की गंध इसमें महसूस की जा सकती है और इससे नारी-महत्ता का अवमूल्यन भी आँका जाता है, किन्तु गहन और व्यापक स्तर पर विचार करने से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि यह सिद्धान्त वास्तव में नारी-गरिमा को निम्न करने का उद्देश्य नहीं रखता, अपितु इसके द्वारा पुरुष को अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक रहने को प्रेरित किया गया है। पुरुषों का यह दायित्व संकेतित हुआ है कि प्रत्येक अवस्था में वह सम्बन्धित नारियों के मान-सम्मान-प्रतिष्ठा की रक्षा करे। नारी की पराधीनता इससे सूचित नहीं होती, अपितु रक्षित रहने की अधिकार सम्पन्नता ही इससे प्रकट होती है। ऐसे कथनों को नारी-समाज के लिए अपमानसूचक मानना एक भ्रान्ति ही है; अन्यथा नारी के साथ दासता का व्यवहार कभी नहीं हुआ और पुरुष को निरंकुश शासक का स्थान भी नहीं मिलता। वह पति की प्रजा रूप में नहीं रही।

पूर्ववर्ती काल में पत्नी को मित्र और गुरु के समान, औषधि के समान गरिमा प्राप्त थी। स्मृतिकाल में क्रमशः बदलते-बदलते ऐसी स्थिति आ गयी कि पति-पत्नी के लिए गुरु का स्थान भी रखने लगा। इसके पीछे भी सकारणता का आधार रहा है। पूर्वकाल में विशेषतः वेदकाल में नारी के यथोचित आयु ग्रहण कर लेने और शिक्षा-प्राप्ति के पश्चात् ही उसकी गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था। इसके विपरीत स्मृतिकाल में यह विधान हो गया कि कन्या का विवाह रजोदर्शन-पूर्व ही सम्पन्न करा दिया जाय। तब तक कन्या की शिक्षापूर्ति सम्भव नहीं हो पाती थी और उसके शिक्षाक्रम को आगे बढ़ाने का दायित्व पति का हो जाता था। पति का गौरव क्रमशः उन्नयन प्राप्त करता रहा—इस क्रम ने तीव्र गति भी धारण कर ली और शीघ्र ही पति ने 'देवतावत्' स्थान ग्रहण कर लिया। पति होने के नाते ही वह स्त्री का सर्वस्व हो गया, चाहे उसमें पूजनीयता के तत्त्व नहीं, अथवा कम ही हों; तथापि वह पत्नी के लिए पूज्य हो गया। शंख के मतानुसार—

"न भर्त्तारं द्विष्यादेष्ठीवलः स्यात्पतितोंऽगहीनो
व्यधितोवा पतिर्हि देवता स्त्रीणाम्।"

पति के कोढ़ी, पतित, अंगहीन या रुग्ण होने पर भी पत्नी उससे द्वेष न करे; क्योंकि पति ही देवता है। याज्ञवल्क्य और विष्णु ने स्त्री के लिए 'पति-सेवा' को ही मोक्ष का एकमेव साधन बताया। धीरे-धीरे स्त्री की गौरवपूर्ण और स्वाधीन सत्ता को विपरीत प्रभाव होने लगे थे। इसके पीछे कुछ अन्य कारण भी रहे; यथा—समाज में पुरुष-प्रधानत्व का रंग गहराना, पुरुषशक्तिमत्ता में उत्तरोत्तर

विकास, स्त्री की समर्पणशीलता का सुदृढ़ीकरण, स्त्री का मातृत्व सम्बन्धी दायित्व, आर्थिक रूप में स्त्री का पुरुषाश्रय, बालविवाह का प्रचलन, स्त्रियों की अशिक्षा और स्त्री-विषयक हीन विचारों का तीव्र प्रचार-प्रसार आदि-आदि।

पत्नी के अधिकार

पत्नी रूप में स्त्री के गौरव-गरिमा को स्मृतिकाल में ठेस पहुँचना आरम्भ हो गया था। उसकी महत्ता की छवि धूमिल होने लगी, किन्तु स्मृतिकारों ने नारी के अधिकारों का संरक्षण सशक्ततापूर्वक किया। पत्नी को उन्होंने सतीत्व के बंधन में मजबूती से बाँध दिया तो उसे उसके हितरक्षक अधिकार भी दिये। पति को अबाध वर्चस्व और पूज्य स्थिति दी तो उस पर पत्नी के प्रति महत्त्वपूर्ण दायित्वों की अनिवार्य पालना का कार्य भी सौंपा। इसी क्रम में स्त्रियों के **सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों** को बड़ी ही उदारतापूर्वक स्मृतियों में स्थान मिला है। प्राय: सभी स्मृतियों में इस पक्ष में सदाशयता का परिचय मिलता है। तत्कालीन नारी को घर की स्वामिनी का स्थान तो दिया ही गया उसे पति की समस्त सम्पदा पर उपभोग का अधिकार प्राप्त था। इसके अतिरिक्त स्त्रीधन जैसी सम्पदा पर मात्र पत्नी का एकाधिकारयुक्त स्वामित्व भी रहता था। इस धन का पति द्वारा उपभोग-उपयोग वर्जित था। अन्य किसी स्वजन-परिजन को भी स्त्री के इस धन पर कोई अधिकार नहीं होता था। आर्थिक स्वावलम्बन का आत्म-विश्वास स्त्री में इस प्रकार सुदृढ़ हुआ। स्मृतियों की इन व्यवस्थाओं की उपादेयता इस सीमा तक स्वीकार्य रही कि आधुनिक तत्सम्बन्धी कानूनों की संरचना में भी उनको आधार माना गया है और स्त्रीहित का संरक्षण किया गया है।

पत्नी को पति से योगक्षेम-प्राप्ति का अधिकार है। पति का अनिवार्य दायित्व था कि वह पत्नी के भरण-पोषण की पूर्णत: और उचित व्यवस्था करे। पत्नी का यह अधिकार आजीवन बना रहता था; या तब तक बना रहता था, जब तक कि पत्नी का व्यभिचारिणी होना सिद्ध नहीं हो जाता। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि पत्नी के व्यभिचारिणी होने का दोष भी पति का ही माना गया था और कहा गया था कि पति यह मात्र स्वदार-निरत रहे तो पत्नी पुंश्चली हो ही क्यों ! अत्री ने स्त्री को चुराकर या अपहरण कर ले जाने, अथवा उस पर बलात्कार होने पर स्त्री को सदोष नहीं माना और उसकी शुद्धि ऋतु के माध्यम से स्वीकार की गयी थी। यथास्थिति यदि संतानोत्पत्ति हुई तो उसके पश्चात् स्त्री की शुद्धि स्वत: ही मान ली जाती थी। स्मृतिकारों ने व्यभिचारिणी स्त्री के लिए दण्ड का विधान भी किया है; किन्तु व्यभिचारी पुरुषों की तुलना में वह बहुत

कम और साधारण-सा है। यथा—पहरे में रखना, मलिन वस्त्रों में रखना, भूमि पर सुलाना, धर्मकार्यों में संगिनी न बनाना, चान्द्रयण व्रत कराना, सर मुँड़वाना आदि-आदि। शूद्रगामिनी स्त्री के लिए मनु ने अवश्य कुत्तों को खिला देने की अति क्रूर व्यवस्था दी थी। व्यभिचारिणी स्त्री के दण्डस्वरूप जो कठोर आज्ञाएँ शास्त्रों में दी गयीं, वे व्यवहार में कम ही आयीं। उनको अन्य शास्त्रवचनों द्वारा निरस्त कर दिया गया। इसके विपरीत व्यभिचारी पुरुष के लिए कठोर दण्ड का विधान किया गया था। अंग-भंग करना, दागना, निर्वासन, यहाँ तक कि वध का दण्ड भी विहित माना गया। इससे समाज में पवित्रता की परम्परा बनी जो आज तक न्यूनाधिक रूप में प्रचलित है। पुरुषों में पत्नी-परायणता का तत्त्व नैतिकता का परिचायक हो गया है।

स्मृतियों में जहाँ नारी को पति-सम्पदा की स्वामिनी माना गया वहाँ भार्योपजीवी पुरुषों की भर्त्सना भी की गयी है। पत्नी की अर्जित सम्पत्ति को आजीविका का आधार मानने वाले अथवा पत्नी को ही साधन बना लेने वाले पुरुष निन्दा के पात्र समझे गये। उन्हें हत्यारे के समान पापी और नरकगामी माना गया। कहा गया कि ऐसा पुरुष साथी बनाने के योग्य नहीं होता, उसका अन्न अभक्ष्य होता है, वह न्यायालय में साक्षी भी नहीं दे सकती। पत्नी के प्रेमी से भेंट स्वीकारने वाले पति के लिए भी कठोर दण्ड का विधान था। निन्दा ऐसे पुरुषों की भी होती थी जो स्त्री-जित होते थे, पत्नी के वश्य होते थे। मनु, याज्ञवल्क्यादिक ने ऐसे पुरुषों का अन्न अभक्ष्य माना और कहा कि देवता भी ऐसे घरों में हवि ग्रहण नहीं करते।

निषेधात्मक प्रतिबन्ध

पूर्वकाल में स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था। यदि पत्नी का पूर्व में यह संस्कार नहीं किया गया हो तो पति के साथ यज्ञादि कर्मों में प्रतिभागी होने के लिए पहले उसका उपनयन संस्कार कराया जाता था। स्मृतिकाल में स्त्रियों के लिए इसका निषेध कर दिया गया—परिणामतः वेदाध्ययन भी निषिद्ध हो गया। यज्ञादि में स्त्रियों की प्रतिभागिता पर भी निषेध लग गया। मनु का कथन है कि ब्राह्मण को स्त्री द्वारा किये गये यज्ञ में भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। स्त्री के यज्ञाधिकार को अमान्य नहीं किया गया; तथापि उसे श्रेयस्कर भी नहीं माना गया। इसी प्रकार उसी कन्या का विवाह सम्भव था जिसका कौमार्य अक्षत् हो। कौमार्य भंगकर्त्ता पुरुषों के लिए कठोर दण्ड निर्धारित थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में तो ऐसे पुरुषों का सर्वस्व छीनकर निर्वासित किये जाने का विधान है।

इस प्रकार स्मृतिकाल में जहाँ स्त्री को मर्यादित करने, उस पर कतिपय प्रतिबन्ध डालने की प्रक्रियाएँ देखने को मिलती हैं वहीं नारी के गौरव को बढ़ाने वाले, उसके हितरक्षा के प्रयास भी पर्याप्तत: मिलते हैं। मनु ने पुत्र और पुत्री में भेद नहीं माना—कन्या को भी पुत्रवत् ही माना। पुत्री के होते हुए किसी पुत्रहीन पुरुष के धन का अधिकारी कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता था। नारद और बृहस्पति ने भी पुत्रहीन पिता का उत्तराधिकार पुत्री में निहित माना। स्मृतिकाल में भी कन्यादर्शन को शुभ माना गया और कन्या में मांगल्य स्वीकारा गया। शौनिककारिका में ८ मंगलकारी वस्तुएँ मानी गयी हैं। कन्या भी उनमें से एक है—

दर्पण: पूर्णकलश: कन्या सुमनसोऽक्षता।
दीपमाला ध्वजा: लाजा: संप्रोक्ताश्चाष्ट मंगलम्॥

नारी-सम्मान की स्थिति

सत्य है कि जिस जाति में नारी-सम्मान का भाव जितना ऊँचा होता है उतनी ही उन्नत वह जाति होती है। इस दृष्टि से भी स्मृतिकाल का हमारा समाज उन्नत ही कहा जायेगा। उस काल में नारी-सम्मान का प्रबल भाव स्मृतिकारों में भी रहा और सामान्य जनमानस में भी। नारी में देवत्व का अनुभव किया जाता था। स्त्री को लक्ष्मी-तुल्य माना जाता था। मनुस्मृति में निर्देश दिया गया है कि स्व-कल्याण की अभिलाषा रखने वाले पुरुषों को चाहिए कि वे स्त्री का पूर्ण सम्मान करें, उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत करें। यह भी कहा गया कि जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ प्रसन्नतापूर्वक देवता निवास करते हैं। जहाँ इनका अनादर होता है वहाँ सभी क्रियाएँ निष्फल रह जाती हैं। जहाँ माता, पुत्री, बहन, पत्नी, पुत्रवधू—कोई स्त्री दु:खी रहती है, वह कुल शीघ्र ही सर्वनाश को प्राप्त हो जाता है। नारियाँ जिस कुल में सुखी रहती हैं, उसकी सुख-समृद्धि भी बढ़ती चली जाती है। मनु ने कहा—जिस दम्पति में पारस्परिक संतोष का भाव रहता है, उस परिवार में कल्याण ही होता है—यह निश्चित है।

कन्या को इस युग में निर्मल स्नेह की पात्र समझा गया। अभिभावकों से अपेक्षा की जाती थी कि कन्या से यदि कुछ अनुचित हो भी जाय, तब भी उस पर वे रोश न करें। धन लेकर कन्या का विवाह करने का निषेध था; शूद्रों के लिए भी। धन स्वीकार करना कन्या-विक्रय के समान ही है। पिता का परम कर्त्तव्य था कि पुत्री का विवाह सम्पन्न करे। यदि पिता पुत्री के रजस्वला आयु प्राप्ति के तीन वर्ष बाद भी अपना कर्त्तव्य पूर्ण नहीं करे तो कन्या को अधिकार

था कि वह स्वयं पति का चयन कर ले। कन्या का विवाह अयोग्य वर के साथ किया जाना भी निषिद्ध था, चाहे सुपात्र वर की खोज में कितना ही विलम्ब क्यों न हो जाय। परिवार में स्त्रियों के लिए नियम था कि वे सबसे बाद में भोजन करें, किन्तु नववधू को सर्वप्रथम भोजन कराया जाता था—इस विषय में भी उल्लेख मिलते हैं।

मातृ-सम्मान

मनुस्मृति में भी माता के गौरव को बड़ी उच्चता के साथ स्वीकृत किया गया है। कहा गया है कि दस उपाध्यायों से आचार्य का, सौ आचार्यों से पिता का और हजार पिताओं से माता का गौरव अधिक होता है। माता तो देवताओं से भी अधिक पूज्य मानी गयी थी। याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी थी कि सन्तानहीन, आश्रयरहितता, पतिव्रता, विधवा, रुग्णा स्त्री की रक्षा सभी लोग करें। नारी रक्षार्थ किसी का हनन अनिवार्य हो जाये तो भी उसमें कोई पाप नहीं माना गया। स्त्री के जीवनकाल में उसके धनहर्त्ता बंधु-बांधवों को चोरवत् दण्डित किया जाता था।

गुरु का सर्वोच्च सम्मान भी कहीं स्वीकृत हुआ कि वह व्यक्ति को आध्यात्मिक जन्म देता है, कहीं पिता को ही सर्वोच्च माना, किन्तु माता का स्थान फिर भी अद्वितीय रहा। वही प्रथम गुरु भी मानी जाती थी, वही सन्तान की जीवन-निर्मात्री मानी गयी। माता-पिता की सेवा को ही परम तप माना गया। माता-पिता में विवाद हो तो पुत्र को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि बोलना हो तो माता की ओर से बोले। उसने ही उसे गर्भ में रखकर पोषण किया था—

न माता पित्रोरन्तरं गच्छेत् पुत्रः।
मातुरेवानुयात्। साहि धारिणी पोषिणी च।

यह व्यवस्था थी कि पिता कुमार्गी हो जाय तो सन्तति माता के पास रहे। सारे विश्व में माता-पिता का सर्वाधिक सम्मान भारत देश में ही होता है।

६

पुराणों में नारी

पुराण ग्रन्थों में मानवीय आदर्शों और चारित्रिक सद्गुणों की झलक बड़े प्रभावशाली ढंग से मिलती है। इन ग्रन्थों ने भी नारी-जीवन की महत्ता का पर्याप्तत: चित्रण किया है और सन्नारियों का मार्ग प्रशस्त किया है। पौराणिक आदर्शों ने परवर्तीकाल की नारियों को दिशाबोध भी पर्याप्तत: कराया है और तत्कालीन नारी-स्थिति का परिदृश्य भी प्रस्तुत किया है। पुराणकाल में भी नारी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं वांछना की पात्र बनी रही। वैवस्वत मनु की धर्मपत्नी श्रद्धा ने पुत्रेष्टि यज्ञ के समय होता से कन्या-प्राप्ति की कामना की थी—

तत्र श्रद्धा: मनो: पत्नी होतारं समयाचत।
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पर्याव्रता॥

श्रीमद् भागवत का यह प्रसंग इस तथ्य का द्योतक है कि उस युग में कन्या-जन्म को अवांछनीय और उपेक्षणीय नहीं माना जाता था। पुत्री की अपेक्षा पुत्र जन्म को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता था। कन्याएँ समान रूप से समादृत थीं। पुत्र के समान ही पुत्री की भी कामना की जाती थी, उसके लिए यज्ञादि होते थे। वामन पुराण के सन्दर्भ से यह भी कहा जा सकता है कि समाज में कन्या-दर्शन को शुभ माना जाता था, मंगलकारी माना जाता था।

पतिव्रत धर्म की महत्ता

नारी के पातिव्रत्य धर्म की पुराणों में कदाचित् सर्वाधिक महत्ता प्रतिपादित हुई। पति-परायणता स्त्री की सर्वाग्र विशेषता रही और पति उसके लिए परमात्मा का ही स्वरूप रहा। पत्नी के लिए पति सर्वाधिक आदर और श्रद्धा का पात्र रहा अतिशय आदर का भाव जिसके प्रति मन में होता है, व्यक्ति उसे नाम लेकर न पुकारता है, न ही नाम लेकर उसकी चर्चा कर पाता है। आदरसूचक विशेषणों अथवा अन्यान्य सन्दर्भों का आश्रय लेकर ही काम निकाला जाता है। पुराणकालीन पत्नी भी पति का नाम अधरों पर नहीं आने देती थी। पति नामोच्चारण से ऐसा माना जाता था कि पति का आयु-क्षय होता था। तत्कालीन

पत्नी पति की हितचिंतक भी अत्यधिक थी—कदाचित् इस कारण भी वह पति नाम का उल्लेख मौखिक रूप में नहीं किया करती थी। वह तो पति की आयु-वृद्धि की कामना करती रहती थी। पत्नी इस युग में पति की सर्वथा अनुवर्तनी हो गयी थी। वह न केवल आश्रिता; अपितु पति के प्रति सर्वथा समर्पिता हो गयी थी। पति का वर्चस्व उसके लिए इस सीमा तक स्वीकार्य हो चुका था कि पत्नी तो मात्र 'पति की संरक्षिता' अथवा दासीवत् निरीह प्राणी होकर रह गयी। "जोहि पहनावै सो ही पहनूँ—बेचे तो बिक जाऊँ" का कथन चरितार्थ होता-सा लगता था। पत्नी की अपनी कोई निजी अभिलाषा नहीं, उसका अपना कोई निजत्व नहीं। वह तो पतिस्वरूप में जैसे एकाकार होकर अपने अस्तित्व विलीन कर चुकी हो-ऐसी स्थिति थी। आराधक और आराध्य जैसी स्थिति में दम्पति आ गये थे। पातिव्रत्य स्त्री के लिए एक उज्ज्वल और अनिवार्य गुण है-इसे कोई नकार ही नहीं सकता, किन्तु इसके लिए एकनिष्ठता, अथवा अनन्यता का भाव ही पर्याप्त से अधिक रहता है। तत्कालीन स्त्री ने तो स्व का ही विलीनीकरण कर दिया था। इस हेतु स्त्री जाति का महिमा-गान भी खूब हुआ और उसे समर्पणशीलता के लिए प्रेरित भी खूब किया गया। स्कन्दपुराण के एक उल्लेखानुसार तत्कालीन स्त्री को निर्देशित किया गया था कि वह (पत्नी) पति से विपरीत व्यवहार पाकर भी सर्वथा शान्त रहे। पति यदि उसकी भर्त्सना करे, फटकारे तब भी उसकी वाणी तक में रोष का आभास नहीं होना चाहिए। ताड़ना पाकर भी उसे हास्यवदन बने रहना चाहिए। पद्मपुराण में पतिव्रता नारी के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

कार्ये दासी रतौ वेश्या भोजने जननी समा।
विपत्सु मंत्रिणी भर्तुः सा भार्या पतिव्रता॥

पत्नी को पति की आज्ञाकारिणी होना चाहिए। यह आदर्श पत्नी की परम विशेषता है जिसे पुराणों में अनेक आख्यानों के माध्यम से प्रकट किया गया है और इस गुण को अपनाने की प्रभावशाली प्रेरणा दी गयी है। ब्रह्मवेवर्तपुराण में कहा गया है—

पति-सेवा व्रतस्त्रीणां पति-सेवा परं तपः।
पति-सेवा परोधर्मः पति-सेवा सुरार्चनम्॥

स्त्री के लिए पति-सेवा ही व्रत है, यही परंतप, परम धर्म और देव-पूजा है। अतः—

व्रतं तपस्यां देवार्चां परित्यज्य प्रयत्नतः।
कुर्याच्चरण सेवां च स्तवनं च परितोषणम्॥

व्रत, तपस्या, देवार्चा सबको त्यागकर केवल पति-सेवा, पति-स्तवन और पति-परितोषण ही करे। भागवतपुराण में भी पति-सेवा को पत्नी का परम धर्म कहा गया है।

पुराणों का मत है कि पति की आज्ञा सर्वदा शिरोधार्य रहे और उसके औचित्य की परख के लिए अपने विवेक का प्रयोग करने की भी उसे आवश्यकता नहीं है। पति के वचन हैं तो सर्वथा पालनीय हैं; विचारणीय नहीं। पति कैसा है, या उसकी अभिलाषा-कामना उचित है अथवा नहीं, पत्नी इस सबका विचार किये बिना इच्छा-पूर्ति और आज्ञापालन करती रहे। यही आदर्श आचरण है। मार्कण्डेयपुराण में इस आदर्श के उद्धरण प्राप्त होते हैं। एक वृत्तान्त में शीलवती शांडिली का पति कौशिक ब्राह्मण कोढ़ी और अपंग (लँगड़ा) था। पत्नी उसे देवतुल्य मानती, सेवा-पूजा करती। उसकी आज्ञा और अभिलाषा को पूर्ण करने में अपना धर्म मानती। कौशिक की कामनानुसार पत्नी स्वयं उसे वेश्या के घर ले गयी और सारी रात्रि व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी अपने सतीत्व के बल पर सूर्योदय को रोके रखा। सावित्री ने पतिरूप में मन-ही-मन सत्यवान का वरण कर लिया था, फिर तो यह जानकर भी अपने निश्चय पर वह अटल रही कि सत्यवान की आयु मात्र एक वर्ष शेष रह गयी है; उसने उसी से विवाह किया। पति की आयु-वृद्धि के अतिरिक्त उसकी अन्य कोई कामना ही नहीं थी। धृतराष्ट्र की नेत्रहीनता के कारण उसकी पत्नी गांधारी ने भी अपने नेत्रों पर पट्टी बाँध ली कि जिस दृष्टि-सुख से वंचित उसके पतिदेव हैं, वह भी उस सुख का उपभोग नहीं करेगी। पति हरिश्चन्द्र द्वारा विक्रय करने पर पत्नी शैव्या बिक गयी। ये नारी-चरित के ऐसे दृष्टान्त हैं जिनसे सिद्ध होता है कि पत्नी अपने पति को अपना स्वामी और सर्वाधिकार प्राप्त मानती थी, उसकी आज्ञा और इच्छा को सदा पूरणीय मानती और यही आचरण पातिव्रत्य के लिए अपेक्षित मानती थी। वात्स्यायन के कामसूत्र में कहा गया है—

"पत्नी पति को यह विश्वास दिलाए कि वह उसी की है। वह पति को देवता समझे और पति की इच्छा के अनुकूल ही आचरण करे।"

"जो सदाचार की उपासना करती हैं; वे नारियाँ ही धर्म, अर्थ, काम के साथ पति के हृदय में अनन्य स्थान प्राप्त करती हैं।"[१]

इसी आधार पर पति को देवता के समान समझे जाने का अनुमोदन कामसूत्र द्वारा भी किया गया है।[२]

पुराणों में पति-सेवा और शीलवती पत्नी की महिमा का गुणगान सर्वत्र होता रहा। कतिपय तत्सम्बन्धी उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"पृथ्वी के जो तीर्थ हैं, वे सती के चरणों में भी हैं और देवों का तेज भी सतियों में है।" **—ब्रह्मवैवर्तपुराण**

"पतिव्रता पति के जीवन को यमदूतों से वैसे ही निकाल लेती है, जैसे सँपेरा बिल से साँप को।" **—स्कन्दपुराण**

"पितरों और देवताओं की जो सेवा पति द्वारा की जाती है, वह जो दान, धर्मादि करता है, उसका आधा फल पत्नी को स्वतः ही, उसकी पति-सेवा के फलस्वरूप मिल जाता है।" **—स्कन्दपुराण**

"पुरुष जब तक भार्या को प्राप्त नहीं कर लेता, वह अर्ध-पुरुष ही रहता है।" **—भविष्यपुराण**

"जैसे एक पहिये का रथ और एक पंख का पक्षी—वैसे ही भार्याहीन पुरुष भी सब कामों में अयोग्य होता है।" **—भविष्यपुराण**

[एक चक्रो रथो यद्वदेकपक्षो यथा खगः।
अभार्योऽपि नरस्तद्वदयोग्यः सर्वकर्मषु॥]

विष्णुपुराण में वृत्तान्त आता है कि नर-नारी अस्तित्व में कैसे आए और सृष्टि का निर्माण कैसे हुआ? इस विषय में कहा गया है कि—

अर्धनारी नर वपुः प्रचण्डोऽति शरीरवान्।
विभज्यात्मानमित्युक्त्वा तं ब्रह्मान्तर्दधे ततः॥

अर्थात् सृष्टि के आदि में रुद्र आधे शरीर से पुरुष और आधे शरीर से स्त्री हुए, तब ब्रह्मा ने इनके दो विभाग करके सृष्टि बना दी। इस प्रकार नर-नारी का

---

१. धर्मार्थं तथा कामं लभंते स्थानमेव च।
निःसपत्नं च भर्तारं नार्यः सद्वृत्तमाश्रिताः॥

२. देववत् पतिमानुकूल्येन वर्तेत।

मूलाधार है। इस अवतरण से प्रकट होता है पुराणकारों की दृष्टि में नर और नारी दोनों परस्पर पूरक हैं। दोनों पृथक्-पृथक् रूप में अपूर्ण और योग रूप में परिपूर्ण हैं। नर-नारी दोनों किसी एक के ही दो अंश हैं; अत: तत्वत: दोनों एक-से हैं, समान हैं। स्मृतिकाल में नारी स्थिति ढलान में जितनी नीचे उतर आयी थी, पुराणकाल में वह कुछ और भी निम्नतर हो गयी थी। यह व्यावहारिक और दृश्यमान पक्ष है, अन्यथा वैचारिक और सैद्धान्तिक रूप में नारी की गरिमा इतनी दयनीय नहीं रही। सत्य यह है कि परवर्तीकाल में नारी की अवस्था अधोगति ही प्राप्त करती रही।

बौद्धकाल में नारी

बौद्धकाल में नारी की सामाजिक-धार्मिक क्षेत्रों में जो अवस्था रही वह इस दृष्टि से विशेषत: उल्लेखनीय रही कि उसमें गिरावट भी बड़ी तेजी से आयी और नारी-चरित्र की मूलभूत विशेषताएँ भी किसी सीमा तक बनी रहीं। नैतिक ह्रास इस काल में अपेक्षाकृत अधिक रहा—इसमें भी कोई सन्देह नहीं। तत्कालीन जातक साहित्य नारी-स्थिति का जीवन्त साक्ष्य माना जा सकता है। कतिपय प्रसंग उद्धृत हैं—

- श्रावस्ती के भूमिपति पर डाकुओं ने आक्रमण किया। डाकू उसकी पत्नी पर मुग्ध हो गये। पत्नी ने कहा यदि तुमने मेरे पति की हत्या कर दी तो मैं विष-सेवन कर प्राण त्याग दूँगी, किन्तु किसी भी स्थिति में मैं तुम्हारी वशवर्तिनी नहीं बनूँगी। अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष का ध्यान भी साध्वी स्त्री नहीं करती, किसी का भी आधिपत्य स्वीकार नहीं करती।
- साध्वी स्त्री से एक यक्ष के इस कथन पर किया तो मेरी इच्छा पूर्ण कर, या मृत्यु स्वीकार कर तो साध्वी स्त्री मरण का चयन करती है।
- दुष्ट, कामुकजन धन का लोभ दिखाकर एक वधू को शील-पथ से भ्रष्ट करना चाहते हैं, तो वधू कहती है कि यह तो मेरे पति की चरण-रज के बराबर भी नहीं है।
- राजरानी मृदुलक्षणा कामासक्त परिव्राजक से शौच स्थान स्वच्छ करवाती है। इस प्रकार उसे लज्जित कर उसका मोह भंग कर अपनी सतीत्व-रक्षा कर लेती है।

जातक कथाओं से अवतरित इन उद्धरणों से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि बौद्धकाल में सतीत्व जैसा गौरवपूर्ण लक्षण नारी-चरित्र की उज्ज्वलता में सहायक बना रहा। शीलत्व नारी-महिमा का अविच्छिन्न अंग वेदकाल से बना हुआ था और अपनी न्यूनाधिक गरिमा के साथ बौद्धकाल में भी वह दृष्टिगत

होता रहा। स्त्री भय अथवा लोभ के वशीभूत होकर भी अपने गौरवपूर्ण मार्ग से च्युत नहीं होती थी। पत्नी अपने पति के संकटकाल में भी उसका साथ नहीं त्यागती और सभी मित्र, स्वजन-परिजन उसे संकट में एकाकी छोड़ सकते हैं, किन्तु पत्नी का साहचर्य उसे तब भी प्राप्त रहता है; क्योंकि पत्नी की धारणा में विश्व के चारों कोनों पर उसे अपने पति के समान प्रेम करने वाला नहीं मिल सकता।

जातक कथाओं में इसके विपरीत नारी-आचरण के उद्धरण भी मिल जाते हैं—

- हरिणी पर आसक्त एक विवेकहीन मृग को प्राण गँवाने पड़े। बोधिसत्व ने इससे यह निष्कर्ष निकाला कि उस जनपद को धिक्कार है जिसका संचालन स्त्रियाँ करती हों।
- अपनी भार्या के दोषों से दु:खित एक शिष्य को गुरु का उपदेश प्राप्त होता है कि लोक में स्त्रियाँ—नदियों, मार्गों, बाजारों, सभाओं, मदिरालयों की भाँति सभी के लिए होती हैं। एकनिष्ठता का अभाव इससे संकेतित होता है।
- ब्रह्मदत्त की रानी एक अमात्य से आसक्त रहती थी। राजा को बोधिसत्व ने उपदेश दिया कि स्त्री तो सर्वगामी होती है, अत: वह क्षम्य है।
- एक स्त्री का पुत्र, उसका पति और उसका भाई जब बन्दी बना लिया गया तब उस स्त्री से कहा गया कि वह किसी एक को मुक्त करा सकती है। वह किसे बंधन से छुड़ाना चाहती है? स्त्री का उत्तर था—भाई कहीं प्राप्त नहीं हो सकता; अत: उसे ही छोड़िये। उसने पति की महत्ता नहीं मानी।

यह सत्य भी हमारे समक्ष आता है कि अनेक स्त्रियाँ इस युग में अनेक-अनेक विवाह रचाती थीं, व्यभिचार-संलग्न भी हो जाती थीं। उपर्युक्त प्रकरण भी पति की महत्ता का अवमूल्यन इंगित करते ही हैं; तथापि ये अपवादस्वरूप ही थे। इसे सर्व सामान्य स्थिति नहीं कहा जा सकता। समाज में नारी की प्रतिष्ठा उसके सतीत्व के कारण अब भी बनी रही। स्त्री का पुंश्चली होना निन्दनीय ही माना जाता था। स्त्रियाँ स्वयं भी अपने सतीत्व की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा देती थीं।

नारी की सामाजिकता

जातक कथाओं के माध्यम से बौद्धकाल में नारी का समाज में क्या स्थान रहा, परिवार में उसके सम्बन्ध कैसे रहे—आदि प्रश्नों पर भी कतिपय जानकारियाँ प्राप्त हो जाती हैं। विशेषत: पतिगृह में वधू की स्थिति पर अनेक जातकों द्वारा प्रकाश पड़ा है। तत्कालीन समाज में माता का अत्यन्त आदरास्पद स्थान रहा। माता-पिता को देषवत् माना जाता था। इनमें भी माता को अग्रणी माना गया। "**ब्रह्मा हि माता पितरो**" और "**पुब्ब देवता नाम माता पितरो**"—फास बोल जातक के ये कथन माता-पिता को ब्रह्मा के समान पूज्य स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं।

जातकों से ज्ञात होता है कि बौद्धकाल में पुत्रवधू द्वारा भी सास का अतिशय सम्मान किया जाता था। एक थेरी गाथा में ऋषिदासी थेरी का कथन मिलता है—"पितृकुल में पायी शिक्षा के अनुरूप मैं प्रात:-संध्या सास-ससुर की पद-वंदना करती और चरण-धूलि सर पर लेती थी।" धनंजय सेठ ने भी अपनी पुत्री विशाखा को उसके पतिकुल में पालन करने को दस उपदेश दिये थे। विशाखा ने इनका पालन किया भी, तथापि ससुर के साथ जब उसका विवाद हो जाता है तो पंच न्याय करते हैं और ससुर उसे निर्दोष मानकर अन्तत: क्षमायाचना करता है। ये प्रकरण उदाहरण हैं कि वधुएँ पतिगृह में गुरुजनों के साथ विनय और सम्मानपूर्ण व्यवहार रखती थीं। तथापि कतिपय स्थलों पर सास-बहू के अप्रिय और कटु सम्बन्धों की चर्चा भी रही अवश्य है। कथाओं में वधू पर सास के मनमाने अत्याचारों का उल्लेख भी है। वधूएँ इनसे मुक्त होने के लिए भिक्षुणी बनकर मठों की शरण में चली जाती थीं। बहू के क्रूर व्यवहार के प्रसंग भी मिलते हैं। इसी कारण सोण नामक एक सास को भिक्षुणी बनना पड़ा। एक बहू अपनी सास को मारने का षड्यंत्र रचती है; किन्तु होनी कुछ और ही थी स्वयं बहू और उसकी माता की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

बौद्ध धर्म और नारी

बुद्ध भगवान ने आरम्भ में संघ में नारी के लिए कोई स्थान नहीं रखा था। आगे चलकर उन्होंने अपनी माता समान मौसी को अपने शिष्य आनन्द के आग्रह पर प्रवेश के लिए अनुमति दे दी और नियम हो गया कि ऐसी स्त्रियाँ आजीवन अविवाहिता रहेंगी। वस्तुस्थिति यह भी है कि बौद्ध धर्म के दौर्बल्य और पतन के लिए यह स्थिति भी न्यूनाधिक रूप में उत्तरदायी रही। बौद्ध विहार व्यभिचार एवं वासना के स्थल हो गये। बौद्ध भिक्षुणियाँ 'थेरी' कही जाती थीं। यों, थेरी

शब्द का अभिधार्थ है—ज्ञान में बढ़ी-चढ़ी नारी। अनेक थेरियों ने अपने अनुभवों को लेखबद्ध करते हुए ग्रन्थ-रचना भी की जो 'थेरी-गाथा' के नाम से जानी जाती हैं। इन गाथाओं में थेरियों की जीवन-स्थितियों का अंकन भी हुआ है और उनसे महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य प्राप्त हो जाते हैं।

समाज के विभिन्न वर्गों, स्तरों से निकलकर आयी महिलाएँ थेरी बनती थीं। राजपरिवार की महिलाएँ भी, अछूत स्त्रियाँ भी, यहाँ तक कि गणिकाएँ भी थेरी हो जाती थीं। विभिन्न आयुवर्ग की स्त्रियाँ भिक्षुणी बन जाती थीं। कुमारी कन्याएँ भी, विवाहिताएँ भी, विधवाएँ भी और वृद्धाएँ भी थेरी-जीवन आरम्भ कर सकती थीं। जीवन की नाना प्रकार की परिस्थितियाँ उन्हें थेरी-जीवन अपनाने की प्रेरणा और विवशता से भर देती थीं। राजबाला सुमेधा ने जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता का मर्म समझ लिया तो विरक्ति से भर उठी और भावी वैभवशाली जीवन को नकार कर संन्यस्थ हो गयी। श्रेष्ठी-कन्या इषि दासी का परित्याग एक के बाद एक—तीन पतियों ने कर दिया तो भग्नाश हो, वह भिक्षुणी बन गयी। भद्दकुण्डलकेशा का पति घोर व्यसनी था। अपने लम्पट, चोर-जुआरी पति का प्राणान्त कर वह भिक्षुणी हो गयी थी। उत्पलवर्णा का उसके पति ने परित्याग कर दिया था और विडम्बना ऐसी हुई कि नवीन सम्बन्ध-स्थापन में वह जब अपनी पुत्री की ही सपत्नी (सौत) बन गयी, तो वह आत्म-ग्लानि से भर उठी और भिक्षुणी हो गयी। आम्रपाली तो गणिका थी। उसने अपनी सर्वसम्पदा संघ को अर्पित कर दी और स्वयं थेरी हो गयी। अर्धकेशी, पद्मावती, विमला आदि थेरियाँ भी अपनी पूर्वावस्था में वेश्याएँ थीं तो राजघरानों से सम्बद्ध अनेक नारियों ने भी भिक्षुणी जीवन अंगीकार किया था। बुद्ध की माता-समान गौतमी, भगिनी नन्दा, अल्वीनृत-कन्या सेला, लिच्छवी वंश की सिंहा और जयन्ती के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

स्पष्ट है कि धर्म का मार्ग ग्रहण करने के लिए नारी-मात्र स्वच्छन्द थी। जाति, कुल, आयु आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। निर्वाण-प्राप्ति का अधिकार सभी को समान रूप में प्राप्त था। कतिपय भिक्षुणियों ने अपनी साधना और उपलब्धियों के आधार पर समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त किया और नारी जाति की प्रतिष्ठा बढ़ी।

जैसा कि वर्णित किया गया है भगवान बुद्ध मौलिक रूप से स्त्री का संघ प्रवेश उपयुक्त नहीं मानते थे। अपने प्रिय शिष्य आनन्द के विशेष एवं तीव्र अनुरोध पर उन्होंने अपनी मौसी (माता के समान पालन करने वाली)

महाप्रजापति गौतमी को प्रवेश की अनुमति दे दी। इस घटना के साथ ही एक और भी अतिमहत्त्वपूर्ण तथ्य रहा है। बुद्ध ने इसके पश्चात् आनन्द से कहा था कि याद रखो, यदि नारी का प्रवेश संघ में नहीं होता तो उसका जीवन १,००० वर्षों का होता, किन्तु तुमने उसका संघ में प्रवेश करा दिया है; अत: संघ की जीवन-यात्रा मात्र ५०० वर्षों की रह जायेगा। कटु सत्य भी यही रहा कि बौद्ध धर्म अधिक दीर्घजीवी नहीं बन पाया। धर्म-प्रवर्त्तक बुद्ध की यह धारणा नारी के मूल्यों में अवनति का संकेत अवश्य करती है, उसकी अपात्रता का सुस्थापन करती है। इसके विपरीत भगवान महावीर स्वामी ने तो स्त्रियों के प्रवेश के लिए धर्म के द्वार आरम्भ से ही उन्मुक्त रखे। स्त्री-प्रवेश का प्रश्न ही नहीं आया-इसकी आवश्यकता ही नहीं रही। बौद्ध धर्म में भी नारी को पुरुष की परम मित्र स्वीकार किया गया था, निकटतम सहचर माना गया—"**भारिया परम सखा**....।" असाध्य रोगों से ग्रस्त पति की सेवा करती पत्नी जातकों में दृष्टिगत होती है। पत्नी की प्रार्थना पर डाकू उसके पति को प्राण-दान देते हैं। सुजाता, अमरादेवी, रूपा, तुदयमदा आदि सन्नारियों ने पत्नी के आदर्श स्थापित किये थे। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, दीर्घ निकाय आदि में स्त्री को १४ रत्नों में स्थान दिया गया। आपद्काल में स्त्री को सर्वप्रथम रक्षणीय माना जाता था।

बौद्धकाल में अनेक स्त्रियाँ परम पंडिता थीं, विदुषी थीं। दर्शन जैसे गूढ़ विषयों में भी उनकी अच्छी गति थी। धर्म शिक्षिकाएँ भी वे रहीं। थेरी गाथाएँ उनके विचारक और रचनात्मक प्रवृत्तियों की द्योतक हैं। जातकों से यह आभास भी होता है कि उस समय राजकुल की नारियाँ आवृत यानों में ही बाहर जाया करती थीं। रानियाँ अमात्यों, उच्चाधिकारियों से स्वतंत्रतापूर्वक विचार-विमर्श भी करती थीं। सभा-समारोह में पर्दे का प्रतिबंध नहीं रहा करता था। प्राय: अन्य कालों की भाँति ही बौद्धकाल में भी नारी का मूल्याकंन दो ऐसे दृष्टिकोणों के साथ किया गया है जो परस्पर विरोधी हैं। एक विचार उसे पुरुषाधीन मानता है, उसमें हीनत्व दर्शाता है तो दूसरा विचार उसे प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

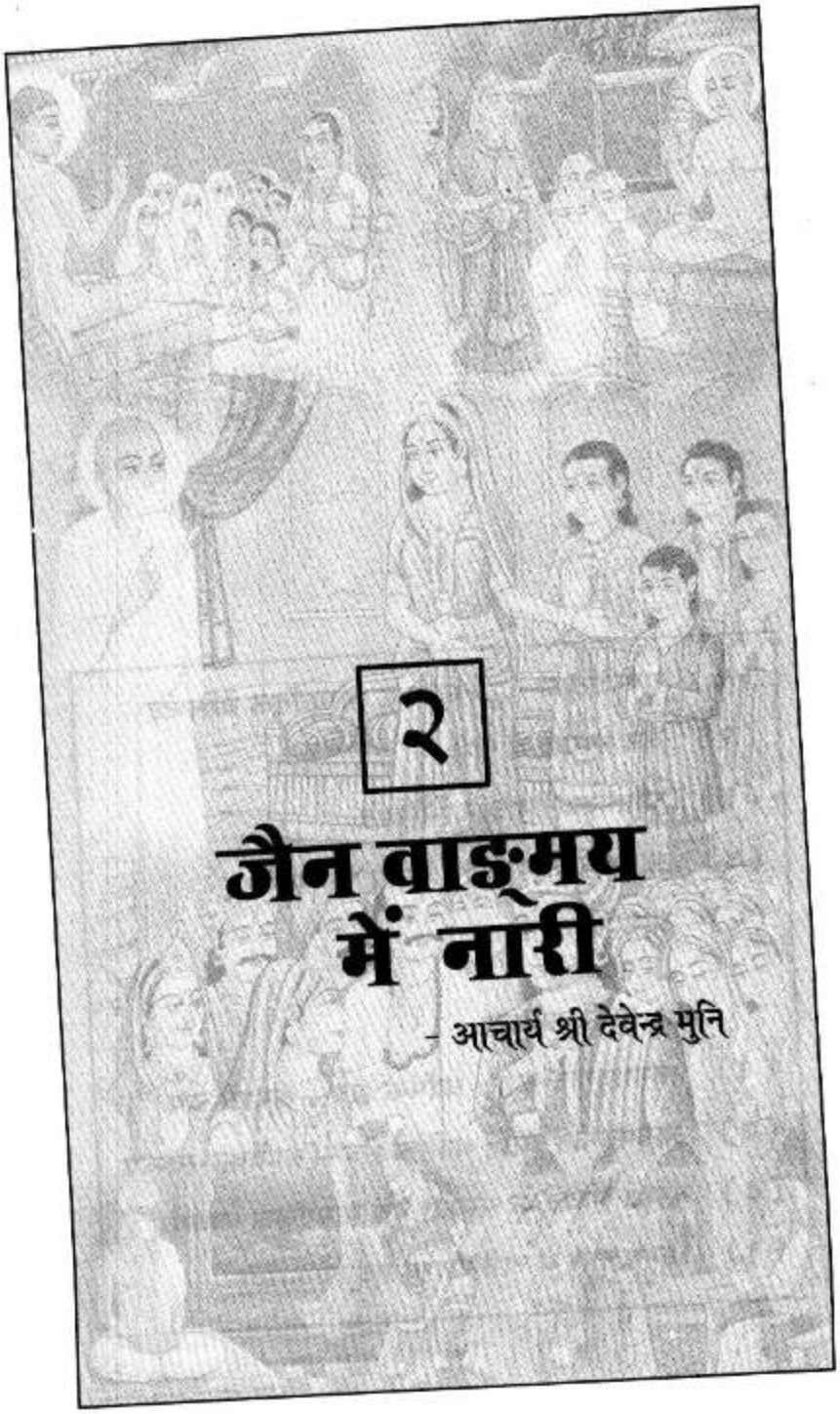

२

जैन वाङ्मय में नारी

– आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

(१) पूर्वपीठिका : पूर्वकालिक सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

(२) जैन आगमों में नारी

(३) आगमकालीन कन्या-स्थिति

(४) आगमकालीन नारी : विवाहोत्तर स्वरूप

(५) आगमकालीन माता
- ❑ उपमाता
- ❑ दासी-गणिका

(६) आगमयुगीन नारी : धार्मिक क्षेत्र—श्रमणी रूप

(७) आगमयुगीन नारी : धार्मिक क्षेत्र—श्राविका-स्वरूप

(८) गृहस्थ जीवन के संस्कार एवं सामाजिक व्यवस्था

(९) आगमकाल में नारी-शिक्षा एवं लोकाचार

१

पूर्वपीठिका :
पूर्वकालिक सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

हमारा मूल प्रतिपाद्य है—'**जैनागम में नारी-स्थिति**'। वीरकाल के आते-आते नारी जिन स्थितियों के देख-भोग चुकी थी—उन अतीत की स्थितियों को इस मंतव्य के विषय-प्रवेश के रूप में अध्ययन का विषय बनाना, विषयान्तर न होकर सहायक सिद्ध होगा। ये परिस्थितियाँ जिन परिवेशों में रहीं वे सांस्कृतिक अवस्थाएँ तो इस प्रयोजन से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। वीरयुगीन नारी अवस्था को परिणाम माना जा सकता है—इस पूर्वकालिक सांस्कृतिक अतीत का। कारण का विवेचन कार्य के प्रति स्पष्ट समझ निर्मित करने में सदा ही सहायक रहा करता है। वैदिककाल से वीर-युग-पूर्व की संस्कृति पर विचार करने के संदर्भ में इस अवधि की पूर्व-वर्णित परिस्थितियों के मुख्यांश का पुनरावलोकन भी अप्रासंगिक न होगा।

वैदिक संस्कृति की अपनी अनेक आदर्श स्थितियाँ रहीं, कतिपय दुराग्रह भी आज की दृष्टि से रहे, किन्तु ज्यों-ज्यों काल-प्रवाह अग्रसर होता रहा, इन सिद्धान्तों और मान्यताओं में परिवर्तन आता रहा—सहज और स्वाभाविक रूप में। महाकाव्यकाल की संस्कृति तो कदाचित् अति समृद्ध और सम्पन्न कही जा सकती है जिसका मूलाधार पूर्वकालिक संस्कृति रही। उसका परिवर्तित रूप भी और कतिपय नवीन तत्त्व भी इसमें सम्मिलित रहा। वेद और वेदोत्तर युगों में हिन्दू धर्म और संस्कृति के मूल तत्त्व ऋणत्रय, पंचमहायज्ञ, वर्ण-आश्रम व्यवस्थादि का प्राधान्य रहा। इन तत्त्वों द्वारा आदर्श गृहस्थ धर्म प्रशस्त होता रहा और इस माध्यम से नर-नारी की स्वतंत्र और संयुक्त (दाम्पत्य) आदर्शों का प्रतिपादन स्वतः ही होता चला गया। स्त्री शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक और पारिवारिक दायित्व माना गया और इसका निर्वाह भी गंभीरतापूर्वक होता रहा। यह स्थिति ईसा की प्रथम शती तक भी निरन्तरित रही। तब तक बौद्ध और जैन संस्कृतियों का समारंभ भी हो चुका था। अनेक विदुषियों ने अपने ज्ञान और बुद्धि बल से अपार यशार्जन भी किया। शिक्षा के अनेकानेक क्षेत्र स्त्रियों के लिए

उन्मुक्त रहे। मूल और आधारभूत शिक्षा का स्वरूप गृह अथवा परिवार से ही आरम्भ होता था जो चरित्र-निर्माणकारी संस्कार-स्थापना के रूप में रहा करता था। परिवार भी एक पाठशाला थी और जननी प्रथम गुरु का स्थान रखती थी। इस सारे काल में सह-शिक्षा का प्रचलन रहा जो आगे चलकर क्रमशः लुप्त होता चला गया। ईसा पूर्व छठी शती तक तो यह अपने प्रबल रूप में रहा। बाल-विवाह नहीं होते थे, वेदाध्ययन का अधिकार नारी को भी प्राप्त था, धार्मिक क्रियाओं में उसकी पुरुष-समकक्ष प्रतिभागिता भी रहा करती थी। ईसा की प्रथम शताब्दी तक के पश्चात् ही इनमें विकार आने लगे। पारिवारिक गठन और संचालन के लिए विवाह संस्कार मूलाधार सिद्ध हो चुका था। अन्य संस्कारों में इसे इसी कारण प्रमुखता भी प्राप्त थी। प्राचीनकाल में स्त्री-पुरुषों की स्वेच्छाचारिता एवं यौन अराजकता को इसी संस्कार द्वारा सफल समापन मिला और समाज में एक शुचिता और व्यवस्था का समावेश भी हुआ तथा नारी-गरिमा और शालीनता में वृद्धि भी हुई थी। आलोच्य अवधि में विवाह संस्कार ने नारी को गौरव प्रदान किया। प्राचीनकाल से ही हमारे यहाँ माता का अत्यन्त आदरणीय स्थान रहा है। महाकाव्यकाल में माता के प्रति समाज की सम्मान भावना चरम पर थी। कौशल्या का मातृ-गौरव तो एक आदर्श ही बन गया है। महाभारत की गांधारी और कुन्ती का गौरवपूर्ण स्थान भी उल्लेखनीय है। धार्मिक क्रिया-कलापों में भी माता का अभिनन्दन होता था। माता की, सन्तति के शिक्षण की महती प्रवृत्ति भी रहा करती थी, वही आदिगुरु का स्थान रखती थी। माता के समान श्रेष्ठ अन्य कोई गुरु नहीं—ऐसी मान्यता थी। पिता को दस उपाध्यायों से भी बढ़कर माना गया है, किन्तु माता तो दस पिताओं से भी अधिक महत्ता रखती है। वह अपने अटूट धैर्य, कष्ट-सहिष्णुता, पोषण-प्रवृत्ति एवं वात्सल्य के लिए अनुपम मानी गयी है, अद्वितीय समझी गयी है।

इस काल में पत्नी रूप में भी नारी पर्याप्त गरिमामयी बनी रही। परिवार यदि समाज का आधारभूत घटक था तो गृहणी रूप में नारी ही परिवार की केन्द्रीय शक्ति या धुरी थी। पत्नी गृहणी होती थी, भार्या और जननी होती एवं वही जाया भी होती थी। दाम्पत्यधर्म, गृहस्थधर्म के नाना कर्त्तव्यों का निर्वाह करना पत्नी का धर्म था। पति-सेवा और पति-परायणता तो उसका सर्वोच्च आदर्श था ही, समस्त परिवार का भरण-पोषण भी उसका ममतापूर्ण दायित्व था जो स्वयं के लिए भी वह सुखद मानती थी। गुण-दोषों का चिन्तन किये बिना ही आदर्श पत्नी पति को देवता-तुल्य, पूज्य और श्रद्धेय मानती थी। ऐसी पत्नी अपने पति की प्रतिष्ठा का कारण भी बनती थी। पत्नीवान पुरुष ही विश्वस्त माना जाता था।

भार्या से ही पुरुष की गति बनती थी—वही पति के लिए श्रेष्ठ सखा का स्थान भी रखती थी—

अर्धभार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखाः।
भार्यामूलम् त्रिवर्गस्य, भार्यामूलम् तरिष्यतः॥

पत्नी की महिमा का आकलन इस तथ्य से हो जाता है कि उसके बिना पति एकाकी रूप में यज्ञादिक धर्म-क्रियाओं के लिए अयोग्य ही रहता था। वह परिवार की साम्राज्ञी थी, वही परिवार की सुख-समृद्धि की स्रष्टा भी थी। पति-परायणता और पातिव्रत्य की उपासिका पत्नी अनेक मर्यादाओं का स्वेच्छापूर्वक निर्वाह करती है—उन्हें अपने धर्म का अविच्छिन्न अंग मानती थी। यथा—पति के प्रवास पर होने की स्थिति में पत्नी क्रीड़ा, प्रसाधन, अनुलेपन, सामाजिक उत्सवों में सम्मिलित होना, ह्रास-विलास, अन्य पुरुषों से संभाषण आदि के निषेध को सुखद रूप में स्वीकार करती थी।[१] इन मर्यादाओं से पति के प्रति एकनिष्ठता एवं अनन्यता की भावना व्यक्त होती थी जो भारतीय सन्नारियों की विशिष्टता है।

समाज में कन्या को मंगलकारिणी मानकर सम्मानजनक स्थान दिया गया था। शुभावसरों पर कन्यादर्शन मंगल-सूचक माना जाता था। पुत्र-प्राप्ति के समान ही पुत्री-प्राप्ति की कामना भी की जाती थी और तदर्थ यज्ञ भी किया जाता था। पुत्री की शिक्षा-दीक्षा, संस्कारशीलता, चरित्र-निर्माण, भरण-पोषण आदि की दृष्टि से पुत्र और पुत्री में कोई भेद नहीं किया जाता था। तथापि पुत्र की अनिवार्यता अपरिहार्य थी। मोक्ष की प्राप्ति, ऋण से उऋण होने आदि हेतुओं से पुत्र की महिमा अतिरिक्त रूप में थी ही। साथ ही इस काल की यह विशेषता भी रही कि कन्या के विषय में शुभाशुभ—दोनों प्रकार के दृष्टिकोण थे। यही कारण है कि कतिपय शास्त्रकारों द्वारा पुत्री या कन्या के पक्ष में उदारता नहीं बरती गयी। उदाहरणार्थ, मध्य युग में आचार्य हेमचन्द्र कृत शब्दानुशासन में 'उसे शोकंकरी' तक कह दिया गया है। महाभारत में उसके शुभ-अशुभ दोनों रूपों को स्थान मिला है। एक ओर यह कहा गया है कि कन्या में सदा लक्ष्मी निवास करती है,[२] तो दूसरी ओर यह भी अन्य स्थल पर वर्णित हुआ है कि वह कष्ट का कारण है, वह शत्रु है। कदाचित् यह शुद्ध निन्दात्मक व्यवहार ही प्रकट न करता हो; अपितु उसके पीछे आधारस्वरूप कोई कारण रहे होंगे। कन्या पितृगृह

---

१. क्रीड़ा शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्य परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषित भर्तृका॥

२. नित्यमनिवसते लक्ष्मीः कन्यकासु प्रतिष्ठितः।

में धरोहर रूप में मानी जाती थी। वह दान की जाने को थी और वर को कन्यादान किये जाने तक उसकी पावनता और सुरक्षा का दायित्व भी कम जटिल नहीं था। विवाह स्वयं पिता के लिए एक कष्टसाध्य और समस्या-प्रधान प्रकरण था। ऐसे ही कारकों के कारण कन्या के प्रति कतिपय अमंगल धारणाएँ बनने लगी थीं, अन्यथा इसी महाभारतकाल में शुक्राचार्य भी थे—जिन्हें अपनी पुत्री देवयानी प्राणों से भी अधिक प्रिय थी। पुत्री के हितार्थ वे अपने उदर के विदीर्ण होने के भय से भी विचलित नहीं हुए। निष्कर्षत: व्यक्त किया जा सकता है कि प्रसंग विशेष में और सकारणता के साथ ही कन्या-विरोधी-सा प्रतीत होता, किंचित् सा तत्त्व दृष्टिगत अवश्य होता है, किन्तु सामान्य रूप से इस युग को कन्या-निन्दक मानने में कोई औचित्य नहीं लगता।

यह एक आदर्श स्थिति उस युग की भी विशेषता रही कि समाज ने नारी का सम्मान किया और नारी ने अपने सद्गुणों से समाज की प्रतिष्ठा को उच्चता प्रदान की। तब की नारी समाज-श्री रही। अपनी चरित्रोच्चता और आचरण-पावनता के बल पर उसने सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की। शास्त्रों द्वारा भी सदाचरणशीलता के ही निर्देश उसे प्राप्त होते रहे। रूपगर्व को अनीतिकारी बताते हुए उसे सरलचित्तता और निरभिमानता के अनुसरण की प्रेरणा दी जाती थी। रूपगर्विता होकर नारी के कुमार्गी हो जाने, पर-पुरुषगामी होकर पति का अनादर करने वाली स्त्री को हीन मानने और सार्वजनिक रूप से उसे कुत्तों से कटवाने जैसे आख्यान प्रचारित किये जाने के पीछे स्त्री को सन्मार्ग हेतु प्रेरित करने का ही पावन प्रयोजन रहा। इस प्रकार के कथन इसके प्रमाण हैं—

''भर्तारं लंघयेद्या तु स्त्रीगुणदर्षितां।''

गणिकाओं का आज भी समाज में गर्हित और हेय स्थान है, उस युग में भी वे श्लाघनीय अवस्था में तो नहीं रहीं, किन्तु उन्हें एक अनिवार्य बुराई के रूप में स्वीकार्यता प्राप्त थी। उनकी उपादेयता ललित कला-विकास, मनोरंजन, सेवा-सुश्रूषा आदि की दृष्टि से सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। क्या राज और क्या समाज सभी ओर से उनको यथोचित सम्मान ही प्राप्त होता था।

पर्दा-प्रथा जैसा प्रतिबंध तत्कालीन नारी-स्वातंत्र्य पर सामान्यत: नहीं रहा। स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ सार्वजनिक समारोहों में जाती थीं। परिवार में भी अवगुंठन का प्रचलन नहीं था। राजपरिवारों की महिलाएँ, कुलीन नारियाँ अवश्य ही महाकाव्यकाल में अवगुंठनवती और आवृता रूप में दृष्टिगत होती हैं—किन्तु इसे भी कुलीनता, उच्चवंशीयता की गरिमा के रूप में, शालीनता के रूप में ग्रहण

किया जा सकता है। ऐसे प्रसंग महाभारत में भी आए हैं जहाँ नारी ऐसे प्रतिबंधों से मुक्त रही है, वरन् सामान्य स्थिति ही यही रही। द्रौपदी द्यूत-सभा में भी अवगुंठन-मुक्त अवस्था में आती है। यथार्थ तो यह है कि बारहवीं सदी में भी पर्दा-प्रथा का सामान्य प्रचलन आरम्भ नहीं हुआ था। सती-प्रथा भी जब समाज द्वारा अनिवार्य पालनीय कर दी गयी, तभी से निन्दनीय समझी गयी। अन्यथा, आलोच्यकाल में भी, अति प्राचीनकाल की भाँति ही सती-प्रथा का प्रचलन भी था। पति के साथ सह-मरण की प्रथा का पालन स्वेच्छाधारित भी था और ऐसी महिलाएँ समाज द्वारा सम्मानित भी होती थीं। मरणोपरान्त भी उन्हें युगों तक पूजनीय स्थान प्राप्त रहता था। सतीत्व स्त्री का परम गौरव माना जाता था, किन्तु सतीत्व का अर्थ अन्य संदर्भों में भी ग्रहण किया जाता रहा। यह निष्ठा एवं अनन्य भावना के साथ अटूट दाम्पत्य सम्बन्ध का प्रतीक भी स्त्री के लिए रहा—"**सती-साध्वी स्त्री**"—कहकर उसके ऐसे गौरव की चर्चा होती थी। स्त्री के सत्य पर, शील पर स्थिर रहने का भाव भी सतीत्व से प्रकट होता है। दाम्पत्य की अटूटता ही कदाचित् अपनी चरम स्थिति पर पहुँच जाती है, जब पत्नी अपने मृत पति के साथ अपना भी शरीरान्त कर देती है। यह प्रवृत्ति ही सतीत्व के अर्थ में कालान्तर में प्रमुख हो गयी। इसे सहगमन, अनुमरण जैसे नामों से भी जाना जाता रहा है। रामायण में वेदवती का सती होना और महाभारत में माद्री का अपने मृत पति पाण्डु के साथ सहमरण वर्णित हुआ है। महाभारत में स्त्री के लिए इस प्रवृत्ति को श्रेयस्कर माना गया है।

विवाह संस्कार भारतीय संस्कृति और जीवन पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी रही है जो दाम्पत्य और गृहस्थ जीवन की आधार भी रही है। विवाह ही पति और पत्नी को पारस्परिक कर्त्तव्यों की पूर्ति की चेतना देता था। यह स्वच्छन्द यौनाचार को नियमित कर एक सम्बन्ध-शुचिता का सूत्रपात भी करता है और समाज के आवश्यक घटक परिवार को भी पावन और व्यवस्थित रूप देता है। विवाह ही सन्नारी को सतीत्व के सूत्र में आबद्ध करता है। यही सती होने की स्वेच्छाधारित प्रेरणा देता है। जहाँ समाज में सती-प्रथा प्रचलित थी, वहीं 'नियोग' प्रथा का प्रचलन भी रहा है। नियोग के अधीन स्त्री के लिए एक और स्वातंत्र्य का विधान है। यदि पति का मरण हो जाय, अथवा वह अतिदीर्घ प्रवास पर हो, अथवा वह क्लीव हो तो पत्नी अपने देवर के साथ सम्बन्ध-स्थापन करने के लिए मुक्त थी।[१] नियोग के भी अनेक उदाहरण महाभारत में प्राप्त होते हैं।

---

१. नारी तु पत्यभावे देवरं कृणुतेयति। —महाभारत

सत्यवती की विधवा पुत्रवधुओं का महर्षि व्यास से नियोग हुआ। कुन्ती व माद्री ने भी नियोग से ही पुत्र-प्राप्ति की थी।

धार्मिक क्षेत्र में नारी की भूमिका : वैदिक परम्परा

वेदकाल से ही धर्म-क्रियाओं में नारी की अनिवार्य अपेक्षा रही है। ऋग्वेद में यज्ञादि अनुष्ठानों में पत्नी की पति के साथ सहभागिता प्रतिष्ठित की गयी है। सूत्रों में भी नारी द्वारा यज्ञ-सम्पादन का विधान है। जैमिनी ने तो यज्ञकर्म में पत्नी का साहचर्य अनिवार्य बताया है। वैदिक कालोपरान्त नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा के संग-संग, उसकी धार्मिक सहभागिता का भी आगे-से-आगे विकास ही होता चला गया है। ऋग्वेद के पश्चात् के उत्तरवैदिककाल में ब्राह्मण धर्म प्रभावशाली रहा। ब्राह्मण मनीषियों द्वारा धर्मग्रन्थों की रचना हुई, रामायण-महाभारतादि महाकाव्यों के रचयिता भी ये ही रहे। ब्राह्मणों ने १०० वर्षीय जीवन की कल्पना कर उसे चार भागों (आश्रमों) में विभक्त किया—(१) ब्रह्मचर्याश्रम, (२) गृहस्थाश्रम, (३) वानप्रस्थाश्रम, और (४) संन्यासाश्रम। हिन्दू-जीवन-पद्धति के लिए यह आश्रम व्यवस्था एक अनिवार्य अंग हो गयी थी। जीवन के इन क्रमिक विकास-चरणों में नारी की भूमिका पुरुषाधारित ही रही। ब्रह्मचर्याश्रम में पुरुष और स्त्री का सम्पर्क नहीं था। वे पृथक्-पृथक् रूप में जीवन और चरित्र-निर्माण के क्रम में व्यस्त रहते। विद्याध्ययन, ज्ञानार्जन, संस्कार-ग्रहण की प्रवृत्तियाँ रहतीं। विवाहोपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश पर दाम्पत्य जीवन आरम्भ होता। वधू के रूप में कन्या का पति-कुल में प्रवेश होता जहाँ वह साम्राज्ञी की भाँति रहती। पत्नी, भार्या, गृहणी, जाया आदि विभिन्न रूपों में उसके लिए अनेक अनुकरणीय आदर्श रहते जिनका विवेचन पूर्व में सविस्तार हो चुका है। मातृत्व के रूप में उसे अतिशय सम्मान और नारी-जीवन की परिपूर्णता प्राप्त होती मानी गयी थी। वानप्रस्थ आश्रम में भी पति के साथ पत्नी के जाने की अनुमति थी। केवल संन्यासाश्रम में पति एकाकी रूप से प्रवेश करता था।

आश्रम व्यवस्था जहाँ व्यक्ति के जीवन का नियमन था, वहाँ समाज के वर्गीकरण की व्यवस्था थी। समस्त समाज वर्णव्यवस्था के अधीन चार भागों में विभक्त था—

(१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य, और (४) शूद्र।

ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद के आंरभिक काल में यह विभक्तीकरण न होकर भारत के निवासी दो वर्गों में रखे गये थे—आर्य और अनार्य। आर्य भारत की सीमा-

पार से आकर यहाँ बस गये थे। अनार्य जिन्हें कहा जाता था, वे भारत के मूल निवासी थे। आर्य उत्तर से आये थे और उन्होंने अनार्यों को दक्षिण में खदेड़ दिया था। ऋग्वेद में ये अनार्य ही असुर या दास के नाम से वर्णित हुए। ऋग्वेद के उत्तरकाल में समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त हुआ। यह विभाजन कर्मानुसार तो था ही, इनकी श्रेष्ठता का क्रम भी बना। 'चातुर्वर्ण्य' के सम्बन्ध में पुरुष सूक्त में उल्लेख है कि ब्राह्मण मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जंघाओं से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए।[१] सभी वर्णों के अपने-अपने कार्य-क्षेत्र हो गये। अथर्ववेद में व्यवस्था स्पष्टतः प्रकट हुई। ब्राह्मणों का विषय वेदादि अध्ययन-अध्यापन, ब्रह्मविद्या साधना, धर्मव्यवस्था सम्बन्धी रहा, तो क्षत्रिय सुरक्षा और राजव्यवस्था देखते। वैश्य कृषि, पशुपालन आदि का काम करते तो शूद्रों को सेवाकार्य करना पड़ता था। आरम्भ में जो व्यक्ति जिस प्रकार का कार्य करता उसकी गणना उसी वर्ग में होती थी, धीरे-धीरे पीढ़ी-दर-पीढ़ी कार्य भी निश्चित होते चले गये और वर्ण कुलगत हो गया। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण और शूद्र का पुत्र शूद्र ही होता। इस प्रकार कुलों के वर्ण-विशेष में आ जाने से समाज में वर्ग-भेद स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा। वर्णों का सुदृढ़ परिसीमन था। एक वर्ष में जन्मा व्यक्ति किसी अन्य वर्ण में प्रवेश नहीं प्राप्त कर सकता था। इस युग में भी एक वर्ण के पुरुष का विवाह अन्य वर्णोत्पन्न कन्या से संभव था। वर्णों में ऐसे परस्पर आवागमन के अनेक दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। राजा जनक जैसे अनेक क्षत्रियों ने ब्राह्मण-आचरण को भी अपनाया। कालान्तर में यह वर्णगत आवागमन भी प्रथम तीन वर्षों तक सीमित रह गया। शूद्रों को यह अधिकार या सुविधा नहीं रही और कुछ कालोपरान्त वर्ण-बंधन ऐसा सुदृढ़ हो गया कि किसी भी वर्ण का किसी अन्य वर्ण से समागम नहीं रहा। इनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध अवैध माने जाने लगे। अनुलोभ व प्रतिलोभ विवाह से उत्पन्न संतति 'वर्णसंकर' मानी जाती थी। सूत्रयुग में 'वर्णाश्रम' व्यवस्था सुदृढ़ हो गयी। वर्णों की पवित्रता का ध्यान भी दृढ़तापूर्वक रखा जाता और प्रत्येक वर्ण अपने-अपने कर्त्तव्यों और नियमों के साथ, अपने में ही सीमित हो गया। अन्य वर्णों से पार्थक्य का यह रूप छुआछूत जैसे अवगुणों का जनक भी बना और वर्ण-दर्प का भी। मिथ्या अहंकार भी बढ़ा और किसी अन्य वर्ण में अपनी लघुता एवं हीनता का भाव भी आने लगा। वर्ण-मर्यादा तोड़ने पर वर्णच्युत होने का भय भी बन गया था। बाद के सूत्रों में कुछ

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी बाहु राजन्यः कृतः।
उरुतस्तद्यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

शिथिलता भी नियमों में आने लगी। गौतम-प्रदत्त व्यवस्थानुसार ब्राह्मण नीच कुल में उत्पन्न कन्या से परिणय कर सकता था, किन्तु ऐसी वधू को वह सामाजिक और पारिवारिक स्थान प्राप्त नहीं हो पाता था जो उसकी अन्य वर्णोत्पन्न सपत्नियों को प्राप्त होता था। शूद्रा वधू निम्नतर मानी जाती थी। उसकी सन्तानों को भी संकरा माना जाता था। इस वर्णव्यवस्था ने मानव-मानव की समानता का गौरव कम कर दिया। समाज में ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न कर दिया, मनुष्य के मन में मनुष्य के ही प्रति घृणा उत्पन्न कर दी थी। उल्लेखनीय यह भी है कि इस सामाजिक बुराई का दुष्प्रभाव भी नारी वर्ग पर अधिक रहा। उसके वर्चस्व और अस्मिता को चोट पहुँची। अब स्त्री-स्त्री भी समान आदर की पात्र नहीं रही।

धर्मशास्त्रकारों में प्रमुख-मनु ने वर्णव्यवस्था को और भी स्पष्ट और सुस्थापित किया। नारी के सम्बन्ध में मनु के विचार मिली-जुली प्रकृति के हैं। एक ओर उन्होंने नारी-सम्मान को अनिवार्य बताया और कहा कि जहाँ नारी-सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे समाज में नारी की स्वतंत्रता को आपत्तिजनक भी मानते हैं। वह अपने जीवन में क्रमशः पिता, पति और पुत्र के अधीन रहे—यही उन्हें मान्य है। वे बाल-विवाह के समर्थक थे। वे विधवा विवाह या नियोग प्रथा के भी विरोधी रहे। पति के द्वारा पत्नी के परित्याग को उन्होंने उचित माना—यदि पत्नी व्यभिचारिणी हो, बाँझ हो, अथवा केवल पुत्रियों की जननी रही हो। इन सभी विचारों-सिद्धान्तों से नारी की गरिमा अवनत ही हुई।

महाकाव्यकाल में भी वर्णव्यवस्था और उसका प्रभाव न्यूनाधिक रूप में वही रहा। नारी की गौरवमयता को पहुँचने वाली हानि भी किंचित् बढ़ी ही। वैदिककाल में प्राप्त नारी के अधिकार अब परिमित हो गये। सतीधर्म (अनुमरण) की प्रबलता बढ़ी। पुरुषों में बहु-विवाह का प्रचलन था। सपत्नीत्व के दोष बढ़े। यत्किंचित् रूप में पर्दा-प्रथा भी रही।

बौद्ध धर्म संघ में नारी

बौद्धकाल में भी नारी-गरिमा की अवनति थमी नहीं। इस निवृत्ति-प्रधान धर्म में मात्र पुरुषों को मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी माना जाता था। नारी को तो पुरुष की मुक्ति में उलटे बाधक माना गया। ब्राह्मणों द्वारा स्थापित वर्णव्यवस्था बौद्धों को अमान्य रही। प्रत्येक वर्ण को मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी माना जाता

था। जातकों के उल्लेख साक्षी हैं। वे मानते थे कि सभी वर्णों के लोग समान रूप से दयालु हो सकते हैं। बुद्ध का कथन है—"जन्म से न तो कोई ब्राह्मण है और न ही कोई अब्राह्मण।" तथापि यह भी तथ्य है कि इस युग में वर्गगत भेदभाव प्रबल हो गया था, ऊँच-नीच की भावना भी सशक्त हो गयी। ब्राह्मणों को आदिवर्ण (सर्वाग्र) माना जाता था, वह इस युग में क्षत्रिय वर्ण से निम्न हो गया। 'दीर्घनिकाय' के अनुसार स्वयं बुद्ध ने क्षत्रियों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। उनका कथन सुत्तनिपात में इस प्रकार आया है—"हे राजन् ! क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र-ये चार वर्ण हैं। इनमें क्षत्रिय और ब्राह्मण आभिजात्य प्रणामांजलि, अग्रासन और सेवा के अधिकारी हैं।" साथ ही परिव्राजक जीवन में प्रविष्ट जनों में कोई वर्ण भेद नहीं माना जाता था। सभी वर्णों के लोग प्रव्रज्या ग्रहण कर सकते थे और सभी को इसके पश्चात समान आदर प्राप्त होता था। बुद्ध ने कहा—"मैं श्रमण शूद्र का आदर भी उसी प्रकार करूँगा, जैसे क्षत्रियाश्रमण का; क्योंकि शूद्र श्रमण बनकर शूद्र नहीं रहता।"[१] वैश्य अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध थे जो वेस्स या सेट्ठी या कुटुम्बी कहलाते थे। इस युग में भी शूद्र वर्ण की दशा दयनीय बनी रही। वर्णव्यवस्था में जो भी लचीलापन आया, वह श्रमण जीवन अंगीकार करने के पश्चात् का है और स्त्री इसके योग्य नहीं मानी गयी, सामान्यतः स्त्री को साधना में बाधकताय की भाँति ही माना गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि उसको रमणी रूप में ही देखा गया और यह रूप विरक्ति या निवृत्ति में सहायक नहीं होता। अतः बुद्ध नारी को भिक्षुणी बनाने के पक्ष में नहीं रहे। विवशता के अधीन ही, सीमित रूप में ऐसा करके उन्होंने भिक्षुणियों के लिए आठ नियम बनाए। इन कठिन नियमों के विधानोपरान्त भी नारी के प्रति उनका मन शंकालु रहा और मानने लगे कि नारी-प्रवेश के कारण धर्मसंघ की आयु आधी रह जायेगी। इससे इस युग की नारी-महत्ता का, उसकी स्थिति का आभास हो जाता है। भिक्षुणियों के लिए बाद में ३११ अन्य नियम भी बने। गौतमी, खेमा, उत्पलवणी, पटायारा, कुंडलकेशा आदि १३ भिक्षुणियाँ ऐसी थीं, जिन्हें यश और प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

भिक्षुणियों के अतिरिक्त धर्मक्षेत्र में उपासिकाएँ भी थीं। उपासक-उपासिकाओं का महत्त्व इस दृष्टि से भी स्वीकारा जाता था कि वे ही भिक्षु-भिक्षुणियों के जीवन के आधार थे। विशाखा उन दस उपासिकाओं में प्रसिद्धि

---

१. या हिस्समो कय्यान पुब्बे सुद्योति समंजा।
सास्य अन्तरहित समनो तेव संख गच्छतीति॥ —मथुरा सुत्त

प्राप्त थी, जिन्हें भगवान बुद्ध ने उल्लेख प्रदान किया। उपासिका विवाहोपरान्त अपने और अपने पति-कुल के धर्म में परिवर्तन कर लेती थी। पत्नीरूप में नारी के धर्म का बुद्ध ने विवेचन किया और उसे पति-परायणा और कुल-परायणा होने की प्रेरणा दी। उपासकों के लिए भी नियमों का विधान किया और स्त्री-विषयक अनाचार न करना उनमें प्रमुख था। उनके लिए माता-पिता की सेवा के साथ-साथ पत्नी-पुत्रादि का पालन करना भी अनिवार्य बताया गया। स्त्री-विषयक दुराचार न करने का भी एक महत्त्वपूर्ण नियम था। बुद्ध एक ओर तो नारी को पापसम, मोक्ष-बाधा, परिग्रही और चंचलमनस्का मानते थे, दूसरी ओर वे नारी के प्रति अपनी उदारता का परिचय देते हुए कहते हैं कि नारी में कोई क्षुद्रता नहीं, न ही वह घृणा की पात्र है, किन्तु वह सम्यक् संबुद्ध नहीं हो सकती। नारी को गौतम निवृत्ति-बाधक मानकर अपनी पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल को निद्रावस्था में त्यागकर साधना मार्ग पर अग्रसर हो गये थे। वे ही गौतम जब बुद्ध होकर अपने गृह-नगर को लौटे और मानिनी यशोधरा वन्दन करने को उनके पास न आयी तो बुद्ध ही उसे दर्शन देने को उसके पास गये थे। नारी-सम्मान की यह पराकाष्ठा है। उन्होंने व्यापक स्तर पर स्त्रियों को उपासिका बनने की प्रेरणा दी। उपासक और उपासिका उनके लिए समान रूप से आदर के पात्र रहे।

आजीवक धर्म में नारी

गोशालक द्वारा आजीवक सम्प्रदाय आरम्भ किया गया था। कतिपय विद्वज्जनों के मतानुसार वह आरम्भ में भगवान महावीर का शिष्य भी रहा, किन्तु अन्यों द्वारा इस धारणा का समर्थन नहीं भी होता है। सभी का इस विषय में मतैक्य रहा कि गोशालक हीन और निम्न कोटि का धर्मप्रवर्त्तक था। उसके समकालीन बुद्ध ने उसे बुरा, अलाभकारी और मनुष्यों को फँसाने वाला कहा, तो महावीर स्वामी ने उसे नारी-आसक्त, कामी बताया और कहा कि वह संसार की पवित्रता-अपवित्रता, उत्कर्षापकर्ष में विश्वास नहीं करता है, संसार को शक्तिहीन मानता है। मोक्ष को वह ज्ञान में नहीं, अपितु अज्ञान में मानता था। उसकी मान्यता थी कि देव या ईश्वर कोई है ही नहीं, अतः 'शून्य' की साधना करो। जैन श्रमणों से भी अधिक कठोर उसके नियम थे; यथा—तीन या सात घर छोड़कर भिक्षा ग्रहण करना। विद्युत के चमकने पर भिक्षान्न ग्रहण न करना आदि। वह तपस्वी था। उसके अनुयायी श्रमण पंचाग्नि आतापना लेते थे। उसका धर्मसंघ भगवान महावीर के संघ से भी बड़ा था। उसके मतानुसार ठंडा पानी पीने में, बीज आदि धान्य का आहार ग्रहण करने में, स्वयं के लिए तैयार किया

गया आहार ग्रहण करने में, यहाँ तक कि एकाकी विचरणशील तपस्वी द्वारा स्त्री-संभोग में भी कोई दोष नहीं था। निमित्त, शकुन लाभ, स्वप्नफलादेश भी ये किया करते थे। ८४ लाख योनियों से गुजरे बिना किसी मनुष्य की मोक्ष-प्राप्ति को वे संभव नहीं मानते थे। वह स्वयं को सर्वज्ञ, केवली और जिन मानता था। एक विशाल जनसमुदाय का लोकप्रिय धर्मनायक वह था सही; किन्तु तटस्थ निष्कर्ष के अनुसार वह मलिन वृत्तियों को मानने वाला था, मायाश्रित था और समकालीन धर्मनायकों—भगवान महावीर और तथागत बुद्ध के समान संयमशील नहीं था। उसने माता-पिता की सेवा करने, हिंसा से दूर रहने के उपदेश दिये। जैन आगमों में भी तत्कालीन अन्य पंथों की अपेक्षाकृत आजीवकों को श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है—यह सत्य है।

गोशालक अपने अन्तिम समय में अपने संघ-परिवार सहित अपनी परम शिष्या हालाहला कुंभकारिणी (कुम्हारिन) के यहाँ रहा। वह मद्यपान, नृत्य-गान, हालाहला को वन्दन को चरम और अन्तिम मानता और कहता था कि मोक्षोपरान्त यह सब नहीं मिलेगा। इस सम्प्रदाय में नारी को अत्यधिक धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। हालाहला को इस पंथ के सिद्धान्तों की सच्ची ज्ञाता माना जाता था। स्वधर्म को छोड़ अन्य किसी भी धर्म को वह वास्तविक नहीं मानती थी। नारी के प्रति अतिशय सम्मान का भाव इस सम्प्रदाय में था और उसे मोक्षमार्ग की बाधा नहीं माना जाता था।

भगवान महावीर स्वामी का दर्शन और धार्मिक क्रान्ति

विभिन्न धार्मिक विचारों और मतमतान्तरों के इस युग में जो कोलाहल मचा हुआ था; उसमें सर्वाधिक स्पष्ट और सर्वोच्च स्वर महावीर-प्रणीत जैनधर्म का था। वही युगीन धर्म का गौरव ग्रहण कर पाया। जैनधर्म के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर सर्वोच्च साधक और उत्कृष्ट धर्मनायक थे और उनका प्रवर्तित जैनधर्म सार्वकालिक महत्ता का हो गया है। इस महत्ता के पीछे इस धर्म की अपनी गुणवत्ता, सदादर्श और उदारता का दृष्टिकोण रहा है। पूर्ण स्वस्थ एवं स्वच्छ भूमि पर आधारित यह धर्म निरन्तर अभिवर्धित और विकसित होता चला जा रहा है। इसके पीछे भी इसके प्रवर्तक का विमल और आदर्शवादी दृष्टिकोण का आधार रहा है। जैनधर्म में इनसे पूर्व भी २३ तीर्थंकरों की महती भूमिका रही है। महावीर स्वामी के प्रयासों से इस धर्म को नयी चेतना, जागृति और गति मिली। भगवान ने इस धर्म को वैज्ञानिक विचारों से पूर्ण कर दिया और उनके क्रान्तिकारी विचारों से इसमें एक युगानुरूप दमक आ गयी। जैनधर्म में

महावीर स्वामी ने अहिंसा का जो महान् दर्शन जोड़ा—उससे तो इस धर्म मे एक अद्‌भुत कान्ति ही आ गयी। इस कान्ति की उज्ज्वलता ने सारे देश के जनमानस को सहज ही जैनधर्म की ओर आकर्षित कर दिया और 'अहिंसा' परम धर्म हो गयी।

जगत् की उत्पत्ति महावीर स्वामी ईश्वरीय नहीं मानते। उनके मतानुसार जगत् तो स्वनिर्मित है। जीव भी और लोक भी शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। बुद्ध की भाँति महावीर ने भी जगत् को दु:खमय माना और मोक्ष को चिर-सुख बताया है। यह मोक्ष मनुष्य को अपने आध्यात्मिक उद्यम से ही प्राप्त हो सकता है—किसी अन्य की कृपा, अनुग्रह या प्रसाद से नहीं। मनुष्य स्वयं ही अपनी आत्मा का परिष्कार कर उसे सर्वथा विमल बनाते हुए सिद्ध गति प्राप्त कर सकता है—यही सुख है—सर्वोच्च शिखर है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए उन्होंने पाँच व्रतों का निर्धारण किया—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। इन पंचव्रतों के दो रूप रखे। इनका महाव्रत रूप श्रमणों के लिए था। इस रूप में गृहस्थों के लिए कठिनाई अनुभव करते हुए इन्हीं का सरल और व्यावहारिक रूप गृहस्थों, अथवा श्रावक-श्राविकाओं के लिए पृथक् से बनाया जो पंच अणुव्रत नाम से अपनाये गये। जैनधर्म में कठोर तपश्चर्या और साधना का विधान किया गया है और आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी मान्य किया गया है।

धर्म के क्षेत्र में नारी की सक्रिय गतिशीलता और भागीदारी के विरोधी इस युग में, महावीर स्वामी ने नारी के प्रति अपनी उदारता का परिचय दिया। समकालीन धर्म प्रवर्त्तक बुद्ध के विपरीत उन्होंने नारी की प्रतिभागिता को धर्मक्षेत्र के लिए निर्विवाद रूप में स्वीकार किया। नारी दीक्षा भी ग्रहण कर सकती है और साधना-मार्ग पर क्रमश: अग्रसर होते-होते परम पद या सिद्धगति भी प्राप्त कर सकती है। यह मानते हुए महावीर स्वामी ने उसकी किसी भी दृष्टि से अपात्रता नहीं स्वीकार की। उनका उद्देश्य तो व्यापक जनकल्याण था। ऐसे में वे नारी वर्ग को धर्म से वंचित कैसे कर सकते थे। इसके साथ ही यह भी माना गया है कि नारी माया है जो पुरुषों के मोक्ष-प्राप्ति में अवरोध है। किन्तु यह अवधारणा विरक्त श्रमणों के संदर्भ में ही अधिक है। भगवान ने श्रावकों के लिए १२ व्रतों और श्रमणों के लिए जिन २२ परिषहों का विधान किया है—इनमें से ८ परिषह तो ऐसे ही हैं जिनका सम्बन्ध स्त्रियों से है। इससे हमारी धारणा की ही पुष्टि होती है।

जैन धर्म-संघ और नारी

भगवान महावीर स्वामी ने भी धर्म-संघ की स्थापना की और उनका संघ सर्वाधिक सुदृढ़, सुव्यवस्थित और सुसंचालित था। भगवान से पूर्व भी तीर्थंकरों की एक समृद्ध परम्परा रही। सभी ने अपने-अपने चतुर्विध संघ स्थापित किये हैं। श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—इन चार अंगों से युक्त संघ की स्थापना ही महावीर स्वामी ने भी की। उनका धर्म-संघ अति विशाल भी था। माना जाता है कि इनके संघ में साधुओं की संख्या १४,००० और साध्वियों की ३८,००० थी। इसी प्रकार डेढ़ लाख श्रावक एवं तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएँ थीं।

इस तथ्यात्मक विवरण से इस यथार्थ का प्रतिपादन भली प्रकार से हो जाता है कि भगवान के धर्म-संघ में स्त्रियों की सक्रिय भूमिका ही नहीं रही, वरन् वे श्रमणी रूप में भी और श्राविका रूप में भी पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में संघ में सम्मिलित थीं। श्रमणों से कोई ढाई गुना से अधिक श्रमणियाँ और श्रावकों की अपेक्षा दुगुनी संख्या श्राविकाओं की रही। सर्वोपरि तथ्य तो इस स्थिति से यह हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है कि महावीर स्वामी ने बड़ी उदारतापूर्वक नारी को संघ में प्रवेश दिया। वे नारी की क्षमता के प्रति आशंकित नहीं थे न ही उसकी उपस्थिति से किसी व्यवधान की कल्पना उनके मानस में रही। बेझिझक और निस्संकोच उन्होंने प्रवेशानुमति दी। बुद्ध ने तो संघ स्थापना के पश्चात् ५ वर्षों तक नारी को संघ में प्रविष्ट नहीं होने दिया। महावीर स्वामी ने अपने प्रथम समवशरण में ही चन्दना को दीक्षा प्रदान कर दी थी। बुद्ध के मन में नारी के प्रति प्रवेशानुमति के पश्चात् भी सन्देह बना रहा और महावीर स्वामी ने नारी क्षमता और निष्ठा के प्रति आश्वस्तता दिखाते हुए चन्दना को संघ की गणिनी नियुक्त किया और उसे साध्वियों की प्रमुख बना दिया। बुद्ध ने भिक्षुणियों की अपेक्षा भिक्षुओं को श्रेष्ठत्व प्रदान किया, किन्तु महावीर स्वामी ने श्रमण और श्रमणियों को समानता की श्रेणी में रखा। बुद्ध की भाँति महावीर स्वामी ने भी श्रमणियों या साध्वियों के लिए पृथक् से नियम अवश्य बनाये थे, किन्तु इस पृथक् नियम-निर्माण के पीछे श्रमणियों की अपेक्षा श्रमणों के श्रेष्ठत्व-स्थापन का उद्देश्य नहीं रहा। लिंग-भेद के कारण शारीरिक स्थिति में महिलाओं में पुरुष से भिन्नत्व रहता है—इस कारण श्रमणियों के लिए कुछ अतिरिक्त नियमों का विधान किया गया। अन्यथा शेष नियम श्रमण एवं श्रमणी के लिए समान ही हैं। संघ-संचालन में भी श्रमणियों का गहन उत्तरदायित्व रहता था। गणिनी के रूप में श्रमणी-संघ की देखरेख श्रमणी-प्रमुख द्वारा रखी जाती थी, यद्यपि अंतिम

दायित्व संघ के सर्वोच्च अधिकृति-आचार्य का ही रहता था। आचार्य के निर्देशन में गणिनी अपनी भूमिका का निर्वाह करती थी।

संघ का यह नियम अवश्य था कि सभी श्रमणियों को चाहे कोई वरिष्ठ अथवा कनिष्ठ ही क्यों न हो—प्रत्येक साधु को वन्दन करना चाहिए—चाहे कोई साधु नव-दीक्षित ही क्यों न हो। सामान्यत: जैन धर्म-संघ में नारी की उत्तम स्थिति रही और पुरुष वर्ग के समकक्ष ही विकास का अवसर उनके लिए उपलब्ध था। उसे द्वितीय श्रेणी में स्थान नहीं दिया जाता था—उसकी गरिमा अद्वितीय ही बनी रही।

श्रमण-संघ की व्यवस्था एवं शासन की एक प्रणाली बनी रहती थी। आचार्य के अधीन उपाध्याय आदि विभिन्न पदाधिकारी एक निश्चित व्यवस्था के अधीन संगठित रूप में कार्य करते थे। उसी प्रकार श्रमणी-संघ की व्यवस्था प्रवर्तिनी द्वारा की जाती थी। प्रवर्तिनी का वर्चस्व श्रमणी-संघ में वैसा ही रहता था, जैसा आचार्य का श्रमण-संघ में। अपनी गरिमा के अनुरूप ही प्रवर्तिनी को आर्या, गणिनी अथवा महत्तरा आदि भी कहा जाता था। श्रमणी-संघ की व्यवस्था हेतु प्रवर्तिनी के अधीन कार्यरत अनेक पदाधिकारी श्रमणियाँ रहा करती थीं। वैज्ञानिक रूप में कार्य-विभाजन रहता था और सभी सहायक प्रदत्त कार्य और दायित्व का दायित्व भावना के साथ निर्वाह करते थे। श्रमण-संघ में उपाध्याय द्वारा ज्ञान-साधना का क्रम निरन्तरित बनाए रखता है। श्रमणी-संघ में यह भूमिका गणवच्छेदिनी की रहती थी। साध्वियों को ज्ञान-दर्शन में स्थिर रखने का कार्य अभिषेक का रहता था। श्रमण-संघ में यह भूमिका स्थविर की रहती थी। श्रमणी-संघ की रक्षा का दायित्व प्रवर्तिनी का होता था। प्रवर्तिनी का सान्निध्य साध्वियों के लिए अनिवार्य माना जाता था। यह भी अनिवार्य था कि साध्वी प्रवर्तिनी के निर्देशानुसार संयम का पूर्णरूपेण पालन करे। इस प्रकार संघ-संचालन में श्रमणियों की भूमिका भी कम महत्त्व की नहीं थी। उनकी दायित्व भावना ने उनके व्यक्तित्व को वर्चस्वपूर्ण बनाने में भी पूरा-पूरा योगदान किया।

जैनधर्म के उपासक-उपासिकाओं को भी धर्म-संघ का अंग माना गया है और महावीर स्वामी ने उनके लिए भी कर्त्तव्यों का विधान किया। श्रावक-श्राविका धर्म अंगीकार करने वालों को भी कर्त्तव्य-बोध कराया गया है। इन पुरुष साधकों की भाँति ही, समानता के स्तर पर स्त्री साधिकाओं के अधिकार भी थे। पुरुष और नारी की स्थिति में कोई भेद नहीं किया गया।

●●

जैन आगमों में नारी

उपक्रम

वैदिक संस्कृति में निश्चय ही नारी को समाज में अति उत्तम एवं आदरास्पद स्थान प्राप्त था। नारी मानवीय आदर्शों की मानो स्वयं ही प्रतिमूर्ति थी। समाज का एक अति समान्य वर्ग माना जाता था—स्त्री जाति को। किन्तु काल गतिशील रहता है, वह अपने साथ नव-नवीन परिवर्तन लेकर आता है। परिणामत: राजनैतिक व्यवस्थाओं में बदलाव आता है, धार्मिक स्थितियाँ और सामाजिक मान्यताएँ अपना रंग-रूप परिवर्तित कर लेती हैं। वैदिक संस्कृति भी स्वयं को भला आगामी युगों में यथावत् कैसे रख सकती थीं। सामाजिक मान्यताओं में भी अधोगति या कभी उत्थान आता रहा और तदनुरूप ही नारी का सामाजिक स्थान भी बनता-बिगड़ता रहा। उसके गौरव और वर्चस्व में उत्थान-पतन की आँखमिचौनी चलती रही। गौतम बुद्ध के आविर्भाव काल के आते-आते नारी-गरिमा अनेक दिशाओं से होने वाले प्रहारों से आहत और क्षत-विक्षत स्थिति में आ गयी थी। स्त्री-स्वातंत्र्य मर्यादित हो गया था और नाना प्रकार के बंधों-प्रतिबंधों से उसे ग्रस्त कर दिया गया था। स्वयं तथागत बुद्ध स्त्री की अध्यात्म-क्षेत्र में गतिशीलता को निरापद नहीं मानते थे। स्त्री को वे इस अर्हता से हीन मानते थे। यही वह काल था जिसमें जैनधर्म का प्रभाव उत्कर्ष की ओर बढ़ रहा था। तथागत बुद्ध और भगवान महावीर स्वामी लगभग समकालीन रहे। धर्मक्षेत्र में जहाँ बुद्ध नारी के लिए उदाराशय नहीं रह पाये; वहाँ जिनेश्वर देव ने धर्म के संदर्भ में नर-नारी जैसा भेद ही स्वीकार नहीं किया। मनुष्य मात्र के लिए धर्माचरण के द्वार उन्होंने उन्मुक्त कर दिये थे। इस निर्बाधता के वातावरण में साँस लेकर नारी का गत आत्म-विश्वास भी पुनर्जागृत होने लगा था। उन्होंने स्त्री-पुरुष दोनों के लिए मुनि वृत्ति की सुविधा सुलभ करा दी थी। अनासक्ति और परिव्रजन की दिशा में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कुछ अधिक ही बढ़ी हुई थीं। आध्यात्मिक साधना के उच्च से उच्चतर स्तर पार करती हुई स्त्रियाँ कैवल्य प्राप्ति का सामर्थ्य भी रखती हैं। तीर्थंकर मल्लिनाथ को इस क्षमता एवं गरिमा का

श्रेष्ठतम जीवन्त तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ ने भी नारी जाति को धर्माचरण के क्षेत्र में सम्मान्य स्थान प्रदान किया। आदर्श कहा जा सकता है।

श्रमण-श्रेष्ठ भगवान महावीर स्वामी की सर्वप्रथम शिष्या होने का गौरव भी एक नारी को प्राप्त था। नाम था उसका—आर्या चन्दना। चन्दना परम ज्ञानवती थीं। उनके मार्गदर्शन में साधना कर अनेक-अनेक साध्वियों ने मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाया और समर्थतापूर्वक उसे प्राप्त किया। यह सत्य उस युग में भलीभाँति उद्घाटित हो गया कि महिलाएँ अपेक्षाकृत अधिक धर्मप्रिय और धर्म दृढ़ होती हैं। इसके अतिरिक्त धर्म को अधिकाधिक जन के लिए कल्याणकारी बनाने और उसे जन-जन तक पहुँचाने की हार्दिक कामना भी महिलाओं में अधिक होती है। सघन रुचि और सामर्थ्य के साथ अनेक महिलाओं ने धर्म-प्रचार और धर्म-शिक्षा का कार्य किया। यह भी उल्लेखनीय है कि महिलाएँ विदुषी भी होती थीं, धर्म का मर्म जानने वाली और तलस्पर्शी तत्ववेत्ता होती थीं।

धर्म के क्षेत्र से महिलाओं को दूर-दूर रखने के प्रयासों के इस युग में एक मर्मस्पर्शी तथ्य और भी ध्यातव्य रहा। भगवान महावीर ने स्त्रियों की धर्मक्षमता को भलीभाँति आँका और उन्हें इस क्षेत्र में अधिकाधिक सक्रियता के लिए उत्साहित किया। आश्चर्यजनक है यह तथ्य कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या साधना-क्षेत्र में अधिक..... बहुत अधिक रही। भगवान के संघ में साधुओं की संख्या १४,००० थी; जबकि ३६,००० साध्वियाँ थीं। अर्थात् पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या ढाई गुना से भी अधिक रही। यह स्थिति पूर्ववर्ती जैनधर्म परम्परा की ही एक मूल विशेषता रही है—ऐसा भी कहा जा सकता है। भगवान महावीर के पूर्व भगवान पार्श्वनाथ के संघ में १६,००० साधु और साध्वियाँ ३८,००० थीं। अर्थात् प्रति ८ साधु के पीछे १९ साध्वियाँ थीं। ऐसा भी नहीं है कि महिला संख्या का आधिक्य केवल अतीत का विषय रहा हो। यह तो अजस्र परम्परा रही है। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में भी साध्वियों की संख्या साधुओं की अपेक्षा ढाई गुना से कुछ अधिक ही रही है। १९८३ की एक गणनानुसार—२,५२१ साधु और ६,५६८ साध्वियाँ थीं। यह जैनधर्म की अपनी ही तात्त्विक विशिष्टता है कि स्त्रियों के लिए घोर अवरोधकाल में भी इनकी रुचिशीलता में सघनता भी और व्यापकता भी द्रष्टव्य रही।

भगवान महावीर स्वामी ने सप्रयास भी समकालीन नारी-दशा का उन्नयन किया। उन्हें अपने पूर्व युगों की जो परम्परा वसीयत में मिली उसमें नारी का महत्तापूर्ण और ससम्मान स्थान उतना नहीं था; जितना उनके द्वारा अपेक्षित माना

जा रहा था। नारी-जीवन में बड़ी दुरावस्था, महत्त्व एवं मूल्यहीनता थी। गौरव-गरिमा भी छिन्न-भिन्न हो गयी थी। नारी की अस्मिता और वर्चस्व तो दूरातीत का ऐतिहासिक तत्त्व होकर रह गया था। नारी की महावीर-पूर्व दशा दयनीय हो गयी थी। उसका गरिमामय व्यक्तित्व ह्रास को प्राप्त होते-होते ऐसे स्थल पर पहुँच गया था कि वह क्रीतदासी या अनुचरी बनकर रह गयी थी। वह मात्र भोग्या और सुख-सुविधा की सामग्रीवत् व्यवहृत होने लगी थी। उसकी कोई स्वाधीन चेतना शेष नहीं रह गयी थी। वह भी अन्य सम्पदा और साधनों के समान परिग्रह का विषय (सामग्री) मानी जाने लगी थी। उदारतावादी जैन परम्परा के पुनर्जागरण काल में विश्व के अर्द्धांश-नारी की ऐसी शोचनीय दशा यथावत् भला कैसे रह सकती थी। भगवान महावीर का नेतृत्व पाकर स्त्री-दशा में उन्नयन आरम्भ हुआ। 'वीर-युग' के आते-आते चातुर्याम व्यवस्था ही शेष रह गयी थी—चार व्रत ही पालनार्थ रह गये थे। पंचमव्रत-ब्रह्मचर्य के अभाव ने समाज में जहाँ संयमाभाव की स्थिति उत्पन्न कर दी, वहाँ नारी का गौरव स्वत: ही अवनत हो गया, उसे उपभोग-सामग्री का दर्जा जो एक बार मिला तो वह उसी में घिरकर रह गयी। परिणामस्वरूप उसकी अन्यान्य गरिमाएँ भी ध्वस्त हो गयीं और कुल मिलाकर उसका रूप अनुचरी का हो गया। पुरुष-समकक्ष श्रेणी न समाज की ओर से मान्य थी और न स्वयं नारी ही उसकी अपेक्षा करती थी। नारी की इस हीन दशा ने युगावतार जिनेन्द्र के मानस को सक्रिय किया और इसके मूल कारण को समझकर उसके निवारणार्थ भगवान ने पंचमव्रत-ब्रह्मचर्य को जोड़ा और सशक्त स्वर में नारी-गौरव और नारी-पुरुष-समता का प्रतिपादन किया। नारी तब उपेक्षा और अवमानना की परिधि से मुक्त हुई। उसका गौरव लौट आया, अस्मिता पुन: दीप्ति पूर्ण होने लगी, सामाजिक प्रतिष्ठा का पुनर्स्थापन हुआ और क्रमश: सुधार होते-होते नारी शोषण मुक्त होकर स्वाधीन चेता हो गयी। अब स्त्री न भोग्या रही, न दासी। उसे पुरुष की परिपूर्णता में महत्त्वपूर्ण पूरक भाग होने का गौरव प्राप्त हुआ। पुरुष से पृथक् भी उसकी अपनी गतिविधियाँ स्वीकार्य मानी गयीं, उसकी अपनी उपलब्धियाँ रहने लगीं, आत्म-कल्याणार्थ उद्यमशीलता का अधिकार उसे प्राप्त हुआ। साधना के क्षेत्र में उसे स्वाधीन स्थान प्राप्त हुआ और वह अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होने लगी। ब्रह्मचर्य व्रत के योग से भगवान ने नारी-मुक्ति का एक ऐसा अभियान प्रारम्भ किया जो सद्यत: फलदायी हुआ। नारी को उसका प्रतिष्ठापूर्ण स्थान देकर समाज स्वयं भी परिष्कृत हुआ।

जैन परम्परा में वीर युग में ही नारी-उन्नयन का कार्य हुआ हो और इससे पूर्व उसकी दशा सदा से दयनीय रही हो—ऐसा भी नहीं है। परिस्थितिवशात् इस युग के आते-आते नारी अवस्था ऐसी हीन और दीन हो गयी जिसे भगवान ने पुनः ऊर्ध्वमुखी कर दिया। अन्यथा; जैन परम्परा में नारी वर्ग सदा जागृत और सतेज रहा। नारियों का अपना आत्म-सम्मान था, उनका आत्म-विश्वास बढ़ा-चढ़ा था और नारी समाज की एक उपयोगी एवं अनिवार्य घटक रही। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी की आध्यात्मिक उपलब्धि तो ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। पुत्रियों-ब्राह्मी और सुन्दरी का योगदान भी हमारे सांस्कृतिक विकास के इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा। ज्ञान को लेखबद्ध कर सुरक्षित रखने के साधन स्वरूप ब्राह्मी ने ही लिपि का आविष्कार किया था और विश्व की वह प्रथम लिपि—'ब्राह्मीलिपि' ही कहलायी। ये कतिपय ऐसे संकेत हैं जो जैन परम्परा में नारी के महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ कोटि के सामाजिक-धार्मिक स्थान का आरम्भिक काल से ही होना प्रकट करते हैं।

आगमकाल में निश्चय ही नारी की स्थिति में उन्नयन के एक नूतन युग का समारंभ हुआ। आगम स्वयं इसके साक्षी हैं। आगम साहित्य में स्त्री की उज्ज्वल छवि निखरी है। उसकी ज्ञानोपलब्धियाँ, उसकी तपशीलता, दुष्कर दीक्षाएँ, गृहस्थ रूप की मर्यादाएँ उसका ममता भरा हृदय भी और मोक्षकामी मन भी इस छवि का अंग बन पाया है।

जैन आगम

वर्तमान आगम जिनेश्वर भगवान महावीर स्वामी के उपदेशों के संकलित रूप हैं। भगवान का धर्म सम्बन्धी समग्र दृष्टिकोण इन ग्रन्थों में समाहित है और विवाद के प्रश्नों का इन्हीं से आज भी समाधान प्राप्त होता है। ये धर्म-व्यवस्था हैं, ये ही धर्म-नीति और धर्म-निर्देश हैं। सनातन परम्परा में वेदों का और बौद्ध परम्परा में त्रिपिटकों का जो महत्त्व है, वही महत्त्व जैन परम्परा में अंगशास्त्रों का है। भगवान के धर्मशासन में उनके सिद्धान्त ही आधार बने रहे—निर्वाणोत्तर काल में भी उनके उपदेशों का यही वर्चस्व बना रहा। ये सिद्धान्त और उपदेश युगों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी कंठों और चर्चाओं में बने रहे। इन्हें मौलिक स्वरूप में सुरक्षित कर लिए जाने की जब आवश्यकता अनुभव की जाने लगी तो गणधरों ने इन्हें सूत्रबद्ध कर लिया और आगमों का अस्तित्व आरम्भ हो गया। स्पष्ट है कि भगवान का संदेश ही आगम हैं, उनमें भगवान की ही मूल वाणी है। तीर्थंकरों की भी एक समृद्ध परम्परा रही है। सभी तीर्थंकरों ने अपने-अपने ढंग से उपदेश दिये

हैं, किन्तु इन सभी के उपदेशों की मूल चेतना एक ही है। मतान्तर उनमें नहीं मिलता। सभी एक ही तथ्य और सत्य का प्रतिपादन करते हैं। अतः भगवान महावीर ने स्वयं कथन किया था कि आगम सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित हैं और इस कारण उनकी एकरूपता एवं प्रामाणिकता भी स्वयंसिद्ध है।

भगवान महावीर का युग ईसा-पूर्व छठी शताब्दी का रहा। वह काल भारतीय सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास का अव्यवस्थित काल था। तब अनेक मत-मतान्तरों का प्रचलन भी था और बाह्य आडम्बरों एवं कर्मकाण्डों का भी। ऐसे समय में जनमानस में धर्म के यथार्थ स्वरूप को प्रतिष्ठित करने का दायित्व भगवान ने ग्रहण किया था। उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्तों के उपदेश दिये। कालान्तर में ये ही उपदेश आगम रूप में सभी के समक्ष आये। नन्दी सूत्र में आगम ग्रन्थों के अन्तर्गत १२ अगं, १२ उपांग, ४ छेद, ४ मूल और १ आवश्यक की गणना की गयी है। व्यवस्थानुसार ये ग्रन्थ चार कोटियों में विभक्त हैं जो अनुयोग कहे जाते हैं। ये चार अनुयोग हैं—

(१) चरणकरणानुयोग,

(२) धर्मकथानुयोग,

(३) गणितानुयोग,

(४) द्रव्यानुयोग।

आचारांग सूत्र, प्रश्नव्याकरण सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, बृहद्कल्प सूत्र, चार छेद सूत्र तथा आवश्यक सूत्र—चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। इन आगमों में चरण-करण प्रतिपाद्य विषय रहे हैं। अधम प्राणियों का परित्राण करने वाली कथाएँ—धर्मकथानुयोग में वर्णित हैं। इस अनुयोग के अन्तर्गत—ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, विपाक सूत्र आदि अंग सूत्र आते हैं। इन अंग सूत्रों के साथ-साथ धर्मकथानुयोग में ही उत्तराध्ययन मूलसूत्र भी है और कुछ उपांग सूत्र भी हैं—औपपातिक, राजप्रश्नीय, निरयावलिया, कप्पवडिंसियाओ, पुव्वियाओ, पुप्फचुलियाओ एवं वण्हिदसाओ। गणितानुयोग में गणित से सम्बन्धित ज्ञानयुक्त आगम हैं—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति। ६ द्रव्यों और ९ पदार्थों का विस्तृत विवेचन भगवान महावीर द्वारा किया गया था। द्रव्यानुयोग में तत्सम्बन्धी आगम सम्मिलित हैं। इनमें अंगसूत्र हैं—सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग तथा भगवती सूत्र। द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आने वाले उपांग सूत्र हैं—जीवाभिगम, प्रज्ञापना आदि और मूल सूत्र हैं—नन्दी एवं अनुयोगद्वार।

जैन आगमों में तत्त्वज्ञान सुरक्षित है। कालान्तर में जब साधुजनों का विभाजन श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो सम्प्रदायों में हो गया। तब भी दोनों के लिए ये ही धर्म तत्त्व समान रूप से बने रहे। इनमें किसी ने भी कोई परिवर्तन-परिवर्धन नहीं किया। अन्तर केवल यही है कि दोनों के आचरण में भिन्नता दिखायी देती है। ध्यातव्य है कि दिगम्बर सम्प्रदाय की आचरण मान्यताएँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अपेक्षा कुछ कठिन और जटिल हैं। दिगम्बर मान्यतानुसार स्त्रियों के लिए मोक्ष सम्भव नहीं माना जाने लगा। तब तक तीर्थंकर भगवान मल्लिनाथ का उपलब्धि भरा महान् उत्थान का प्रकरण इतिहास विश्रुत हो गया था। इस महती उपलब्धि के प्रकाश में भी महिलाओं को साधना के अयोग्य भला कैसे कहा जा सकता था। वस्तुस्थिति यह है श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जहाँ मल्लिनाथ को स्त्री माना गया है, वहाँ दिगम्बर सम्प्रदाय में इसके विपरीत मल्लिनाथ स्त्री नहीं, पुरुष रूप में मान्य हैं। कालक्षेप के साथ-साथ दोनों सम्प्रदायों में अपने-अपने भीतर भी मतान्तर विकसित होते गये और इनके और विभाजन होते गये। इस प्रक्रिया में धर्म से सम्प्रदाय बने और सम्प्रदायों से भी अनेक वर्ग-धड़े बनते चले गये। ऐक्य का भाव दुर्बल होता चला गया और एक आदर्श सभी के लिए समान रूप से लक्ष्य नहीं रह पाया। छोटे-छोटे से साधारण भेदों ने इकाई को विभक्त करने का उपक्रम किया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय इस प्रकार विभिन्न शाखाओं में बँट गया—चैत्यवासी, स्थानकवासी, यापनीय संघ, मूर्तिपूजक और तेरापंथी ऐसी ही शाखाएँ हैं। इसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय का विभाजन जिन शाखाओं में हुआ, वे हैं—काष्ठा संघ, बीसा पत्थ, द्रविड संघ, तारण पत्थ आदि-आदि।

इन विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा आगमों में से कुछ को तो समान रूप से मान्य समझा गया है और कुछ की मान्यता के विषय में इनमें मतभेद भी हैं। १२ अंगों के विषय में सभी की दृष्टि में मान्यता का औचित्य है-

(१) आचारांग	(२) सूत्रकृतांग
(३) स्थानांग	(४) व्याख्याप्रज्ञप्ति
(५) ज्ञातधर्मकथा	(६) उपासकदशा
(७) अन्तकृद्दशा	(८) अनुत्तरोपपातिकदशा
(९) समवायांग	(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाकश्रुत	(१२) दृष्टिवाद (विच्छिन्न)

उपागं रूप में १२ ग्रन्थों की चर्चा रहती है। इनमें से कुछ का उपांग रूप में मानना भ्रामक भी है, किन्तु प्रथम आठ को श्वेताम्बरों के तीनों सम्प्रदायों की मान्यता प्राप्त हैं। १२ उपांग हैं—

(१) औपपातिक	(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम	(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्यप्रज्ञप्ति	(६) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति	(८) निरयावलिका
(९) कल्पिका	(१०) कल्पावतंसिका
(११) पुष्पिका	(१२) पुष्पचूला

छेद सूत्र

(१) निशीथ	(२) महानिशीथ
(३) व्यवहार	(४) आचारदशा
(५) बृहत्कल्प	(६) पंचकल्प (जीतकल्प)

छेद सूत्रों में साधु-साध्वियों पर आरोपित दोषों के प्रायश्चित्त का विधान है। उल्लेखनीय है कि तेरापंथियों को और स्थानकवासियों को महानिशीथ और जीतकल्प आगमरूप में मान्य नहीं हैं।

मूल सूत्र भी संख्या में चार हैं—

(१) उत्तराध्ययन, (२) दशवैकालिक, (३) आवश्यक, और (४) पिण्डनिर्युक्ति। इनमें से भी चौथे मूल सूत्र को स्थानकवासियों और तेरापंथियों की मान्यता प्राप्त नहीं है। उसके स्थान पर अनुयोगद्वार को मान्यता मिली है।

प्रकीर्णक ग्रन्थ—ये ग्रन्थ केवल मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों द्वारा मान्य हैं जो संख्या में १० हैं—

(१) चउशरण	(२) आतुर प्रत्याख्यान
(३) भक्तपरिज्ञा	(४) संथार
(५) तंदुलवैचारिक	(६) चन्द्रवैध्यक
(७) देविन्दत्थव	(८) गणिविद्या
(९) महाप्रत्याख्यान	(१०) वीरस्तव

इस प्रकार ४५ आगम ग्रन्थ चर्चित हैं, किन्तु श्वेताम्बर स्थानकवासी मात्र ३२ को मान्य करते हैं, जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक इनमें कतिपय अन्यों को जोड़कर कुल ८४ आगम ग्रन्थ मानते हैं।

इसके अतिरिक्त दिगम्बरों में आगम ग्रन्थों का यह प्रकार-विभाजन उपयुक्त नहीं माना गया है। वे योगरूप में २६ आगम ग्रन्थ मानते हैं। इनमें से १२ तो अंग ग्रन्थ हैं जो श्वेताम्बरों के लिए भी स्वीकार्य हैं जिन्हें दिगम्बर 'अंगप्रविष्ट' का नाम देते हैं। शेष १४ को वे अंग-बाह्य ग्रन्थ कहते हैं; वे हैं—

(१) सामायिक	(२) चतुर्विंशतिस्तव
(३) वन्दना	(४) प्रतिक्रमण
(५) वैनयिक	(६) कृतिकर्म
(७) दशवैकालिक	(८) उत्तराध्ययन
(९) कल्पव्यवहार	(१०) कल्पाकल्प
(११) महाकल्प	(१२) पुण्डरीक
(१३) महापुण्डरीक	(१४) निषिद्धक

यह स्पष्ट है कि आगम भगवान महावीर की वाणी ही है। उनके उपदेश और सिद्धान्त-निर्धारण ही आगमों के प्रतिपाद्य हैं। किन्तु भगवान के ये उपदेश समकालीन रूप में ही पुस्तकाकार ले चुके हों—ऐसा नहीं है। इनका मौखिक स्वरूप ही सुदीर्घकाल तक परम्परा के रूप में बना रहा। यह परम्परा कंठों में निवास करती रही। शिष्य-दर-शिष्य यह वाणी अग्रसर होती रही। यह वाणी पीढ़ी-दर-पीढ़ी कंठस्थ होती रही। कालान्तर में गणधरों द्वारा इन उपदेशों को अति संक्षिप्त और सारभूत रूप में, सूत्र रूप में लेखबद्ध कर दिया गया और शास्त्र रूप में भगवान के उपदेशों को निश्चित और सुरक्षित स्वरूप प्राप्त हुआ। जब काल-क्षेप के साथ शास्त्रों का लोप होने लगा तो श्रुतधर, स्थविरों द्वारा इनके पुनर्संकलन के प्रयास हुए और वाचनाएँ तैयार हुईं।

वाचनाओं ने जैनागमों को पुनः सुरक्षित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उल्लेखनीय है कि इन वाचनाओं में भी पूर्व संकलन प्रयास की भाँति उपदेशों का मौलिक स्वरूप बना रहा और इनमें किसी प्रकार का परिवर्धन-परिवर्तन नहीं हुआ। भगवान का विचार, दृष्टिकोण अपने यथार्थ स्वरूप में, टिप्पणीहीन अवस्था में व्यक्त हुए। ऐसी तीन वाचनाएँ प्रकाश में आती हैं—

(१) पाटलिपुत्र वाचना,

(२) माथुरी वाचना,

(३) वलभी वाचना।

ये वाचनाएँ पृथक्-पृथक् समयों में ही आकार में आयीं और उपर्युक्त क्रम इनके काल क्रमानुसार ही है। पाटलिपुत्र वाचना ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी की मानी जाती है। यह वह समय था जब भगवान महावीर के निर्वाण को लगभग डेढ़ शताब्दी व्यतीत हो गयी थी, कुछ अधिक ही समय निकल गया था (संभवत: १६० वर्ष)। मथुरा वाचना का समय सन् ४५३ से ४६६ ई. और लगभग इसी शताब्दी का रहा। माना जा सकता है कि जैनागमों के लिखित रूप ग्रहण करने के क्रम एक सहस्र वर्ष (ईसा पूर्व ५०० से ५०० ईस्वी तक) का रहा। ज्ञातव्य है कि आगमों में इस सहस्राब्दी की सामाजिक व्यवस्थाओं और संस्कृति की नहीं, किन्तु महावीर-काल ही चित्रित हुआ है। ये आगम तो उन्हीं की वाणी और सिद्धान्तों के लिखित रूप हैं; अपरिवर्तित लिखित रूप। अत: ऐसा ही संभाव्य एवं स्वाभाविक भी है। वीर-युगीन संस्कृति ही आगमों में झलकती है।

भगवान महावीर के निर्वाणकाल के अनन्तर, डेढ़-पौने दो शती के पश्चात् राजा नन्द के शासनकाल में प्रचण्ड दुर्भिक्ष पाटलिपुत्र में पड़ा। सारी व्यवस्थाएँ अस्त-व्यस्त हो गयीं। आगमों पर भी इसका दुष्प्रभाव होना अति स्वाभाविक था। लुप्त होते आगमों की सुरक्षा की दृष्टि से श्रमणसंघ ने इनके पुनर्संकलन का प्रयास किया। ११ अंगों का कार्य तो सम्पन्न हो गया, किन्तु १२वाँ अंग केवल भद्रबाहु को ही कंठाग्र था और वे दक्षिण प्रवास पर थे, जहाँ से उनका पुनरागमन हुआ ही नहीं। अत: इस अन्तिम अंग को पाटलिपुत्र वाचना में सम्मिलित नहीं किया जा सका—यह विच्छिन्न रह गया। इसके पश्चात् माथुरी वाचना का प्रयास वीर संवत् ८२९ में मथुरा में हुआ। यह काल भी एक दीर्घ दुर्भिक्ष का था जो १२ वर्षों तक चला था। पूर्व प्रयास पाटलिपुत्र वाचना भी मौखिक स्वरूपवती थी और उक्त दारुण दुर्भिक्ष में श्रुत-परम्परा क्षत-विक्षत होने लगी थी। अत: मथुरा में आचार्य स्कन्दिल सूरि के नेतृत्व में आगमों का पुनर्संकलन कर उन्हें प्रामाणिक रूप में लेखबद्ध रूप दिया गया। आगमों का यह सर्वप्रथम ग्रन्थाकार रूप-ग्रहण था। इस सारे विराट् उपक्रम में भी तेरह वर्षीय अवधि (वीर संवत् ८२७ से ८४९) प्रयुक्त हुई। इस कालावधि में वलभी वाचना का प्रयास भी रहा। नागार्जुन इस वाचना के प्रवर्त्तक थे। कतिपय विद्वज्जनों के मत में इसके प्रवर्त्तक

रूप में देवर्धीगणी मान्य होते हैं। इनके लिए कहा जाता है कि वीर संवत् ९८० में इन्होंने वल्लभी में आगमों का लेखन कार्य सम्पूर्ण किया। इन प्रयासों से आगमों को यह स्वरूप प्राप्त हुआ जो आज द्रष्टव्य है। भगवान के मूल उपदेशों के समय से लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् उन्हें सुनिश्चित रूप में सुरक्षित रखने के प्रयोजन से उनको ग्रन्थाकार प्राप्त हुआ, किन्तु उनका स्वरूप वही एक हजार वर्ष पूर्व का है। इनकी विषय-सामग्री मूल-उपदेश अविकृत रूप में यथावत् ही प्रस्तुत हुए हैं। अत: भगवान के उपदेश काल का वातावरण, समाज और संस्कृति की झलक ही उनमें प्राप्त होती है, इनके संकलन-लेखनकाल की नहीं। आगमों से वीर-युग की ही नारी-अवस्था का भी परिचय मिलता है जो युग-युग के नारी-समाज के लिए प्रबल प्रेरक है।

आगमकालीन कन्या-स्थिति

नारी : स्वरूप-वैविध्य

विश्व के विभिन्न भागों में नारी के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक भाग की नारियाँ अपनी पृथक् पहचान रखती हैं। देश-देश में नारी के अनेकानेक स्वरूप हैं। अकेले भारत में ही स्त्री-स्वरूप की विविधता कम नहीं है और कदाचित् इस विशेषता में हमारा देश सर्वोच्च स्थान रखता है। भारतीय नारी-वर्ग आदिकाल से ही नाना रूपी बना रहा है। नारी का कोई रूप कन्या-कुमारी का है—माता-पिता की प्यारी, सभी की दुलारी, तो कोई रूप उसका भार्या का है-परिजनों के लिए अन्नपूर्णा; सभी की हितकामनी और सुख-साधिका। नारी के कोमल-मृदुल तन में वज्रादपि सुदृढ़ मन भी है तो करुणार्द्र हो जाने वाला कोमल हृदय भी। यही नारी चण्डी रूप भी धारण कर सकती है और यही कोमल मनस्का पर-दु:खकातर भी हो जाती है। सन्तति के प्रति अपार-अपार वात्सल्य की धारिका जननी भी यही है और सतीत्वव्रता, पतिपरायणा पत्नी भी यही है। यही पति की प्रियतमा है तो यही परित्यक्ता भी। नारी अपने सुहाग पर गर्व करने वाली और इस सौभाग्य-रक्षा में सचेष्ट भी रहती है और इसे ही अकाल वैधव्य के शापग्रस्त भी होना पड़ता है। यही सती सावित्री भी है और नारी ही पतिता रूप में भी दृष्टिगत होती है। कुलवधू के गौरव से भी यह मंडित होती है तो जो नगर-वधू या गणिका है, वह भी नारी ही है। आयु वर्गानुसार भी उसे क्रमश: अनेक स्वरूपों को धारण करना पड़ता है। जन्म के पश्चात् वह पुत्री है तो योग्य वय पाकर वह वधू और गृहिणी बनती है। मातृत्व के वरदान के साकार होने पर वह माता का ममतामय रूप ग्रहण करती है तो एक दीर्घकाल तक वह पत्नी रूप में दाम्पत्य के आदर्शों का निर्वाह करती है। धर्म-क्षेत्र में वह साधना और उपासना करती है तो सामाजिक क्षेत्र में भी वह सक्रिय रहती है।

इन विविध स्वरूपों में उसकी समाज-सापेक्षता भी रहती है। समाज का उसके प्रति व्यवहार और दृष्टिकोण भी युग-युग में अपनी परिस्थितियों के अनुरूप अपने ढंग का बना रहा है। इसी से नारी के सामाजिक स्थान का निर्णय

भी होता है। नाना प्रकार की परिस्थितियाँ उसके वर्चस्व को प्रभावित करती रही हैं। प्रत्येक युग का साहित्य तत्कालीन नारी-स्थिति की छवि भी प्रस्तुत करता है। आगमों में भी यह झलक मिलती है कि तत्कालीन नारी की स्थिति कैसी थी। अपनी विभिन्न अवस्थाओं में नारी के क्या अधिकार-कर्त्तव्य रहे, इनका विवेचन भी आगमों के अध्ययन से पता चलता है और यह ज्ञान भी होता है कि नारी-सम्बद्ध अन्यान्य पक्षों का दृष्टिकोण नारी के प्रति कैसा था, नारी के साथ उनका व्यवहार कैसा था और नारी की गरिमा का मूल्यांकन भी हो जाता है। पुत्री के रूप में उसे परिवार में क्या स्थान प्राप्त था, वधू के रूप में पतिगृह में उसकी क्या स्थिति थी, दाम्पत्य जीवन में उसकी क्या महत्ता थी, धर्म-क्षेत्र में उसकी सक्रियता किस कोटि की थी—इन सभी प्रश्नों को उत्तरित करने की पूर्ण क्षमता आगम साहित्य में है। प्रत्येक क्षेत्र में नारी के अधिकारों का, उसकी स्वतंत्रता, उसके सदादर्शों और कर्त्तव्यों का निर्देशात्मक रूप में चित्रण भी आगमों में प्राप्त होता है। आगमों का व्याख्या साहित्य, उनका ग्रन्थाकार-ग्रहण तो महावीर-काल या वीर-युग के पश्चात् की घटना है, किन्तु इन ग्रन्थों में भगवान महावीर के सिद्धान्तों और उपदेशों का अविकल रूप में संकलन किया गया है। अत: आगमों में नारी की जो छवि उभरती है—वह वीर-युग की नारी की ही है। यह अन्य बात है कि महावीरोत्तर काल में भी किसी सीमा तक नारी-छवि की यह स्थिति यथावत् बनी रही हो।

परिवार में कन्या-स्थिति

आगमकाल से पूर्व शताब्दियों-सहस्राब्दियों से कुल-पुत्री स्नेहपूर्ण व्यवहार प्राप्त करती रही। यद्यपि यह भी सत्य है कि वैदिककाल से ही आगमकाल से पूर्व तक परिवारों में यह स्थिति भी बनी रही कि पुत्री की महत्ता पुत्र की अपेक्षा कुछ घटकर ही समझी जाती रही। वेदानुसार तो पुत्रहीन व्यक्ति की सद्गति असंभव है; पुत्रीहीन रह जाने पर मनुष्य के लिए ऐसा संकट नहीं रहा। अस्तु, पुत्र की स्थिति पुत्री की अपेक्षा अन्य प्रकार की ही नहीं, अपेक्षाकृत अधिक उत्तम होना भी स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। जैनदर्शन में परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की ही रहीं। यहाँ मनुष्य का उद्धार स्वयं उसी के सद्प्रयासों पर निर्भर रहता है। न पुत्र ही और न ही पुत्री के कुछ किये-धरे पिता का मोक्ष सम्भव है। अत: पुत्र-पुत्री की महत्ता परस्पर समकक्षीय होना स्वाभाविक था। साधक अपनी साधना, तप, सुकर्म और आत्मिक उत्थान से स्वत: उच्च से उच्चतर होता हुआ, उच्चतम स्थिति प्राप्त कर परम पद का अधिकारी हो जाता है। पुत्रों के होने-न होने से कोई

अन्तर नहीं आता। धर्म के स्तर पर, यही कारण है कि पुत्र का होना न तो गौरवपूर्ण रहा और न ही पुत्रहीनता हतभाग्यता का प्रतीक माना जाता था।

पुत्र-जन्म का अनुभव मिश्री के स्वाद और अमृत के मधुर अनुभव से भी अधिक सुखद होता है। लोक-व्यवहार की साक्षी में भी आगमों का कथन इस आशय का रहता है कि उस काल में पुत्र की प्राप्ति का प्रसंग प्रसन्नता, हर्ष, उत्साहवर्धक और प्रफुल्लता प्रदान करने वाला हुआ करता था। पुत्री-जन्म यदि निराशा और दु:ख का प्रसंग न भी रहता, तथापि उससे उतनी उमंग और उल्लास का उदय नहीं हुआ करता था। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित है कि पुत्र-रत्न की प्राप्ति की संदेशवाहिका दासी को सम्पत्ति से पुरस्कृत तो किया ही जाता था; उसे दासत्व से भी मुक्ति मिल जाती थी। अनेक मांगलिक उत्सवों का आयोजन होता, बंदीगण दण्ड-मुक्त कर दिये जाते थे। ऐसा कुछ भी कन्या-जन्म पर नहीं किया जाता था। कन्याओं की परिवार में स्थिति, इस सबके बावजूद भी अच्छी, पर्याप्तत: अच्छी थी। विद्वानों की मान्यता इस आशय की है कि वैदिककाल की अपेक्षा भी आगमकाल में कन्या-स्थिति अधिक उत्तम थी।

उत्तराध्ययन में एक वृत्तान्त मिलता है—वैराज द्विमुख का। सात पुत्रों का पिता द्विमुख सन्तति, धन-वैभव, यश-कीर्ति से सम्पन्न-सर्व प्रकार से सुखी था। तथापि इस बात का गहन अवसाद उसे बना रहता था कि कुल-कीर्ति की अखण्डता का निर्वाह करने वाली एक पुत्री भी उसके प्रारब्ध में नहीं है। इस सम्बन्ध में वह उन्मुक्त रूप में अपना दु:ख बार-बार प्रकट किया करता था। ऐसे आख्यान कन्या-महत्ता का प्रतिपादन करने में सार्थक कहे जा सकते हैं। कालान्तर में जब द्विमुख को कन्या-प्राप्ति हुई तो परिवार मानो हर्ष और प्रसन्नता से आच्छादित हो गया। उल्लासपूर्वक जन्मोत्सव मनाया गया। कन्या के अभाव में पिता-पुत्र सभी श्रीहीन अनुभव करते थे, अब सभी श्रीसम्पन्न और शोभाशाली हो उठे। कन्या से ही कुल की कीर्ति मानी जाती थी और वही पिता-पुत्रादि के लिए, समस्त परिवार के लिए शोभा की हेतु हुआ करती थी।

पुत्री परिवार में सभी की स्नेहभाजन होती थी। किसी भी प्रकार की कोई विपत्ति, पीड़ा, कष्ट की छाया भी उसे स्पर्श न कर सके-सभी की यह कामना रहती थी। आपदाओं से रक्षा के लिए सर्व परिजन सचेष्ट रहते थे। कन्या की सुरक्षा के लिए पिता, भाई आदि धन-सम्पत्ति ही क्या अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को भी तत्पर रहते थे। ज्ञाताधर्मकथांग का एक वृत्तान्त इस प्रवृत्ति की पुष्टि करता है। एक सार्थवाह की कन्या का अपहरण हो जाने पर उसके पिता और

बंधुजन बड़े विचलित और दुःखी हो गये। सार्थवाह ने नगर-रक्षक से बहुत अनुनय की कि उसकी कन्या को खोजकर परिवार में ला देवे। पिता ने कहा कि वह इसके उत्तर में अपनी समस्त सम्पदा भी नगर-रक्षक को अर्पित करने को तत्पर है। नगर-रक्षक की असफलता की स्थिति में पिता-पुत्र स्वयं सन्नद्ध हो गये और प्राणों का भय त्यागकर खोज में जुट गये। किसी प्रकार से अपहृत कन्या उन्हें प्राप्त तो हुई किन्तु मृत अवस्था में। इनके दुःख और शोक का कोई पारावार ही नहीं रहा। उत्तराध्ययन में भी एक प्रसंग लगभग इसी प्रकार का आता है। एक राजकन्या का अपहरण कर लिया गया। कन्या का पिता स्वयं नरेश ने उसे खोजने की शक्तिभर चेष्टा की। राजशक्ति तो अपार और अचूक होती है, किन्तु नियति ही ऐसी थी कि कन्या की पुनः प्राप्ति सम्भव नहीं हुई। नरेश अत्यन्त संतप्त हुए। पुत्री-वियोग से विकल पिता ने गृह त्यागकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

बौद्धागमों में कन्या की स्थिति हीन तो नहीं कही जा सकती, किन्तु जैनागमों में उसकी अपेक्षा भी अधिक उन्नत स्थिति रही। इस कथन में रंचमात्र भी अत्युक्ति नहीं है। बौद्ध आगमों में पुत्र-जन्म पर ही ब्राह्मण पुत्र-दर्शन के लिए समुत्सुक दिखायी देते हैं। प्रसेनजित कन्या-जन्म की सूचना से बड़े ही खिन्न, क्षुब्ध और हताश हो जाते हैं। इसका उल्लेख संयुक्त निकाय में हुआ है। ऐसे उल्लेख जैनागमों में उपलब्ध नहीं होते। अपेक्षाकृत अधिक उत्तम स्थिति में कन्याओं का होना—इससे आभासित होता है। वस्तुस्थिति यह है कि जैन और बौद्ध दोनों ही क्षेत्रों में यह काल कन्या स्थिति की दृष्टि से निन्दनीय तो कदापि नहीं रहा। वरन् कन्या-जन्म को स्वागत योग्य ही माना जाता था, ऐसा प्रसंग न हीन माना जाता था, न ही अवांछनीय। परिवार में कन्या की उपस्थिति नहीं, उसका अभाव ही किसी सीमा तक दुःखद अनुभव किया जाता था। दोनों ही आगम साक्षी हैं कि इस काल में माता-पिता पुत्र और पुत्री की कामना और तदर्थ प्रार्थनाएँ समान रूप में ही किया करते थे। दत्तक पुत्र के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है, दत्तक पुत्री के विषय में नहीं—यह भी एक उल्लेखनीय स्थिति रही है।

कन्याओं को सुखद पारिवारिक वातावरण भी सुलभ होता था। उन्हें स्वातंत्र्य की सुविधा थी। सहेलियों के संग क्रीड़ा और मनोविनोद की स्वतंत्रता तो थी ही; बालकों को सम्मिलित करने पर भी प्रतिबंध नहीं था। परदा उनके उन्मुक्त जीवन में व्यवधान उपस्थित नहीं कर पाता था। उसकी सुख-सुविधा और वस्त्राभूषण, शृंगार-प्रसाधनादि का भी और तद्विषयक उसकी रुचि-अरुचि का भी ध्यान रखा जाता था। सार्वजनिक प्रसंगों में उपस्थित रहने, अपने ज्ञान, कलाविदता आदि के प्रदर्शन की भी उन्हें स्वाधीनता रहती थी।

परिवार में कन्या का अवांछित न माना जाना इस तथ्य से भी आभासित हो जाता है कि सामरिक परिस्थितियों के समय भी देश का राजा अपनी राजकन्या की अभिलाषाओं की अवमानना नहीं करते थे। उसकी इच्छाओं की पूर्ति प्राथमिक स्तर रखती थीं—देशरक्षा का कर्त्तव्य भी तदनन्तर ही स्थान प्राप्त करता था। सभी परिवारों में कन्या-जन्म उत्सव और उत्साह का विषय रहता भी था; इसके पश्चात् के भी समस्त कार्यक्रम। यथा-नामकरण, स्नान, चातुर्मासिक उत्सवादि के आयोजन भी हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न होते थे। माता-पिता, भ्रातागण आदि सभी स्वजनों का असीम स्नेह उसे प्राप्त होता रहता था। जो कन्याएँ विवाह-इच्छुक नहीं होतीं उनका गृह आजीवन पितृकुल ही बना रहता और उनके स्नेह-सम्मान में कोई अभाव नहीं आता था। पिता के न रहने पर उसके भरण-पोषण और अन्यान्य पूर्तियों का दायित्व भ्राता द्वारा सहर्ष ग्रहण किया जाता था। ज्ञाताधर्म में तद्विषयक उल्लेख प्राप्त होता है। कन्या भी प्रतिदिन पिता को प्रणाम करती और आशिष ग्रहण करती थी। अनुज अपनी अग्रजा के प्रति मातृसम आदरयुक्त भावना रखता था। ऐसे अनुज अपनी पत्नियों को भी इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा दिया करते थे।

पुत्री का सुखमय जीवन प्रत्येक पिता के लिए काम्य रहा करता था। यदि जामाता भी पुत्री के दु:ख का कारण होता और अन्यान्य प्रयासों से उसका दु:ख दूर न हो पाता तो जामाता-हनन से भी कन्या का पिता पीछे नहीं हटता; किन्तु पुत्री की दु:खभयता को अध्यातव्य नहीं मान पाता। विवाहिता पुत्री का जीवन पति द्वारा दु:खमय बनाये जाने की स्थिति में पिता का विरोध उसके श्वसुर से रहे और कन्या की माता का चिंतित रहने के अनेक उदाहरण आगमों में उपलब्ध होते हैं। यदि पुत्री के दु:ख की कारण उसकी सपत्नी होती तो कन्या की माता ऐसी सपत्नी को पुत्री के मार्ग से हटाने का प्रयास भी करती थी और पति के अनुराग पर पुत्री का एकाधिपत्य पुनर्स्थापित कर देती थी। माता-पिता पुत्री के कन्यादान के लिए सुयोग्य वर का चयन करें—यह उनका सर्व प्रमुख कर्त्तव्य हुआ करता था। परिणामत: प्राय: पुत्री का विवाहित जीवन संकट के घेरे से बाहर ही रहा करता था। विवाह-पूर्व कन्याओं को भ्राताओं का स्नेह और सौमनस्य प्राप्त रहा करता था। जैनागमों की भाँति ही कन्या के लिए परिवार में स्नेहपूर्ण वातावरण का संकेत बौद्ध आगमों में भी मिलता है। दीर्घ निकाय इसका साक्षी कहा जा सकता है।

कन्या का व्यक्तित्व-निर्माण

शिक्षा के माध्यम से कन्याओं के मानसिक विकास और व्यक्तित्व-निर्माण का प्रयास आगम-पूर्व कालों में पर्याप्त महत्त्व का माना जाता रहा। कन्या सुशिक्षित हो—यह भी माता-पिता के आवश्यक कर्त्तव्यों में सम्मिलित था।

बौद्ध आगमों में भी स्थिति लगभग इसी प्रकार की मिलती है। जैन आगमों में स्त्री शिक्षा के विषय में पृथक् से और स्पष्ट उल्लेख का अभाव है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि स्त्री-शिक्षा को अनावश्यक मान लिया गया हो। बिना इससे सम्बन्धित जानकारी के भी शिक्षा को प्रोत्साहन दिये जाने के प्रमाण इस तथ्य से भली भाँति संकेतित हो जाते हैं कि आगमों में तत्कालीन अनेक विदुषी महिलाओं के विषय में चर्चा मिलती है। पुत्रों की अनिवार्य शिक्षा का उल्लेख आगमों में प्राप्त होता है और सत्य यही है कि इस प्रकार की औपचारिक एवं नियमित शिक्षा कन्याओं के लिए भी रही हो, उसकी अनिवार्यता भी रही हो—आगमों के साक्ष्य से ऐसा नहीं कहा जा सकता। तथापि कन्याओं की शिक्षा का एक पृथक् स्वरूप रहा अवश्य है। गृह-कलाओं में निष्णात् करने के उद्देश्य से भी और धर्माराधना और धर्म-ज्ञान के प्रयोजन से कन्याओं को शिक्षित किया जाता था। भाव यह कि नारी-शिक्षा का एक विशिष्ट स्वरूप था, सामान्य शिक्षा से पृथक् और भिन्न। अपने अर्जित ज्ञान के बल पर मल्लि ने चोखा परिव्राजिका को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। नारियों के ऐसे उदाहरण आगमों में आये हैं कि वे स्वतंत्र रूप से, सफलतापूर्वक विदेश-व्यापार भी करती थीं। तत्वविद् के रूप में जयन्ती को अपार यश प्राप्त था। सौन्दर्य प्रसाधन के उत्पादन की कला में भी अनेक स्त्रियाँ निपुण थीं। ललित कलाओं में दक्ष अनेक कन्याएँ रहीं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में नारियोचित ६४ कलाओं का विवरण भी उपलब्ध होता है। धर्मग्रन्थों के स्वाध्याय एवं मुनिजनों के व्याख्यानों से भी कन्याओं को जो ज्ञान प्राप्त होता था—वह भी शिक्षा क्रम का ही एक भाग था। सारांश में कहा जा सकता है कि कन्याओं को मानसिक विकास के अनेक अवसर उपलब्ध कराये जाते थे और सफल गृहिणी के रूप में ढालने के लिए उसे उपयुक्त विषयों की शिक्षा दी जाती थी, उसकी ज्ञान-वृद्धि की जाती थी और उसे समाजोपयोगी स्वरूप दिया जाता था।

कन्या को आगमकालीन समाज में जो स्थान प्राप्त था—उसे पर्याप्त सम्मान और महत्त्व से पूर्ण कहा जा सकता है। इस महत्ता के पीछे परिवर्तित होती जा रही धार्मिक परिस्थितियों की भूमिका भी रही। कन्या को विवाह करने अथवा न करने का निर्णय भी स्वयं करने का स्वातंत्र्य था। विवाह जीवन का अनिवार्य आयाम नहीं था। ऐसी अनेक स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने अपना समस्त जीवन पितृकुल में व्यतीत कर दिया। ज्ञाताधर्म इसका साक्षी है। अविवाहित रही अनेक महिलाएँ जगत् और गृह का, लौकिक सुखों का परित्याग कर प्रव्रज्या भी ग्रहण कर लिया करती थीं। तत्कालीन समाज में पुत्री की अपेक्षा

पुत्र की महत्ता जो अधिक दृष्टिगत होती थी, इसके पीछे भी कतिपय परिस्थितियाँ और परम्पराएँ बनी हुई थीं। कालयापन के साथ-साथ संततियाँ वयस्क और माता-पिता वृद्ध हो जाते तो उन वृद्ध जनों के लिए पुत्र ही संरक्षकवत् होते थे। ये गुरु जन सभी दृष्टियों से पुत्रों पर निर्भर रहते, उनके आश्रित हो जाते थे। पुत्रियाँ तो अपने पतिकुल को गमन कर जाती थीं और वहाँ उनकी महत्ता पृथक् से ही आकार ग्रहण किया करती थी। कन्या के लिए उसके माता-पिता को विवाहादि की चिन्ता भी त्रस्त रखती थी, धन की भी पर्याप्तत: अपेक्षा रहती थी। पराये धन की भाँति, धरोहर के रूप में कन्या का अपने पितृकुल में अस्तित्व रहता था। अत: माता-पिता को उसकी सर्व प्रकार की सुरक्षा के लिए भी सचेष्ट रहना होता था। पुत्र ही कुल-गौरव को आगे अग्रसर करता और पूर्वजों की ख्याति को स्थायित्व देता था। इन्हीं और ऐसे ही कतिपय अन्य कारणों से कुछ अन्तर पुत्र और पुत्री की महत्ता में आभासित अवश्य होता था, किन्तु यथार्थत: पुत्रियों को परिजनों का गहन और हार्दिक स्नेह सुलभ रहता था। कन्याएँ परिजनों के दायित्वों को बढ़ा देती थीं, पुत्र दायित्वों के भार को बँटा लेते थे। अत: कन्याएँ कदाचित् कुछ कम महत्त्व की रह जाती थीं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा हो जाना सम्भवत: स्वाभाविक भी माना जा सकता है। अन्यथा परिवार व समाज में उन्हें नगण्य नहीं समझा जाता था, उनकी उपेक्षा नहीं की जाती थी, उनके मांगल्य को नकारा नहीं जाता था।

आगमकाल में पुत्रियों को अपने पितृकुल में सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त था, अथवा नहीं—यह भी एक विचारणीय विषय है। वास्तविकता यह है कि पिता की सम्पत्ति पर मात्र पुत्रों का अधिकार होता था। पुत्री को आंशिक सम्पदा का अधिकार भी प्राप्त नहीं था। अपवाद यही रहा कि पुत्री ही एक मात्र संतति हो, उसका कोई सहोदर या भ्राता न हो तो ऐसी पुत्री का पिता की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार रहता था। बौद्ध और जैन दोनों ही आगमों में भ्राता की भगिनी कन्या को पितृकुल में भरण-पोषण पाने का ही अधिकार था, पितृ-सम्पदा पर उसका उत्तराधिकार नहीं था। भ्राता के अभाव में इकलौती कन्या को जो पितृ-सम्पदा का उत्तराधिकार प्राप्त था—उस स्थिति में भी विवहोपरान्त कन्या का पति भी पत्नी के पितृगृह में रहने लगता था, गृह-जामाता के रूप में। इस प्रकार पितृ-सम्पदा पर कन्या का अधिकार होते हुए भी सम्पदा पितृकुल में ही रहती थी। एक प्रकार से ऐसी पुत्री पुत्रवत् हो जाती थी।

●●

आगमकालीन नारी : विवाहोत्तर स्वरूप

बाल-विवाह विरोधी युग

नारी-जीवन का आरम्भिक स्वरूप पितृगृह में व्यतीत होने वाली बालिका या कन्या का है। किशोरावस्था भी इसमें सम्मिलित है और विवाह-योग्य आयु प्रथम और द्वितीय चरण का वह संधि-काल है जब मानसिक और शारीरिक रूप से वह पर्याप्त वयस्क हो चुकी होती है। यह विवाह-योग्य आयु वैदिककाल में यौवन-प्रवेश के उपरान्त की रही। मनुस्मृति में यह बालवय तक सीमित रह गयी। मनु ने आठ से बारह वर्ष की आयु में कन्या के विवाह का विधान कर दिया। इसी आयुवर्ग में कन्या का विवाह अनेक कारणों से स्वस्थ और उपयुक्त नहीं माना जा सकता, चाहे स्मृतिकाल में कतिपय परिस्थितियों का आग्रह वैसा रहा हो। कालान्तर में यह आयु बढ़ोत्तरी की ओर अग्रसर होती रही। आगमकाल में बाल-विवाह के अभिशाप से नारी को पुनः मुक्ति मिली। पर्याप्त यौवन प्राप्त नारी ही इस काल में विवाह-योग्य मानी जाती थी।

आलोच्यकाल में कन्या के यौवन की दहलीज पार करते-करते ही माता-पिता उसके विवाह के लिए चिन्तित और सचेष्ट हो जाते थे। सम्बन्ध-स्थिरीकरण का प्रश्न तनिक जटिल और प्रयत्न-साध्य इस कारण भी हो जाता था कि पिता अपनी दुलारी पुत्री के लिए योग्यतम वर के चयन की कामना रखता था। कन्या की विशेषताओं के लिए उपयुक्त घर-वर की खोज, जहाँ उसका जीवन सुखपूर्वक और गरिमा के साथ व्यतीत हो सके—सुगम होता भी नहीं है। बेमेल विवाह इस युग में भी अनुपयुक्त माने जाते थे। सामान्यतः विवाह की सुमेलता व्यावहारिक रूप में इस काल में सर्वत्र पायी जाती है। 'ज्ञाताधर्म' में भी और 'विपाक' आदि अन्यान्य ग्रन्थों में भी ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनसे यह संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि रूपमती और बुद्धिमती कन्याओं के कुलीन वरों के साथ सम्बन्ध प्रायः हो ही जाते थे। पूर्ण परिपक्वावस्था में आने

पर ही कन्या का परिणय होना बाल-विवाह जैसे अभिशाप के मोचन का संकेत भी करता है। बौद्ध साहित्य भी बाल-विवाह का विरोधी ही रहा है। योग्य और सुन्दर कन्या को भी पिता अपनी इच्छानुसार उपहार देता था। कन्या का विवाह तो जीवन में एक ही बार, एक ही वर के साथ होता था, किन्तु वर अनेक कन्याओं के साथ परिणय सम्पन्न कर सकता था; अर्थात् बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। इस सम्बन्ध में यह पक्ष भी ध्यातव्य समझा जाना चाहिए कि बहुविवाह का प्रचलन केवल अभिजात और कुलीन वर्गों में ही था; अन्यथा सामान्यत: एकल पत्नी पद्धति का ही प्रचलन इस युग में रहा था। इस तथ्य के पक्ष में ज्ञाताधर्म, अनुत्तरोपपाति आदि ग्रन्थ मुख्य हैं।

विवाह सम्बन्ध स्थायी रूप रखता था। सम्बन्ध-विच्छेद को न तो उचित और उपयुक्त माना जाता था और न ही उसके समर्थन का भाव समाज में व्याप्त था। आगम युग परिपक्व आयु में विवाह, एकल विवाह और चिरस्थायी सम्बन्ध के लिए प्रसिद्ध माना जा सकता है। ज्ञाताधर्म कथा में एक उल्लेख ऐसा अवश्य आता है कि पति ने पत्नी सुकुमारिका को अवगत कराये बिना अघोषित प्रवास पर प्रस्थान कर दिया था, दीर्घप्रवास में निकल गया, किन्तु न तो पति आया, न ही उसका संदेशा आया और न ही उसने पत्नी की खोज-खबर ही ली। परिणामत: ऐसे पति के साथ अपना दाम्पत्य सम्बन्ध पत्नी ने विच्छिन्न कर लिया, किन्तु इस प्रकार की घटना की कोई आवृत्ति नहीं मिलती। यह घटना विवाह सम्बन्धों की अविच्छिन्नता की सामान्य विशेषता का एक अपवाद मानी जा सकती है।

जैसा कि पूर्व वर्णित भी है—आगम युग में नारी के लिए विवाह की कोई अनिवार्य प्रतिबद्धता नहीं रही। विवाह नारी के विकल्प पर आधारित था। स्त्री यदि चाहे तो अविवाहित रूप में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकती थी और कतिपय घटनाओं का उल्लेख मिलता भी है जिनमें महिलाओं द्वारा ऐसा किया गया था। उसे पितृगृह में भरण-पोषण और आश्रय प्राप्य रहता था। कतिपय ऐसी महिलाओं द्वारा प्रव्रज्या भी ग्रहण कर ली जाती थी।

पति-गृह में पत्नी का स्थान

पति-पत्नी का नियमित रूप में सह-जीवन का समारम्भ ही विवाह है। विवाह दो जीवन साथियों के आजीवन, स्थायी मिलन का नाम है। नारी और पुरुष विशेष की आत्माओं का यह संयोग, इन दो हृदयों का एकीकरण दाम्पत्य और विवाहित जीवन है। वधू रूप में कन्या पितृकुल से विलग होकर पति-कुल की सदस्या बन जाती है। यह जुड़ाव कन्या के व्यक्तित्व में वधू का एक नवीन

रूप ही नहीं जोड़ता उसके अधिकारों का श्रीगणेश भी करता है और उसके दायित्वों एवं कर्त्तव्यों के नये आयाम जोड़ता है। कुल-वधू सभी के लिए पति-गृह में स्नेह की ही नहीं विशेष प्रकार के सम्मान की पात्र भी हो जाती है। प्रत्युत्तर में वधू को भी अपने कोमल व्यवहार, सदाशयता और गुरुजनों के प्रति आदर भावना द्वारा अपने इन नवीन स्वजनों का हृदय जीतना होता है। अपने आदर्श आचरण-व्यवहार और पति कुल के प्रति निष्ठा की भावना से ही वधू सर्वप्रिय हो जाती है। वह अपने लिए प्रतिष्ठा अर्जित कर पाती है।

आगमकाल के पूर्ववर्ती काल तक तो वधू का पतिगृह में प्रवेश ही उसे इस परिवार की साम्राज्ञी होने का गौरव प्रदान कर दिया करता था। वह स्वामिनी की भाँति परिवार पर शासन का अधिकार पा जाती थी और भार्या की भाँति सभी के भरण-पोषण और सुख-सुविधा की व्यवस्था का दायित्व भी ग्रहण कर लेती थी। आगमकाल में नारी की यह स्थिति ऐसी न रही—इसमें भिन्नता के दर्शन होते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बिन्दु यह भी है कि जिस नवीन गृह में विवाहोपरान्त वधू प्रवेश करती है वह पतिकुल की अपेक्षा श्वसुर कुल के रूप में अधिक मान्य था। श्वसुर के वर्चस्व वाले इस परिवार का गृहपति भी पति का पिता होता था और सास पहले से ही गृहिणी या गृहस्वामिनी के रूप में प्रतिष्ठित रहती है और आगे भी उसका यह गौरव बना रहता था। वधू का वर्चस्व तेजपूर्ण रूप ग्रहण नहीं कर पाता।

अपने पिता के परिवार से जो सुसंस्कार लेकर वधू आती थी, उनका और भी विकास कर अपने पितृकुल को श्वसुर कुल में भी कीर्तिपूर्ण करने का दायित्व भी उस पर रहता था। उसे पग-पग पर अपने व्यवहार में यह ध्यान रखना होता है कि उसके व्यवहार से कहीं उसने अपने पितृकुल की मान-मर्यादा को कोई आघात न लगे। आगमकालीन वधुएँ इस सतर्कता के साथ पतिकुल के गौरव की भी वृद्धि करती रहती थीं। उसे दोनों ही कुलों को अपने कर्मों से यशस्वी और गौरवपूर्ण बनाना होता था। वह अपने सदाचरण से पतिकुल ही नहीं, समाज को भी प्रभावित करती थी।

आगमकाल में पत्नी के गौरव में तनिक ह्रास की स्थिति ही बनी। उसकी वह गरिमा नहीं बनी रही जिससे वह वैदिक काल से विभूषित रही। यज्ञादि में पति के साथ पत्नी की सहभागिता अनिवार्य होती थी, पूर्ववर्ती काल में। आगमकाल में उसकी यह महत्ता सुरक्षित नहीं रही। इस काल में पति की धार्मिक प्रवृत्तियों में उसका सहकार, प्रेरणा—कुछ भी नहीं रहती थी। जैन और

बौद्ध—दोनों ही आगमों में यह स्थिति एक-सी मिलती है। उसकी उपेक्षा अवमानना के स्तर तक पहुँच गयी थी। पति को दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व माता-पिता की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य रहता था। इसके अभाव में वह दीक्षा का उचित पात्र नहीं माना जाता था। विचारणीय यह है कि पति के दीक्षा-ग्रहण से जिसका समग्र जीवन प्रभावित होने वाला होता है—उस पत्नी की अनुमति वांछित नहीं मानी जाती थी। यह स्पष्टतः पत्नी की पूर्व माननीयता का ह्रास है। यह उसकी अवमानना है। पत्नी के साथ इस विषय में विचार-विमर्श किया जाना, उसको सहमत करना आवश्यक नहीं समझा गया। यह पत्नी की महत्ता के प्रति नकारात्मक रुख विकसित हो गया था। युवराज गौतम तो साधाना पथ पर अग्रसर होने के लिए गृह-त्याग के समय अपनी प्रियतमा पत्नी यशोधरा को निद्राधीन अवस्था में ही त्यागकर प्रस्थान कर गये थे। उस पति-परायणता नारी को अपनी हतभाग्यता का आभास भी यथासमय नहीं हो पाया। नारी इस प्रकार दयनीय अवस्था में आ गयी थी। नारी स्वयं अपने इस गौरव-हनन और अधिकारहीनता से त्रस्त और विकल थी। उसे अपनी इस अवमानना से आत्म-सम्मान पर आघात अनुभव भी होता था और वह अपने अवशिष्ट आत्म-सम्मान की रक्षार्थ सचेष्ट भी रहती थी। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने बड़ी ही भाव-प्रवणता के साथ आहतमनस्का यशोधरा का चित्र प्रस्तुत किया है। यशोधरा अपनी सखी से कहती है—

सखि ! वे मुझसे कहकर जाते.... !
सिद्धि हेतु स्वामी गये—यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गये यही बड़ा व्याघात।
सखि ! वे मुझसे कहकर जाते.....।
तो कह, क्या वे मुझको अपनी पथ बाधा ही पाते॥

वह यह भी कहती है—

गये, लौटकर भी आयेंगे।
कुछ नवीन, अनुपम लायेंगे।
रोते प्राण उन्हें पायेंगे,
पर क्या गाते-गाते !

यशोधरा की आत्मिक पीड़ा यही रही कि गौतम के मन में मेरे प्रति यह भ्रान्ति रही कि यदि उन्होंने गृह त्याग की अनुमति माँगी तो मैं उनके लिए बाधक

बन जाऊँगी। मेरे प्रति यह भ्रान्त धारणा उनके मन में क्यों रही—इससे मेरी मान-हानि हुई है। यह विचार अकेली यशोधरा का ही रहा हो—ऐसा नहीं है। उसके कथन में तत्कालीन समग्र नारी जाति की यही भावना स्वरित हुई है। जब सिद्धि प्राप्त कर गौतम बुद्ध रूप में कपिलवस्तु लौटे तो सारा नगर उनके स्वागतार्थ उमड़ पड़ा। माननीय यशोधरा का आहत सम्मान उसके चरणों की बेड़ियाँ बन गया। वह दर्शनार्थ न जा पायी। भगवान बुद्ध ने इस मानसिकता को पहचाना और यशोधरा को दर्शन देने को स्वयं उसके पास पहुँचे।

यह औदार्य बुद्ध ने दिखाया, किन्तु क्या यह विडम्बना नहीं कि उन्होंने बौद्ध धर्म का यह नियम स्थिर किया कि पिता की आज्ञा बिना किसी को भी भिक्षु न बनने दिया जाये। पत्नी की उपेक्षा ही होती रही।

वधू द्वारा निर्देशों की अवहेलना हो, उससे कोई त्रुटि या दोष हो जाये तो गृह-निष्कासन तक का दण्ड देने का अधिकार श्वसुर के पास रहता था। बौद्ध साहित्य में ऐसे अनेक आख्यान मिलते हैं कि वधू द्वारा सास की अनुमति के बिना कोई कार्य किये जाने पर सास भी उसे दण्डित करती थी। एक आख्यान में तो इसी प्रकार सास की अनुमति के बिना वधू दान दे देती है और सास कुपित होकर वधू के प्राण तक ले लेती है। विशाखा श्वसुर के धार्मिक कार्यों में अपना विरोध प्रकट करती थी, परिणामत: उसे घर से निष्कासित होना पड़ा।

धार्मिक क्षेत्र में वधुओं को अपने विश्वास के अनुसार धर्माचरण की सुविधा बौद्ध और जैन दोनों साहित्यों में मिलती है। विशाखा और सुभद्रा इसके उदाहरण हैं। वधू के लिए अनिवार्य न था कि वह उसी धर्म को स्वीकार कर ले जो उसके पति-कुल का हो।

सास द्वारा इस युग में वधू को उत्पीड़ित किये जाने के प्रकरण तो मिलते ही हैं—सास के लिए बहू भी उत्पीड़क और कष्टकारिणी बनी रहती थी। आगमों में भी इसके उदाहरण उपलब्ध होते हैं। विपाक सूत्र में श्रीदेवी का आख्यान इसका जीवन्त साक्ष्य है। पुष्पनन्दी अपनी माता की असाधारण रूप में असीम सेवा-सम्मान करता था। पुत्र-वधू देवदत्ता के मन में अपनी सास के प्रति कुभाव उत्पन्न हुआ। उसको यह भ्रान्त धारणा हो गयी थी कि सास के कारण उसका पति उसकी उपेक्षा करता है। इसी रोष में उसने लौहदण्ड का प्रहार कर अपनी सास का प्राणान्त ही कर दिया था। अनेक वृत्तान्तों में ऐसे प्रसंग भी आते हैं कि विधवा हो जाने पर सास को पुत्र-वधू गृह-निष्कासित कर देती है। सास अनाश्रित हो जाती है और दयनीय अवस्था में जीवन-यापन करती है।

पतिगृह भी वधू के लिए वास्तव में होता ससुराल ही था। इस कुल का सर्वोच्च, प्रमुख और नियन्ता उसका पति नहीं, उसका ससुर ही होता था। वधू पर भी उसी का शासन रहता था। वधू के लिए उसके निर्देशादेश अनिवार्यत: पालनीय होते थे। अपनी गतिविधियों और कार्य-कलापों के लिए भी वधू को ससुर की पूर्वानुमति प्राप्त करनी होती। इन सारी कठोरताओं को वधू अपने कौशल और अपनी बुद्धि से अपने लिए सरल भी बना सकती थी। ये कठोरताएँ स्वत: विलीन हो जातीं और वधू की इस कुल में गौरव-वृद्धि भी सम्भव हो जाती थी। इसके लिए उसे विनयशीलता और सेवा का मार्ग अपनाना होता था। इस कुल के परिजनों को अपने सद्गुणों से, कुल के प्रति अपनी दृढ़ निष्ठा से प्रभावित करना पड़ता था। नम्रतापूर्ण और सम्मानजनक व्यवहार एवं सर्वहितैषिता की प्रवृत्तियाँ उसको इस कुल की गृहस्वामिनी रूप में प्रतिष्ठित कर देती थीं। उसकी अल्पायु अथवा कनिष्ठता भी इस मार्ग में व्यवधान नहीं हो पाती थी। पति-कुल के अधीन रहने को विवश वधू अपने सदाचरण और सद्गुणों से इसी कुल की शासिका और नियन्ता हो सकती थी।

सास-बहू के सम्बन्धों में कटुता और हृदयहीनता की उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु इस युग में सास वधू की हितैषिणी भी होती थी। इस तथ्य के प्रमाण भी यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाते हैं। पुत्र-वधू के अपहरण हो जाने पर सास उसकी पुनर्प्राप्ति के लिए चिन्तित ही नहीं, सचेष्ट भी दिखायी देती है। वह इस निमित्त धन के व्यय की चिन्ता नहीं करती, वह स्वयं खोज कार्य में प्रवृत्त हो जाती थी। एक विशेष ध्यातव्य यह बात भी रहा करती थी कि ऐसी अपहृत वधू की पुन: प्राप्ति पर सास उसके प्रति किसी प्रकार की शंका का भाव नहीं रखती थी।

पत्नी के आदर्श : कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में

हमें ज्ञात होता है कि पतिगृह में पत्नी की स्थिति आगमकाल में अधिक उत्तम नहीं थी। उस पर प्रतिबन्ध थे, नियंत्रण थे, न स्वातंत्र्य था और न ही आत्मीयतापूर्ण व्यवहार उसके प्रति रहा। ऐसी स्थिति में पतिगृह में नारी की गरिमा का ह्रास तो स्वयं सिद्ध है। यदि नारी-गरिमा और शालीनता का आधार उसके कर्त्तव्यों की संहिता का माना जाय, उस संहिता के स्वेच्छापूर्वक पालन को माना जाये तो अवश्य ही आगमकाल में भी नारी ने अपने प्रयत्नों में अभाव नहीं आने दिया। आगमों में आदर्श पत्नी द्वारा पालनीय आदर्श कर्त्तव्यों का विधान भी मिलता है और तत्कालीन पत्नियों द्वारा उसके अनुसरण के प्रमाण

भी। बौद्ध त्रिपिटकों में वधू के कर्त्तव्यों का सारणीबद्ध उल्लेख प्राप्त होता है। यथा—

- घर की बात घर तक सीमित रखी जाये।
- बाहरी बातों से घर की शान्ति को भंग न होने दें।
- पात्र व्यक्ति को ही दान दिया जाये।
- अपात्र को दान न दिया जाये।
- जो हमें देता हो और न देने की स्थिति में हो, उसे भी देने में संकोच नहीं करना चाहिए।
- प्रसन्नतापूर्वक जीवन-यापन करना चाहिए।
- अपनी शुद्धि बनाये रखनी चाहिए।
- कुल देवता को प्रणाम करना चाहिए।

इस प्रकार संहिताबद्ध और एकत्र रूप में जैन आगमों में वधू के कर्त्तव्यों का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, किन्तु आगमों में भी अपने ढंग से इन कर्त्तव्यों के उल्लेख बिखरे-बिखरे रूप में यत्र-तत्र मिलते अवश्य हैं। इन उल्लेखों में वधू के लिए निर्देश मिलते हैं कि उसे चरित्रवान और आज्ञापालक होना चाहिए, उसे विनयशील और कर्त्तव्य-परायण होना चाहिए इत्यादि। ये आगमकालीन आदर्श सार्वकालिक महत्त्व रखते हैं। इनके अनुसरण द्वारा किसी भी युग की वधू अपने वधूत्व को सार्थक बना सकती है, सर्वप्रिय व्यक्तित्व को विकसित कर सकती है, परिवार की सुख-शान्ति को सुरक्षित रख सकती है और आत्मतोष भी प्राप्त कर सकती है।

दाम्पत्य सम्बन्ध

पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध विश्वास की भूमि पर आधारित रहता है। नारी का यह शाश्वत स्वभाव रहा है कि वह अपने प्रति अपने प्रियतम का अनुराग भाव विभाजित नहीं देख सकती। वह जिस अनन्यता के साथ पति से प्रीति रखती है, वैसी ही एकमेव रूप में वह उसकी प्रीति पात्र भी होना चाहती है। अन्य कोई स्त्री भागीदार बने यह उसके लिए असहनीय हो जाता है। पुरुषों को इस युग में एकाधिक विवाह की सुविधा प्राप्त थी। अत: पत्नी के मन में आशंका का बीज अंकुरित हो जाना स्वाभाविक ही था कि पति कहीं अन्य विवाह करके किसी सपत्नी को घर न ले आये। प्राय: यह आशंका आधारहीन

और मिथ्या भी होती, तथापि पत्नी उसमें मिथ्यात्व का आभास कर नहीं पाती थी और भावी अनिष्ट की कोरी कल्पना में ही, भीतर ही भीतर पीड़ित रहा करती। कल्पसूत्र में भी इसका उल्लेख है कि ऐसी शंकाकुल नारी कभी अपने पति की प्रेयसी होने की कल्पना से ही अन्य स्त्री के लिए उत्पीड़क हो जाती और स्वयं समाज के उपहास का विषय हो जाती थी। ऐसी आशंकाग्रस्त नारी असमंजस की स्थिति में अपना व्यवहार निश्चित नहीं कर पाती थी और उसका असामान्य व्यवहार दाम्पत्य-अशान्ति का कारण बन जाता था। परिवार भी उसके दुष्प्रभावों से मुक्त नहीं रह पाता था।

पत्नी के स्वभाव की एक विशेषता इस युग में अति महत्त्वपूर्ण थी कि पति के किसी कारणवश रुष्ट या कुपित हो जाने पर उसके व्यवहार में तो रूक्षता आ जाती थी, किन्तु ऐसी स्थिति में भी पत्नी का व्यवहार स्निग्ध, मधुर, कोमल और सरस बना ही रहता था। ज्ञाताधर्मकथा इस विशेषता का साक्षी है। विवाहोपरान्त यदि किसी-किसी पत्नी को उसका पति अपने घर न लाता तो ऐसी स्थिति में वह अपने पितृ-कुल में ही समय-यापन करती थी। यदि पति सार्थवाह वृत्ति का होता और व्यापार हेतु सुदीर्घ काल तक भी प्रवास पर रहता तो पत्नी के लिए यह विरहदग्धकारी हो जाता था। सोलह वर्षीय नव-यौवना पत्नी को एकाकी छोड़कर पति विदेश व्यापार हेतु प्रयास पर रहता और सोलह वर्ष बाद लौटकर घर आता। पत्नी का उत्साह गगनचुम्बी हो जाता। सोलह शृंगारयुक्त, मिलनोत्सुक पत्नी अपने गत विरह की समस्त वेदना विस्मृत कर, अपने प्रियतम-पति का स्वागत करती थी।

आगमयुगीन स्त्री का वर्चस्व अपनी पूर्वकालिक अवस्था से बहुत घटा हुआ था—इसमें दो मत सम्भव नहीं; किन्तु फिर भी परिवार में उसकी स्थिति एकदम नगण्यवत् भी नहीं कही जा सकती थी। बौद्ध ग्रन्थों के साक्ष्य से कहा जा सकता है कि अभी भी पत्नी को यह अवसर प्राप्त था कि वह अपने सद्गुणों के विकास और उनका व्यावहारिक उपयोग कर परिवार में स्वयं के लिए एक अधिकारपूर्ण और गरिमायुक्त स्थान निर्मित कर ले। विवेकशील महिलाएँ इस अवसर का सदुपयोग करती भी थीं। पति के धन पर अधिकार अन्तिम रूप से तो उसका नहीं, अपितु पुत्र का ही होता था, किन्तु यह तो पति के दिवंगत हो जाने के पश्चात् की स्थिति रहा करती थी। पति के जीवनकाल में उसके धन की संरक्षण करने की अधिकारिणी उसकी पत्नी ही हुआ करती थी। संयुक्त निकाय में चर्चा है कि पत्नी ही पति के लिए उत्तम और अन्तरंग मित्र होती है। पत्नी के समान परामर्शद और संकट-समास्या के पलों में सहकारी रहने वाला—पति के लिए

अन्य कोई नहीं हुआ करता था। पति-पत्नी का पवित्र दाम्पत्य प्राय: अबाध रूप में चलता रहता था। दोनों एक-दूसरे के प्रति समर्पित भाव से प्रणयशील रहते थे। दोनों में एक-दूसरे के प्रति अनन्य निष्ठा दम्पति की मूलभूत विशेषता रहती थी। पत्नी अपने आज्ञाशीलता, पति-परायणता, सेवाशीलता आदि का निर्वाह करती और पति अपनी पत्नी के भरण-पोषण, सुरक्षादि के अतिरिक्त भी उसे उपहार दिया करता और अपने अन्तर के अनुराग को सार्थक रूप में व्यक्त करता रहता था। जैनागम इस व्यवहार के साक्षी हैं। इस युग में दाम्पत्य बंधन रूप में न होकर अनुरागपूर्ण, सुखद और सच्चे अर्थों में पति-पत्नी दोनों के लिए परस्पर पूरक रहने के लिए प्रेरक बना रहता था। यदि दम्पति स्वावलम्बी थे तो उसके दोनों घटक परस्पर अवलम्बन को स्वेच्छापूर्ण स्वीकार करते थे। कोमल मनस्का पत्नी की अभिलाषाओं के प्रति भी पति के हृदय में आदर भाव बना रहता था और यथाशक्य उनकी पूर्ति भी पति द्वारा की जाती थी।

पत्नी को गृहस्वामिनी का दर्जा हासिल था। पति के अनन्तर उसे ही गृह-नीति के निर्धारण एवं निर्णय करने की शक्ति प्राप्त रहती थी। साधु को आवास प्रदान करना होता और पति अनुपस्थित होता तो पत्नी की अनुमति ही मान्य समझी जाती थी। दम्पति पति-पत्नी तो होते ही थे; वे प्रेयसी-प्रियतम भी हुआ करते थे। प्रीति से अभिभूत पति अपनी पत्नी के सम्मान में कुछ भी करने को तैयार रहता था। ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि पति द्वारा अपनी पत्नी के सम्मान में नगरों का निर्माण भी किया।

वियुक्ता पत्नी यदि दु:खानुभूति में निमग्न रहती, सादगी ही उसके जीवन का मर्म रह जाता था, वह शृंगारादि में भी रुचि नही लेती थी, आकर्षक वस्त्राभूषणों से सज्जित नहीं होती थी, तो पति की स्थिति भी सुखपूर्ण नहीं रहती थी। पत्नी-वियोग का संकेते ही उसे दु:खित कर देता था। पत्नी जब दीक्षार्थ तत्पर हो जाती तो यह पति के लिए अपार कष्टकर प्रसंग हुआ करता था। तथापि पति कभी पत्नी की आध्यात्मिक उन्नति में अवरोध उपस्थित नहीं करता था। पत्नी जन्य सभी सुख-सुविधाओं को भी वह त्यागने को तत्पर रहता था। अन्तकृद्दशांग के अनुसार "कण्व ने जब स्वयं अपनी पत्नी रानी पद्मावती को दीक्षा की सुविधा दी, उस अवसर पर उन्होंने भगवान महावीर के समक्ष पद्मावती के सम्बन्ध में व्यक्त किया कि प्रभो, यह प्रिय, मनोज्ञ, अनुपम सुन्दरी आज्ञाकारिणी रानी है, जो सदैव मुझे प्रसन्न रखती है। अत: मुझे अतीव प्रिय है। ऐसी ही नारी को मैं आपके समक्ष दीक्षा के निमित्त प्रस्तुत करता हूँ।"

रूठना-मनाना उस युग में भी पति-पत्नी के मध्य चला करता था। पत्नी का रूठकर कोप-भवन में चले जाना और पति द्वारा उसको मनाना, उसकी अभीप्सा को पूर्ण करना और प्रेम-मार्ग को पुनः स्वच्छ और निष्कंटक कर दिया जाना—यह सब कुछ उस युग में भी प्रचलित था। प्रायः पत्नियों को अपने पति की प्रीति पर, उसके हृदय पर अपने आधिपत्य पर गर्व रहता था। बहुपत्नी प्रथा का सामान्य प्रचलन न था, केवल उच्च वंशों तक ही यह सीमित थी—ऐसी अवस्था में सामान्यतः पत्नी का यह गर्व आधारहीन भी नहीं होता था।

पिता और पुत्र में दुर्भाग्यवश यदि सामान्य सम्बन्ध न रह पाता और इनके परस्पर विरोध के कारण पत्नी को पति अथवा पुत्र—दोनों में से एक का पक्षधर होना अनिवार्य हो जाता तो अपनी समस्त ममता का उत्सर्ग कर वह पति की पक्षधर ही हो जाती थी। अपनी मातृत्व शक्ति का सदुपयोग पतिकुल की परम्परा को अग्रसर करने के निमित्त करना वह अपना कर्त्तव्य मानती थी। सुख-दुःख—सभी परिस्थितियों में पत्नी अपने पति की छाया की भाँति उसका संग न छोड़ना अपना धर्म मानती थीं। आदर्श पत्नी स्वयं भी धर्म-विलग नहीं होतीं और पति को भी धर्म-मार्ग से च्युत नहीं होने देती थीं। अपने सत्परामर्श और प्रेरणा द्वारा पति को धर्म-दृढ़ बनाती थीं।

पातिव्रत्य इस युग में भी नारी का अनुपम आदर्श और सुदृढ़ धर्म था। पति-सेवा में स्वयं सन्नद्ध रहना भी वह अनिवार्य मानती थी। रुग्णपति की परिचर्या वह स्वयं ही करती थी। पति, मित्रादि सम्बन्धित जनों से सद्व्यवहार करना, पति की आज्ञाओं का अनुसरण करना, पति की स्थिति के अनुरूप स्वयं को भी ढाल लेना तत्कालीन पत्नी की सामान्य प्रवृत्ति रहा करती थी। पति के कष्टकाल में पत्नी सुखमय जीवन व्यतीत करे—ऐसा न होकर वह भी त्याग-उत्सर्ग और सादगी को अपनाती थी। गौतम परिव्राजक होकर साधनारत रहे—उस काल में पत्नी यशोधरा भी काषायधारिणी रही, शृंगार नहीं करती उसने शय्या-शयन भी त्याग दिया था और आहार-ग्रहण भी सीमित कर दिया था। यशोधरा इस वियोग काल में दिन में एक समय ही भोजन करती थी। यह आचरण उस समय के प्रचलित नारी-आचरण का ही एक भाग था।

सामान्यतः इस समस्त काल में दाम्पत्य जीवन सुखमय ही रहता था। पति के कारण पत्नी की सुखमयता में बाधा आने के प्रसंग लगभग नहीं के बराबर मिलते हैं। पत्नी के गृह-निष्कासन के विषय में पूर्व में भी चर्चा की गयी है, किन्तु ऐसा व्यवहार ऐसी ही पत्नियों को मिला करता था जिनकी असामाजिक

गतिविधियाँ रहतीं। अन्यथा पति और पत्नी दोनों ही अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन सजगता के साथ करते थे और एक-दूसरे के मान-सम्मान और सुख-सुविधा के लिए सचेष्ट रहा करते थे। सफल दाम्पत्य के रहस्यों में यह प्रवृत्ति भी प्रमुख स्थान रखती है।

पत्नी के सुख में पति की बाधा के प्रकरण तो नहीं मिलते, किन्तु सौतिया डाह या सपत्नी-ईर्ष्या के कारण एक पत्नी की कष्ट-कथाएँ अवश्य मिल जाती हैं। पत्नी अपने पति पर, उसके प्रेम पर एकाधिपत्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा रखती थी और सहपत्नी के रूप में कोई अन्य नारी इसमें अवरोध होकर दु:ख का कारण बन जाये—ऐसा अवश्य घटित होता रहा। अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए नारी चंचलामना ही नहीं क्रूर भी हो जाया करती थी, यहाँ तक कि वह अपनी सपत्नी के प्राण-हरण से भी नहीं चूकती और अपने मार्ग को पुन: निष्कंटक कर लिया करती थी। एकछत्र पत्नी अधिकार की स्थापना के लिए रेवती ने तो अपनी बारह सपत्नियों को विष देकर उनकी जीवन-लीला समाप्त कर दी थी। उपासकदशांग में इस प्रसंग की विस्तृत चर्चा की गयी है। इसके विपरीत ऐसे उदाहरण मिलते हैं—ये ही अपेक्षाकृत अधिक हैं—कि सपत्नियाँ परस्पर प्रेम और सौहार्द्रपूर्वक शान्ति के साथ जीवन-यापन करती थी। राजा श्रेणिक और श्रीकृष्ण की पत्नियाँ इसकी उदाहरण मानी जा सकती हैं। अन्यथा इस काल के साहित्य में ऐसे वृत्तान्त कम ही मिलते हैं कि कलिंग देश की राजरानी द्वारा अपनी सपत्नियों के हनन हेतु उन पर अग्निवर्षा कर दी गयी। ऐसे क्रूर कर्म से नारी की गरिमा आहत ही हुई। नारी का औदार्य और उसकी क्षमाशीलता, उपेक्षा भाव और स्नेह-सौहार्द्र, उसकी सौमन्यस्त ही उसके शाश्वत गुण माने गये हैं। उसकी कोमल हृदयता से ही उसकी महिमा प्रत्येक युग में रही है और आगमकालीन नारी भी इस सबकी अपवाद नहीं थी।

पत्नी : पति सम्बन्धी अन्य स्वजनों के सन्दर्भ में

कोई पत्नी पति कुल में आगंतुक रूप में प्रवेश अवश्य करती थी, किन्तु इस नवीन परिवार में वह अधिक काल तक आगंतुक बनी नहीं रह सकती थी। उसका सबके प्रति स्नेहिल हृदय शीघ्र ही उसे सबकी और सभी को उसके बना देता था। यही दो परिवारों की संस्कृति के मेल में वधू की भूमिका का साफल्य हुआ करता था। अन्य परिवार में पली-बढ़ी कन्या, इस नये परिवार में वधू रूप में प्रवेश कर शीघ्र ही नीर-क्षीरवत् ऐसी एकाकार हो जाती थी कि वह पति-कुल की घनिष्ट सदस्या बनकर रह जाती थी। ये परिवार जन ही अब उसके स्वजन-परिजन हो

जाते थे। सास-ससुर ही उसके लिए माता-पिता की भाँति पूज्य होते थे। देवर-ननद उसके नये बन्धु भगिनी का स्थान ले लेते थे। सभी के साथ उसका स्नेह-सम्मान का सम्बन्ध रहा करता था। उत्तराध्ययन में एक स्थल पर कृष्ण की रानियों और अरिष्टनेमि का संवाद आता है। इससे देवर-भाभी के तत्कालीन सम्बन्धों का ज्ञान होता है। देवर-भाभी के पवित्र सम्बन्धों में एक अद्‌भुत निर्मलता थी। ये परस्पर हास्य-विनोद करते थे। भाभी अपने विवाह-विमुख देवर को परिणयार्थ प्रोत्साहित करने की भूमिका भी निभाती थी। अनुज-वधु ज्येष्ठ द्वारा भगिनीवत् मानी जाती थी। ननद और भाभी के मध्य भी बड़े मधुर सम्बन्ध रहते थे। बड़ी ननद का वह सम्मान करती और छोटी ननद को स्नेह से रखती। छोटी ननद भी अपनी भाभी को मातृवत् सम्मान देती और उसके निर्देशों का अनुसरण करती थी।

पत्नीगत सम्पदा

पति की सम्पत्ति पर पत्नी का उत्तराधिकार चाहे पुत्र का ही रहता था, किन्तु पति के जीवनकाल में उसके धन और सम्पदा के उपयोग, उसकी व्यवस्था आदि में पत्नी का योगदान भी कम नहीं होता था। पति की सम्पत्ति की वह सुरक्षा करती थी और भार्यावत कर्त्तव्य-निर्वाह में वह उसका स्वेच्छापूर्वक उपयोग भी करती थी। इस उपयोग में वह सर्वथा स्वाधीन रहती थी और सभी के लिए आवश्यक सुख-सुविधा सुलभ कराती थी। विमाता के लिए विपुत्र भी स्नेह का पात्र रहता था, क्योंकि वही भविष्य में इस परिवार का गृहपति होने वाला होता था और उसकी पत्नी गृहस्वामिनी। उस परिस्थिति में अपने लिए सुविधा जुटाने के प्रयोजन से भी विमाता का स्नेहिल व्यवहार आवश्यक हो जाता था।

पितृकुल से दहेज या स्त्रीधन रूप में प्राप्त सम्पत्ति पर पति या पुत्र का अधिकार नहीं रहता था। एकमेव रूप में पत्नी ही उसकी स्वामिनी और अधिकारिणी हुआ करती थी। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् भी पति का अधिकार उस धन पर तभी होता था जब उसकी कोई सपत्नी नहीं होती। अन्यथा मृत पत्नी का धन सपत्नी को प्राप्त हो जाता था। रेवती के विषय में कहा जाता है कि उसने अपनी सपत्नियों का वध करके उनके धन पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

पत्नी और अनाचार

चरित्रगत दौर्बल्य और आदर्शानुसरण की प्रेरणा का अभाव नारी को दुराचार और अनाचार के मार्ग पर आरूढ़ करता है। पति द्वारा उपेक्षा और पत्नी-विमुखता का व्यवहार भी इस दिशा में नारी को अग्रसर करता है। इससे नारी का निश्चय

पतन हो जाता है और उसके पतिता होने में स्वयं उसका दायित्व किसी भी दशा में कम नहीं माना जा सकता। आलोच्यकाल में भी ऐसा होता रहा था। उत्तराध्ययन के एक वृत्तान्त के अनुसार विश्वभूति दीक्षार्थी हो गया था और विरक्तावेश में उसकी पत्नी की ओर उसका आकर्षण समाप्तप्राय हो गया। परिणाम यह हुआ कि उसकी पत्नी अनुरक्त हो गयी अपने देवर-कनक के साथ। कनक की पत्नी ने इस दुराचार से अपने ज्येष्ठ विश्वभूति को अवगत किया, जिसने राजा के समक्ष वाद प्रस्तुत किया। देवर को दण्डित किया गया और उस पर मल-मूत्र-फिंकवाकर उसे अपमानित किया गया। कनक पूर्ववत् आचरण करने लगा। विश्वभूति उसके पास क्षमा-याचना करने भी गया, किन्तु कनक ने अपने अग्रज विश्वभूति का वध कर दिया। पत्नी का दुराचरण इस प्रकार पति-मरण के रूप में परिणामित हुआ। विषय-भोग-विमुख हुए पति का वध स्वयं पत्नियाँ भी कर देती थीं—श्री राजप्रश्नीयसूत्र में इसका उल्लेख उपलब्ध है। ऐसे पति की पत्नी द्वारा अन्य भाँति के कुमार्गानुसरण की दुष्प्रवृत्ति अपनाने के उदाहरण भी मिलते हैं। यथा—रेवती ने मद्यपान आरम्भ कर दिया।

चूलनी का ऐसा प्रसंग मिलता है जिसमें आदर्शानुकरण की प्रवृत्ति का अभाव पतन का कारण बना। पति-मरण के अनन्तर वह पति के ही एक मित्र से अनुचित सम्बन्ध स्थापित करती है। ऐसी पतिताएँ एक के पश्चात् एक अपराध करने से भी नहीं चूकतीं। चूलनी के पुत्र को जब इस अवैध सम्बन्ध की जानकारी मिली तो चूलनी ने पुत्र-वध का षड्यंत्र रचा। यह बात अन्य है कि अपने चातुर्य से पुत्र ने अपनी रक्षा कर ली। सत्य ही नारी-पतन के ऐसे कतिपय उद्धरण आगमकाल में मिलते हैं, किन्तु तत्कालीन समाज में नारी के अध्ययन के क्रम में इनका सामान्यीकरण कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना उचित न होगा। इन्हें अपवाद रूप में स्वीकार करना होगा। ग्रन्थों में इनके उल्लेख के पीछे यह प्रयोजन भी रहा होगा कि ऐसी दुष्प्रवृत्तियों को अनादर्श के रूप में प्रस्तुत कर आदर्शों को पुष्ट किया जा सके। अंधकार का ज्ञान कराकर प्रकाश की महत्ता का प्रतिपादन सम्पूर्ण रूप में सम्भव हो जाता है। यह प्रवृत्ति अनीति है, अननुकरणीय है—इसका प्रतिपादन भी एक निमित्त रहा होगा। ये उल्लेख यथार्थ तो थे, किन्तु सामान्य नहीं थे। तत्कालीन सामान्य नारी-चरित्र का अंग इसे नहीं कहा जा सकता। जैन और बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे प्रसंग अत्यल्प ही आये हैं, जिन्हें नगण्य माना जा सकता है। अन्य प्रसंग इसके पुष्टिकर्त्ता हैं कि नारी का चरित्र इस युग में अति उज्ज्वल और उच्चकोटीय रहा। नारी पतिपरायणा, शीलधारिणी, सतीत्वरक्षिका और पवित्राचरण की प्रतीक थी। ●●

आगमकालीन माता

जैनदर्शन सृष्टि-निर्माण का श्रेय किसी को भी नहीं देता और यह प्रतिपादित करता है कि यह सृष्टि स्व-निर्मित है। यह मान्यता होते हुए भी यह स्वीकार्य तथ्य है कि माता इस सृष्टि के अस्तित्व को उत्तरोत्तर अग्रसर करने के क्रम में महती भूमिका रखती है। नारी को प्राप्त मातृत्व का वरदान उसे इस भूमिका-निर्वाह की क्षमता प्रदान करता है। माता का स्थान समस्त गुरुजनों में अग्रणी रहा है। प्राचीनकाल से ही आचार्य और पिता से पूर्व वन्दनीय स्थान माता का रहा है—"**मातृ देवोभव**''''**पितृ देवोभव**''''।" आगमों में माता-सम्बन्धी जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे यह मत स्थापित होता है कि तत्कालीन परिवार एवं समाज में माता को महिमामय और सर्वोच्च आदरपूर्ण स्थान प्राप्त रहा। उसे श्रद्धा का पात्र माना गया है।

माता इस कारण इस गौरव की पात्र होती है कि वह सन्तति की जननी है; अत: स्वाभाविक है कि माता और सन्तति परस्पर सापेक्षता रखते हैं। अपने पुत्र-पुत्री के प्रति अगाध स्नेह उसके मानस में हिलोरें लेता है। माता ही अपने पुत्र-पुत्री के व्यक्तित्व-निर्माण, चरित्र गठन और उज्ज्वल भविष्य एवं हित की चिन्ता भी करती है और इस निमित्त सचेष्ट भी रहती है। इसे वह अपना प्राथमिक दायित्व भी मानती है। इस रूप में भी वह अपने अपरिमित वात्सल्य और ममता का ही परिचय देती है। सम्भव है कि विरक्ति के तीव्र आवेग में पिता अपनी सन्तति का मोह त्यागकर दीक्षा ग्रहण कर ले, किन्तु माता पर जब तक पुत्र-पुत्री की देख-रेख और पालन-पोषण का दायित्व रहता है—तब तक वह दीक्षा भी ग्रहण नहीं करती। सन्तान के वयस्क और स्वालम्बी हो जाने तक वह प्रतीक्षारत रहती है। अभिभावक रूप में एकाकी रह जाने पर माता और भी गम्भीरतापूर्वक अपनी भूमिका निभाती है। उसके कर्त्तव्य-क्षेत्र में पिता के दायित्वों का भी अतिरिक्त रूप में योग हो जाता है। प्रथम आचार्य के रूप में माता ही मान्य रही है। कहा जाता है कि शिशु अपनी आयु के प्रथम पाँच वर्षों में जो कुछ मानसिक तत्त्व ग्रहण करता है, वे ही उसके आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व की आधारशिला बनता है। ये तत्त्व शिशु को माता की गोद से प्राप्त होते हैं। उस वातावरण से शिशु का

मानस निर्मित होता है जो जननी द्वारा निर्मित होता है। यही संस्कार-ग्रहण की प्रक्रिया है। प्रकृति से ही यह क्रम भी बना हुआ है कि माता से शिशु को मेधा का तत्त्व गर्भ में ही प्राप्त हो जाता है। भगवती सूत्र में वर्णित है कि माता के गर्भ में जब शिशु के विकास का क्रम चल रहा होता है, तभी उसे छह अंगों की प्राप्ति होती है। ये हैं—रुधिर, मस्तिष्क, अस्थि, मज्जा, केश-श्मश्रु, नखादि। ध्यातव्य है कि रुधिर, मस्तिष्क आदि उसे माता से प्राप्त होते हैं और शेष अंग पिता से। जैसी मेधा-बुद्धि माता की होगी—वैसी ही जन्मजात मेधा होगी शिशु की। वय पाकर वह उसमें बाहरी वातावरण के अनुसार विकास करता है—यह अन्य बात है। मूल स्वरूप में बालक की बुद्धि मातृ-मेधावत् होती है। वयस्क होकर पुत्र जो कुछ बनता है, उसकी नींव मातृ-प्रदत्त मेधा ही होती है। माता के समान अन्य कोई पुत्र की सुरक्षा नहीं कर सकता। माता के समान अन्य कोई हित-चिन्तक और कष्ट-निवारक भी नहीं। भगवती सूत्र के एक आख्यान में वर्णित है कि राजा कनकरथ पुत्र के जन्म लेते ही उसे समाप्त कर देता था। रानी ने अपने चातुर्य और बुद्धि-कौशल से ही शिशु की प्राण-रक्षा कर ली।

आलोच्यकाल में माता के लिए सर्वाधिक महत्ता यदि किसी की रहती थी तो वह अपनी सन्तति की ही थी। यह मातृत्व ही तो था जो नारी को उसके जीवन की सम्पूर्णता प्रदान कर देता था। इसके अभाव में नारी स्वयं अपूर्ण और उसका जीवन इस रिक्तता के कारण नीरस रहता था। सन्तान-प्राप्ति के लिए वह नाना प्रकार की मनौतियाँ मनाती थी, जादू-टोने का आश्रय लेने से भी नहीं हिचकती थी। माँ होकर तो वह धन्य भाग्य मानती थी। उसका वात्सल्ययुक्त हृदय अपने शिशु की किलकारियाँ सुनने, चित्ताकर्षक बाल सुलभ लीलाओं का आनन्द लेने को लालायित रहती थी। पुत्र वयस्क होकर कितना ही आयु प्राप्त क्यों न हो जाये, ममतामयी माता के लिए वह वात्सल्य का पात्र उसी प्रकार रहता, जैसा वह शैशव में रहा था। पुत्र का कष्ट माता को पीड़ित करता था। पुत्र के सुख में उसकी जी की कली खिली रहती। स्वयं कष्ट झेलकर भी माँ पुत्र के लिए सुख-सुविधा के मार्ग में आयी बाधाओं का निराकरण कर लेती थी। पुत्र के लिए माँ से बढ़कर कोई ढाल नहीं थी। माँ पुत्र से विलग होने की कल्पना से भी काँप उठती थी। अनेक प्रसंग तत्कालीन साहित्य में ऐसे मिलते हैं जिनमें पुत्र के दीक्षा ग्रहण करने के विचार मात्र से माताएँ हतचेत हो जाया करतीं। वे पुत्र को दीक्षा-मार्ग से च्युत करने का शक्यभर प्रयास भी करतीं। बौद्ध साहित्य—थेरी गाथा में उल्लेख मिलता है कि माता अपने प्राणों की आहुति देकर भी पुत्र की रक्षा करना अपना पुनीत कर्त्तव्य मानती थी।

उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग आदि आगम ग्रन्थों में आदर्श पुत्र की कर्त्तव्य-रेखा का अंकन हुआ है। माता के प्रति कर्त्तव्य का बोध तद्युगीन पुत्रों में पर्याप्तत: था। पुत्र प्राय: माता-पिता के आज्ञानुवर्ती रहा करते थे। माता के प्रति तो वे श्रद्धा-भक्ति की भावना से आप्लावित रहा करते थे। माता की अभिलाषा-पूर्ति पुत्र के लिए चरम महत्ता का कार्य होता था। जो प्रारब्धवशात् भी यह कर पाता अथवा इसमें असाफल्य प्राप्त करता था, उसे अतिशय दु:ख होता, वह स्वयं को हतभाग्य मानता था।

उत्तराध्ययन में महापद्मकुमार की भी चर्चा आयी है। जब महापद्मकुमार अपनी माता को यानारूढ़ कर प्रभु-वन्दनार्थ न ले जा सका तो अत्यन्त दु:खी होकर उसने माना कि वह सुपुत्र नहीं है। वह अपनी जननी की अभिलाषा पूर्ण नहीं कर सका है। कृष्ण ने अपनी माता देवकी की इच्छा पूर्ण की। पुष्पनन्दीकुमार के विषय में ऐसी मान्यता है कि वह उच्च कोटि का मातृभक्त था और जननी की अपरिमित सेवा करता था। निरयावलिया में वर्णित ऐतिहासिक तथ्य है कि कूणिक अपने पिता श्रेणिक को बन्दी बनाकर जब मातृ-चरणों में वन्दन करने आया तो माता को उसने उदास देखा। कारण ज्ञात होने पर माता की प्रसन्नता हेतु कूणिक ने माता के अभिप्रेत को कार्य रूप देना अनिवार्य समझा और पिता को बन्धन-मुक्त कर दिया। पिता के लिए कष्टदायी हो सकने वाला पुत्र भी माता के प्रसाद के लिए सदा चिन्तित रहा करता था।

बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित है कि जहाँ माता का समुचित सम्मान हो—वही उत्तम कुल है। स्थल-स्थल पर मातृभक्ति के निर्देश भी दिये गये हैं। जैन ग्रन्थों की स्थिति भी लगभग इसी प्रकार की है, किन्तु इसकी क्रियान्विति के उद्धरण स्वल्प ही हैं। गृहस्थ जीवनकाल में ही मातृभक्ति के प्रसंग दृष्टिगत होते हैं। माता वैधव्य के कष्टकारी दिन बिता रही होती है और उसकी सेवा का पुण्य कर्म त्यागकर पुत्र दीक्षा ग्रहण कर लेता है—ऐसे अनेक प्रसंग मिल जाते हैं। यह माता की उपेक्षा है, मात्राज्ञा की अवेहलना है। ज्ञाताधर्म में एक आख्यान वर्णित है कि एक विधवा का पुत्र (सार्थवाह-पुत्र) दीक्षाभिलाषी हो जाता है। राजा ने भी उसे दीक्षा से विरत करने का प्रयास किया, किन्तु पुत्र ने माता की कामना की उपेक्षा की और दीक्षा ग्रहण कर ली।

विमाता (सौतेली माँ) के प्रति भी पुत्र का हृदय सद्भावयुक्त रहा करता था। विमाता से भी पुत्र द्वारा दुर्व्यवहार का कोई उदाहरण नहीं मिलता। विमाता का व्यवहार (पुत्र के प्रति) ममतापूर्ण रहता था अथवा निर्दयता का? इस प्रश्न का

उत्तर निश्चित रूप में किसी एक पक्ष में दिया जाना कठिन है। क्या पुत्र अपनी जननी के समान ही विमाता के साथ सम्मानपूर्ण और विनयशीलता का व्यवहार रखता था? यदि प्रश्न ऐसा हो तो शत-प्रतिशत रूप में इसका उत्तर 'हाँ' में देने में कोई संकोच नहीं हो सकता। राजपुत्र विश्वभूति अन्त:पुर के उद्यान में क्रीड़ारत रहा करता था। उसकी विमाता रानी को ईर्ष्या हुई। उसने राजा से शिकायत के स्वर में कहा कि उद्यान में मेरे पुत्र विश्वनन्दी को क्रीड़ा का अवसर नहीं मिलता, वहाँ तो सदा विश्वभूति ही खेलता रहता है। पिता ने किसी बहाने से विश्वभूति को अपने पास बुला लिया और विश्वनन्दी वहाँ क्रीड़ा करने लगा। उस उदाहरण से विमाता के मनोविज्ञान की एक झलक मिल जाती है। किन्तु यह निष्कर्ष भ्रान्त होगा कि उस काल की समस्त विमाताएँ इस प्रकार का निर्मम व्यवहार ही करती थीं। इसी युग में महाप्रजापति गौतमी का दृष्टान्त भी उपलब्ध होता है। वह भी थी तो विमाता ही—राजकुमार गौतम की, किन्तु उसने ऐसा स्नेह दिया अपने इस पुत्र को कि पुत्र माता-विमाता का भेद ही नहीं कर पाया। अन्य जनों के लिए भी प्रथम द्रष्टया यह अनुमान लगाना भी कठिन हो जाता है कि महाप्रजापति गौतमी कुमार गौतम की जननी नहीं; विमाता थी। ऐसा ममतापूर्ण सद्व्यवहार उस विमाता का था। तात्पर्य यह कि पुत्र के प्रति विमाता का व्यवहार स्नेहपूर्ण भी था, तो निष्ठुरतापूर्ण भी। किन्तु पुत्र अपनी विमाता के प्रति भी समर्पित रहता था, उसका सम्मान करता था। ज्ञाताधर्म में ही उल्लेख मिलता है कि पुत्र अभयकुमार ने अपनी विमाता धारिणी की इच्छापूर्ति के लिए देवताओं से प्रार्थनाएँ कीं। इस काल के साहित्य में विमाता से सुन्दर और सौमनस्यपूर्ण व्यवहार रखने की प्रेरणा पुत्र को दी गयी है।

आगमकाल में माता को अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था—यह ध्रुव और अकाट्य तथ्य है—यथार्थ है। वह पुत्र के लिए ही नहीं, सारे जगत् के लिए वन्दनीय थी। कल्पसूत्र के वर्णन अनुसार देवता व स्वयं इन्द्र भी तीर्थंकर माता को नमन करते थे। इस युग में पिता की अपेक्षा भी माता प्रथम वन्दनीय और अधिक सम्माननीय रही। माता की महिमा अत्युच्च रही।

❑ उपमाता-धाय

धाय को उपमाता का स्थान दिया जाना सर्वथा उपयुक्त है। धाय पुत्र को जन्म ही तो नहीं देती; शेष पालन-पोषण का कार्य तो वह माता के समान ही करती है। अनेक प्रसंगों में तो वह मातृवत् दुग्धपान या स्तनपान भी कराती है। क्योंकि शिशु में आने वाले संस्कार सान्निध्य-जन्य होते हैं। अत: धाय द्वारा

पालन-पोषण की स्थिति में शिशु उससे भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में कुछ सीखता ही है। सुसंस्कार-स्थापन की दृष्टि से सच्चरित्र और आदर्शयुक्त महिला को ही धाय का दायित्व सौंपा जाता था। आगमकाल में भी यह परम्परा रही समृद्ध उच्च कुलों में धाय रखी जाती थी। अनुत्तरौपपातिक व अन्तकृद्दशा आदि आगम इसके प्रबल साक्ष्य है कि सुन्दर और सुशील स्त्रियों को धाय रूप में नियुक्त किया जाता था। ये धायें शिशु-पालन के विषय-विशेष की पारंगत होती थीं। कोई क्रीड़ा-विशेषज्ञ होती, तो कोई शिशु की शृंगार-सज्जा में कुशल। इस प्रकार धायों के पाँच प्रकार हुआ करते थे। **क्षीरधात्री**—दुग्धपान कराती तो, **मज्जनधात्री**—स्नानादिक कार्यों में कुशल होती थी। **क्रीड़नधात्री** शिशु को भाँति-भाँति की क्रीड़ाओं में रत रखती तो **अंकधात्री** उसे गोदी में रखती और **मण्डनधात्री** शिशु को वस्त्रालंकारों से सज्जित और शृंगारित रखती। सम्पन्न परिवारों में ये सभी धात्रियाँ अपने-अपने कामों के लिए एक साथ रखी जाती थीं। धाय का विशेष दर्जा होता था, जो अन्य परिचारिकाओं की अपेक्षा उच्च रहा करता था। उसे 'धाय माँ' का सम्बोधन प्राप्त रहता था। शिशु के वय-प्राप्त हो जाने पर भी धाय माँ का सान्निध्य उसे वयस्कावस्था में भी प्राप्त रहता था। वह कुमार की सेविका रूप में, मार्गदर्शिका रूप में संग-संग रहा करती थी। दुग्धपान कराने वाली धात्री तो मातृवत् सम्मान्य होती थी। दीक्षा के समय पुत्र के साथ सम्मानपूर्वक माता को भी पालकी में बैठाया जाता था, वैसे ही सम्मान के साथ धाय माँ को भी स्थान दिया जाता था। ध्यातव्य है कि आगमकालीन समाज में नारी का जो सम्माननीय स्थान रहा और माता के प्रति जो आदर भाव रहा उसकी छाया रूप में ही धात्री को सम्मान प्राप्त हुआ।

समाज में दासी-गणिका का स्थान

समाज में नारी के स्थान का आकलन तभी पूर्ण हो सकता है जब उस काल की उन नारी-वर्गों का भी विवेचन हो जाये जो कतिपय दृष्टियों से हीन, निम्न, अपेक्षणीय और अनादृत स्थितियों में रहे हैं। आगमकाल में भी नारी की ऐसी अवस्थाएँ रही हैं। दासी प्रथा उस काल की एक ऐसी प्रथा थी जिसने एक प्रकार से नारी को सजीव सम्पदा का स्वरूप दे दिया था, न केवल पुरुषों के लिए, अपितु स्वयं स्त्रियों के लिए भी। स्त्री ही स्त्री के मान-मर्दन, महत्तानाशन की हेतुक इस प्रथा में हो जाती है। इसी प्रकार नारी के शील को तिलांजलि देती थी गणिका या वेश्या। नगर-वधू कहलाने वाली ये नारियाँ स्त्रियाँ अवश्य थीं, किन्तु महिला कहलाने का उचित अधिकार नहीं रखतीं। एक पुरुष के प्रति समर्पित ये

नहीं होती थीं। न विवाह और न ही पति, न पति की अन्यन्यता न पतिव्रता रहने का संकल्प। अनन्त धन और अपार रूप वैभव भी उसे स्त्रीत्व की श्री से विभूषित नहीं कर पाता था। न कोई आदर्श, न कोई नैतिकता, तथापि उसकी समाज में एक विशिष्ट महत्ता। एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति उसके माध्यम से होती थी।

❑ दासी का सामाजिक स्थान

तत्कालीन समाज में दासी की दशा बड़ी दयनीय थी। एक सजीव, चेतना-सम्पन्न प्राणी किसी अन्य की भव्यता का प्रतीक बनकर रह जाये, अपने सारे अस्तित्व का मात्र यही प्रयोजन जिसका रह जाये, उसकी महत्ता शेष रहे भी कैसे। उच्च कुलों, समृद्ध जनों में दासियाँ रखने की प्रथा थी। जिस कुल में जितनी अधिक संख्या दासियों की, वह कुल उतना ही अधिक सम्पन्न और भव्य। परिवार के सभी सदस्यों की सभी प्रकार की सेवा-दासियों का कर्त्तव्य रहता था। सदस्यों में पुरुष भी और स्त्रियाँ भी, बालक भी और बालिकाएँ भी।

जैसे परिवार की सम्पत्ति, पशु आदि का क्रय-विक्रय होता था, उस काल में दासियों का भी यही हाल था। उन्हें क्रय किया जाता था। प्रकट है कि उनका विक्रय भी होता था। इससे बढ़कर भला किसी नारी के आदर और मर्यादा की क्या अवमानना हो सकती थी। स्वामी का अपनी दासियों पर पूर्ण स्वत्व होता था और उसका अपरिमित अधिकार दासियों पर होता था। अपने इस अधिकार का हस्तान्तरण भी कोई स्वामी किसी अन्य के पक्ष में कर सकता था और ऐसा किया भी जाता था। दासियों का क्रय-विक्रय तो होता ही था, उन्हें भेंट उपहार में भी दे दिया जाता था। नवीन स्वामी पुनः ऐसा ही और किसी अन्य के पक्ष में कर सकता था। पुत्री के विवाह में पिता की ओर से अनेक सामग्रियाँ दहेज रूप में दी ही जाती थीं। दहेज में दासियाँ भी भेजी जाती थीं। एक स्थल पर विवरण मिलता है कि धनंजय ने विशाखा को १,५०० दासियाँ दी थीं। बौद्ध साहित्य में दासियों का भी वर्गीकरण मिलता है—

(क) आयाम दासी, (ख) क्रीत दासी, (ग) स्वतः दासी, (घ) भय दासी।[१] इस प्रकार का कोई वर्गीकरण तो जैन ग्रन्थों में नहीं होता, किन्तु यह

१. आभायवास पि भवन्ति हेके,
धनेन कीता पि भवन्ति दासा।
समम्पि हेके उपयन्ति दासा,
भया पणुन्ना पि भवन्ति दासा॥ —जातक

उल्लेख अवश्य मिलता है कि राजघरानों और उच्च कुलों में पुत्र के लालन—पालन के लिए १८ देशों की दासियाँ नियुक्त की जाती थीं। ये दासियाँ अपने देश की वेश-भूषा में रहतीं और उन्हें अपनी-अपनी भाषा का अच्छा ज्ञान हुआ करता था। अन्यान्य विषयों की भी वे ज्ञाता होती थीं। नृत्य-संगीतादि ललित कलाओं में वे निष्णात होती थीं। ज्ञाताधर्मकथा में इसका विस्तृत विवरण भी मिलता है। स्वामी अपनी कन्या के दहेज में इन विदेशी दासियों को भी दे दिया करता था। दासियों पर सर्वाधिकार स्वामी के पास सुरक्षित रहता था और वह इसे आपत्तिजनक मानता था कि कोई अन्य पुरुष उसकी दासी के साथ अनुरागपूर्ण सम्बन्ध रखे। अतिथियों के साथ दासियों का प्रणय हो जाता था और वे ऐसे प्रेमियों से वस्त्रालंकार उपहार में प्राप्त करती थी। दासियाँ रानियों और स्वामिनियों की परिचर्या भी करती थीं। बौद्ध साहित्य प्रमाण है कि कतिपय दासियों को उनके स्वामियों ने पत्नी रूप में स्वीकार किया। ऐसी पत्नियों को सम्पन्न कुल की वधू का मान-सम्मान नहीं मिल पाता है। उसका दासत्व यथावत् बना रहता था। उसे उपपत्नी के अनादरपूर्ण स्थान के अतिरिक्त और कोई उपलब्धि नहीं हो पाती थी।

जैन साहित्य में एक कथा आती है जिससे यह ज्ञात होता है कि दासी का अपहरण भी हुआ करता था। राजा उदयन की कुब्जा नामक एक दासी ने एक विद्याधर की सेवा की। विद्याधर ने प्रसन्न होकर उसे सौन्दर्यवर्धिनी औषधि प्रदान की। इसके सेवन से दासी का रूप दमक उठा। राजा चण्डप्रद्योत ने इस रूपाधिक्य का समाचार पाया तो वह पूर्व राग से ग्रस्त हो गया और उसने प्रणय सन्देश भेजा। प्रत्युत्तर में दासी ने कहा कि राजा स्वयं मुझे लेने आयें तो ही मैं आ सकूँगी। आसक्त चण्डप्रद्योत छद्मवेश में पहुँचा और दासी का अपहरण कर लाया। दासी के स्वामी उदयन ने चण्डप्रद्योत से आग्रह किया कि वह दासी को लौटा दे पर चण्ड ने इसे न माना। दोनों में युद्ध हुआ। चण्ड के पराजित होने पर उसके मस्तक पर उदयन ने—'दासी-पति' अंकित करा दिया। इस प्रकार उदयन ने चण्डप्रद्योत का अपमान किया। इस कथा से यह भी ज्ञात होता है कि दासी से विवाह करना निन्दनीय भी माना जाता था, इससे प्रतिष्ठा-हानि होती थी।

दासी को कोई धार्मिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। बौद्ध और जैन दोनों ही परम्पराओं में दासी दीक्षा-योग्य नहीं मानी जाती थी। इससे आकलन होता है। जीवनभर उसे इस दासत्व को ढोना पड़ता था, किन्तु यदि कुल में पुत्र-रत्न की प्राप्ति होती तो जो दासी यह समाचार स्वामी को देती थी उसे दासत्व से मुक्ति

मिल जाती थी। उसे विपुल धनराशि का पुरस्कार भी प्रदान किया जाता था। राजा या स्वामी चाँदी की झारी से उसका मस्तक घुलवाते और इस प्रकार उसका सम्मान करते थे। ऐसा पुत्र-जन्म पर ही होता था, पुत्री-जन्म पर नहीं। इससे नारी वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा पर पुनः प्रश्न-चिह्न अंकित हो जाता है।

गणिका का सामाजिक स्थान

वेश्यावृत्ति किसी भी समाज के लिए शुभ नहीं कही जा सकती, किन्तु यह एक 'आवश्यक अनर्थ' के रूप में प्रतियुग में बनी भी रही है। आगमकालीन समाज में भी यह वर्ग अस्तित्व में था। इस वृत्ति से जुड़ी नारियाँ प्रवृत्तिगत समता तो रखती हैं, किन्तु गणिका और वेश्या—इन दो उपभेदों में ये उस काल में वर्गीकृत मानी जाती थीं। सामान्यतः ये दोनों शब्द परस्पर पर्यायवाचीवत् प्रतीत होते हैं, किन्तु यथार्थ में इनके मध्य एक सूक्ष्म-सा अन्तर है अवश्य। गण्यमान्य जनों की भोग्या नारी 'गणिका' कहलाती थी, जबकि 'वेश्या' का क्षेत्र सामान्य जनों का वर्ग था। बौद्ध साहित्य में यह अन्तर स्पष्टतः उभरकर आता है। जैन साहित्य में गणिका व वेश्या की स्थिति समान ही दीखती है।

विपाक सूत्र में कामध्वजा नामक वेश्या के विषय में विवेचन मिलता है। यह वेश्या बहत्तर कलाओं की ज्ञाता, चौंसठ गुणों से युक्त, उन्तीस विशेषणों से संयुक्त, इकत्तीस प्रकार के रति-गुणों की ज्ञाता, पुरुषाकर्षक बत्तीस उपचारों में पारंगत थी और शृंगार रस की चरम अभिव्यक्ति उसमें थी। गीत, रति एवं गंधर्व नृत्य में यह चतुर्दिक ख्याति की स्वामिनी थी। विशाल गणिका-समूह का वह नेतृत्व करती थी। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि आलोच्य काल में गणिकाएँ असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न हुआ करती थीं। ललितकलाओं का क्षेत्र तो उनके आधिपत्य में था। इसी प्रकार गणिका देवदत्ता के विषय में ज्ञात होता है कि वह अपार वैभव की स्वामिनी थी और कोई भी उसका तिरस्कार करने की शक्ति नहीं रखता था। वह चौंसठ कलाओं और गणिका के चौंसठ गुणों से सम्पन्न थी। देवदत्ता कामशास्त्र के पच्चीस विशेषणों की ज्ञाता भी थी और इक्कीस प्रकार के रति गुणों से समन्वित थी। १८ देशों की भाषाओं की ज्ञाता थी। वह राजकीय सम्मान से शोभित थी—राजा ने इसे छत्र-चामर प्रदान किये थे। देवदत्ता का भी एक सहस्र गणिकाओं पर आधिपत्य था। इससे इस तथ्य का प्रतिपादन हो जाता है कि गणिकाओं-वेश्याओं को उस युग में हीन दृष्टि से भले ही देखा जाता रहा हो, किन्तु वे अपार वैभव और क्षमता रखती थीं और सम्मान की पात्र भी मानी जाती थीं। विपाक सूत्र में गणिका के विशिष्ट व्यक्ति का चित्रण भी मिलता है।

बौद्ध साहित्य में यह उल्लेख भी मिलता है कि ऐसी सुन्दरियों को गणिका बनाया जाता था जिनके साथ विवाह के इच्छुक अनेकानेक राजकुमार हुआ करते थे। मातृ-पितृहीना कन्याएँ भी इस वृत्ति को अपनाने के लिए विवश हो जाती थीं। ऐसी भी मान्यता है कि जैनयुगीन गणिकाएँ बौद्धयुगीन गणिकाओं की अपेक्षा कहीं अधिक योग्य और कुशल थीं।

राज्य की श्रेष्ठता और राजा की उच्चता का मापदण्ड यह भी रहता था कि किसके पास अधिक गणिकाएँ हैं। गणिकाओं की उपस्थिति और उनके कला-प्रदर्शनों से राजकीय समारोह भव्य हो उठते थे। गणिका के साथ रथारूढ़ होकर नगर-भ्रमण करना राजाओं के लिए भी सम्मानसूचक माना जाता था। गणिका-पुत्र भी हीन नहीं माने जाते थे। उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने में किसी बाधा का सामना भी नहीं करना पड़ता है। जीवक एक प्रसिद्ध राजवैद्य था जो सालवाती गणिका का पुत्र था। आर्थिक दृष्टि से भी वेश्याओं की स्थिति उत्तम थी। इनके अपने दास-दासी, परिचारिकाएँ, सज्जित आवास होते थे। गणिकाएँ बौद्ध भिक्षुणी संघ में प्रवेश कर सकती थीं। स्वयं बुद्ध ने भी गणिका आम्रपाली का आतिथ्य स्वीकार किया था—विपाक इसका साक्षी है।

धर्म ग्रन्थों में वेश्यागमन को पापकर्म माना गया है। यह सामाजिक रूप से भी निन्दनीय कर्म माना जाता था। वेश्याएँ धनलोलुप होती थीं। इसी लोभ में ये अधिकाधिक पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करती थीं। तदर्थ वे तंत्र-मंत्र आदि का आश्रय भी लेती थीं और सम्पन्न पुरुषों को अपने वशीभूत भी रखती थीं। इससे आभास होता है कि गणिकाओं की अपेक्षा वेश्याएँ आर्थिक रूप से दुर्बल थीं। इन दोषों के कारण वे युगीन बुराई भी थीं और कलाओं का पोषण करने वाली के रूप में हितकारी भी थीं। जो भी हों और जैसी भी हों युग-युग से गणिका-वेश्याएँ समाज के लिए अपना सार्थक अस्तित्व बनाये रही हैं और आगमयुगीन समाज भी इसका अपवाद नहीं रहा।

पर्दा और सती-प्रथा

आगम साहित्य में ऐसे प्रसंग मिलते हैं कि स्वप्न-फल सुनने के लिए राजा की रानियाँ यवनिका की ओट में बैठती थीं या महिलाओं की पालकियाँ वस्त्रावृत रहती थीं आदि-आदि। इन उल्लेखों से यह आभास होना बहुत स्वाभाविक है कि आगमकाल में पर्दा-प्रथा का प्रचलन रहा होगा। ऐसा था भी, किन्तु यह प्रथा सार्वजनीन नहीं थी, समाज में इसका सामान्य प्रचलन नहीं रहा। कुलीन और उच्चवंशीय महिलाएँ ही इसका आश्रय अपनी महती स्थिति को प्रतिपादित करने

के लिए किया करती थीं। यह प्रथा वैभव-पूर्णता और उच्च गरिमा की प्रतीक मात्र थी। पर्दा-प्रथा प्रतिबन्ध के रूप में तो इन कुलों और इन महिलाओं के लिए भी नहीं थी। ये महिलाएँ सदा-सर्वदा पर्दे में ही रहा करती हों—ऐसा न था। यह तो मात्र अतिरिक्त सम्मान की सूचक भर थी, अन्यथा सभा-समारोहों में ये अपने पतियों के संग उन्मुक्त रूप में सम्मिलित हुआ करती थीं। रानियाँ इसी प्रकार धर्मसभाओं में जाती थीं, प्रभु-वन्दन किया करती थीं। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि पर्दा-प्रथा जिस रूप में अभिशापवत् मानी जाती है, अपने उस रूप में और सर्व व्याप्त स्वरूप में इस युग में नहीं रही।

सती-प्रथा का अस्तित्व तो रंच मात्र भी इस काल में नहीं था। पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा अनुमरण या सहमरण का अपनाया जाना ही 'सती' का एक अभिप्रेत अर्थ है। इस अर्थ में इस प्रथा का प्रचलन न तो बौद्ध ग्रन्थों से और न ही जैन ग्रन्थों से समर्थित होता है। हाँ, 'प्रश्नव्याकरण' में अवश्य ही एक स्थल पर वर्णित मिलता है कि चालुक्य देश की नारियाँ पति की मृत्यु के पश्चात् आत्मदाह करती थीं। ध्यातव्य यह है कि ऐसे उल्लेख इस युग के विषय में अन्यत्र सुलभ नहीं होते। उक्त ग्रन्थ में भी मात्र यही स्थल ऐसा रहा है। अस्तु, यह स्वयं सिद्ध है कि सती-प्रथा के लिए आगमयुगीन समाज में कोई स्थान ही नहीं था। इस युग में तो पति का आश्रय समाप्त हो जाने पर नारी के लिए धर्म का आश्रय सुलभ था। वह उसे ग्रहण करना अधिक उत्तम मानती थी। वे दीक्षा ग्रहण कर लिया करती थीं।

पति के शरीरान्त पर जो स्त्रियाँ दीक्षा ग्रहण नहीं करतीं वे अपने पितृगृह को लौट जाया करती थीं। वे अपना शेष जीवन वहीं ससम्मान व्यतीत कर देती थीं। जो यह मार्ग भी नहीं अपनाना चाहती थीं, वे पति के संचित धन से जीवन-यापन कर लेती थीं। इस युग की नारियाँ स्वयं भी उद्योगशीला थीं। अनेक विद्यवाएँ पति के व्यवसाय का संचालन-भार स्वयं ग्रहण कर लेती थीं। ऐसी साहसी महिलाएँ भी थीं जिन्होंने पति के विदेश-व्यापार की बागडोर स्वयं सँभाली। राजा की मृत्यु पर यदि कुमार अल्पायु ही होता तो विधवा रानी मंत्री की सहायता से स्वयं राजकाज चलाती थी। सक्षम पुत्र अपनी विधवा माता का भरण-पोषण स्वयं करता था। यहाँ इस जिज्ञासा का उठना भी स्वाभाविक ही है कि क्या इस युग में विधवा-विवाह का प्रचलन नहीं था। इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बौद्ध परम्परा में भी और जैन परम्परा में भी विधवा-विवाह के लिए कोई प्रावधान नहीं रहा। तद्युगीन समस्त साहित्य में भी इस प्रकार का कोई प्रसंग वर्णित नहीं मिलता है।

आगमकालीन नारी की सामाजिक अवस्था के विषय में सार रूप में कहा जा सकता है कि यह पर्याप्तत: उन्नत थी। इस युग की नारी अंधविश्वासों और कुप्रथाओं से मुक्त थी और नारी समाज प्रगतिशील था। इस युग की नारी अपना पिछड़ापन बहुत पीछे छोड़ आयी थी और इसके लिए उन्नति के द्वार उन्मुक्त कर दिये गये थे। धार्मिक चेतना का पर्याप्तत: विकास इस युग की नारी में मिलता है और स्त्री-पुरुष समकक्षता का जो व्यवहार इस युग में प्रचलित हुआ—उसके परिणामस्वरूप नारी आत्म-विश्वास से भर उठी थी। यही आत्म-विश्वास उसको प्रगतिगामी बनाये हुए था। वह आत्मोत्थान और आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्ति के लिए सचेष्ट रहती थी। शील-सतीत्व आदि चारित्रिक दृष्टि से भी वह अग्रगामी रही और बुद्धि, ज्ञान, विद्या और कलाओं के क्षेत्र में भी उसकी सम्माननीय उपलब्धियाँ रहीं। भगवान महावीर द्वारा नारी को जो स्वातंत्र्य और समता का वरदान नये सिरे से प्राप्त हुआ उससे धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु उसके सारे जीवन में एक क्रान्ति आ गयी थी। नारी जागरूक, उद्यमशील और सक्रिय हो उठी—जीवन के विविध क्षेत्रों में और उसने अनेक स्थलों पर तो पुरुषों से भी अधिक उत्तम अपने-आपको सिद्ध कर दिखाया।

आगमयुगीन नारी : धार्मिक क्षेत्र

(क) श्रमणी रूप

धार्मिक अधिकारों की दृष्टि से आगमकाल नारी के प्रति विशेष उदार रहा। उल्लेखनीय है कि इस दृष्टि से बौद्धधर्म की अपेक्षा भी जैनधर्म अधिक उदार और मानवतावादी सिद्ध होता है। भगवान बुद्ध ने तो बाहरी दबाव के वशीभूत, अतिशय शंकालु मन के साथ, कई वर्षों के बाद नारी के संघ-प्रवेश की अनुमति दी थी। इसके विपरीत भगवान महावीर स्वामी ने अपने प्रथम समवसरण में ही चन्दना को दीक्षित कर नारी-पुरुष की समानता का प्रतिपादन कर दिया था। उसे भगवान ने श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी भी नियुक्त कर उन्होंने नारी की धर्म-क्षमता के प्रति अगाध विश्वास भी व्यक्त किया। बुद्ध की इस धारणा कि नारी-प्रवेश से संघ की आयु आधी रह जायेगी, की प्रतिक्रियास्वरूप महावीर को विश्वास था कि नारी धर्म के प्रसार और उसके सुदृढ़ीकरण में सार्थक सहयोग कर सकती है। प्रवर्तिनी रूप में चन्दना ने अपने कार्य-कलापों से सिद्ध भी कर दिखाया कि भगवान का यह विश्वास मिथ्या नहीं था। संघ-प्रवेश की दृष्टि से महावीर ने पुरुष और नारी में कोई अन्तर नहीं किया। यही नहीं नारी-नारी में भी उन्होंने कोई भेद नहीं किया। किसी भी कुल या जाति की, किसी भी वर्ग की, किसी भी आयु की स्त्री, चाहे वह सम्पन्न हो, अथवा विपन्न-दीक्षा ग्रहण कर सकती थी। 'व्यवहार सुत्त' के अनुसार यह मर्यादा सकारण और उचित प्रतीत होती है कि दीक्षार्थी नारी (कन्या) की आयु आठ वर्ष से कम न हो। उत्तराध्ययनसूत्र के इस प्रावधान ने कि स्त्रियाँ किसी भी दृष्टि से पुरुषों से हीन या निम्न नहीं हैं—तद्युगीन नारी के गौरव की अभिवृद्धि की है।

स्त्री-पुरुष की इस अभेद स्थिति से यह स्पष्ट हो गया कि नारी को पुरुषवत् ही सारी धर्म-क्षमताएँ प्राप्त हैं। धर्मशास्त्र की मर्मज्ञ होने के साथ ही साथ नारी सत्रह प्रकार के संयमों की पालनकर्ता, ब्रह्मचर्य की पोषक, तपश्चर्याग्र और रत्नत्रय की धारिका ठीक वैसी ही हो सकती है—जैसे पुरुषों के लिए सम्भावना की जाती है। उत्तराध्ययन की एक टीका में उचित ही उल्लेख किया गया है कि

पुरुषों की अपेक्षा यदि नारी को हीन समझा गया होता तो उनके लिए दीक्षा को निषिद्ध माना जाता। केवल गर्भिणी स्त्री और बालवत्सा स्त्रियों के लिए तात्कालिक रूप में दीक्षा वर्जित रही—जब तक कि अमुक स्त्री की यह अवस्था बनी रहती है। उत्तराध्ययन के एक उल्लेख के अनुसार ब्राह्मण वंशीय भृगु पुरोहित ने, उसकी पत्नी और दोनों पुत्रों ने, राजा इषुकार तथा रानी कमलावती ने दीक्षा ग्रहण की।[१] स्पष्ट है कि आगमों में स्त्री, पुरुष—आबाल-वृद्ध ही नहीं, बिना किसी जाति-भेद के, राजा-प्रजा को दीक्षाधिकारी माना गया है।

जैन तीर्थंकरों ने चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना की थी। श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—इन चार वर्गों की गणना चतुर्विध धर्म-संघ के अन्तर्गत की जाती है। दीक्षा ग्रहण कर धर्ममार्ग के अनुसरण में जो गृहस्थ नारियाँ असमर्थ रह जाती थीं, उनके धर्माचरण का विधान भी आगमों में किया गया है। श्राविका वर्ग में ऐसी महिलाएँ सम्मिलित की गयी हैं। इससे धर्म की नारी-सापेक्षता की व्यापकता और सर्वजन हितैषिता का स्वरूप प्रतिपादित होता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि महावीर स्वामी के पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के धर्म-संघ में १६ हजार साधु, ३८ हजार साध्वियाँ और १ लाख ६४ हजार श्रावक तथा ३ लाख २७ हजार श्राविकाएँ थीं। ध्यातव्य है कि श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियों की और श्रावकों की अपेक्षा श्राविकाओं की संख्या अत्यधिक रही। महावीर ने अपनी इस पूर्व परम्परा को और अधिक सुदृढ़ किया। संघ-व्यवस्था के अधिकारों को उन्होंने विकेन्द्रित किया। श्रमण-संघ के प्रधान इन्द्रभूति थे तो चन्दना को उन्होंने श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त किया। महावीर के संघ में भी १४ हजार साधु थे तो साध्वियों की संख्या ३६ हजार रही और श्रावक १ लाख ५९ हजार थे तो श्राविकाएँ ३ लाख १८ हजार थीं। नारियों की इस अधिक संख्या के पीछे कदाचित् यह कारण भी प्रमुखता से रहा कि प्रवर्तिनी को श्रमणी-संघ की आन्तरिक व्यवस्था एवं कार्यकलाप में स्वतंत्र कर दिया गया था और चन्दना जैसी योग्य प्रवर्तिनी ने धर्म-प्रसार इस कौशल और प्रभावशीलता के साथ किया कि नारियों को धर्माश्रय ग्रहण करने की अधिकाधिक प्रेरणा मिलती रही।

धर्म-संघ के अन्तर्गत श्रमणी-स्वरूप को समझाने के जिज्ञासुओं के मन में निम्नलिखित प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है—

---

१. राया सह देवीए माहणो य पुरोहिओ।
माहणी दारगा चेवं सव्वे ते परिनिव्वुडे। —उत्तराध्ययन १४/५३

- दीक्षा ग्रहण क्यों ?
- दीक्षार्थी कौन ?
- दीक्षा ग्रहण के प्रेरक कारण क्या ?
- दीक्षा हेतु आज्ञाकर्ता कौन ?
- दीक्षा कैसे ? दीक्षादक्षता कौन ?
- श्रमणी के उपयोगार्थ उपकरणादि क्या ?
- श्रमणी द्वारा पालनीय व्रत कौन-कौन से ?
- श्रमणी के लिए अन्य पालनीयताएँ क्या-क्या ?
- श्रमणी के लिए मर्यादाएँ क्या हैं ?
- श्रमणी-धर्म के प्रमुख लक्षण क्या हैं ?
- श्रमणी-संघ-व्यवस्था का स्वरूप कैसा ?

इन प्रश्नों के उत्तरों से श्रमणी-स्वरूप का परिचय तैयार हो जाता है।

दीक्षा ग्रहण क्यों ?

प्रत्येक धर्म में मानव-जीवन के चरम और परम लक्ष्य को संकेतित ही नहीं किया गया, उसकी व्याख्या भी की गयी है। जैनधर्म भी इसका अपवाद नहीं है। इस परम्परा में साध्वी और गृहस्थ नारी—दोनों के धर्म-लाभों का विवेचन मिलता है। दोनों को ही इस लाभ के लिए अधिकारी माना गया है। धर्म के आचरण और आराधना द्वारा क्रमशः आध्यात्मिक उत्थान करते-करते अन्ततः परम पद की प्राप्ति धर्म का ऐसा लक्ष्य है जो मानव मात्र के लिए है और जो केवल मानव-जीवन में ही सम्भव है; अन्य किसी योनि में जिसके लिए सचेष्ट रहना भी सम्भव नहीं। मोक्ष-प्राप्ति का यह अधिकार मानव-जाति के भी पुरुष और स्त्री इन दोनों वर्गों के लिए समान रूप से, बिना किसी भेद के सुलभ है। अर्थात्—इस दिशा में अग्रसर होने के लिए नारी पर कोई प्रतिबन्ध जैनधर्म-व्यवस्था में नहीं है। साध्वी हो, अथवा गृहिणी दोनों अपने-अपने ढंग से धर्माचरण कर इस लाभ की प्राप्ति कर सकती हैं; करती हैं।

संसार असार है—ऐसी दृढ़ मान्यता बनाकर साध्वी-धर्मोपासना में रत रहती है। वह असत् से सत् की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मरण से मोक्ष की ओर ले जाने वाले धर्म-साधन के मार्ग का अनुसरण करती है। यह मार्ग निश्चय ही पुष्पावेष्टित और सुगम नहीं होता। साधना-मार्ग

कंटकाकीर्ण होता है, कष्ट-साध्य होता है। दु:खनाशक का मार्ग सरल हो भी कैसे सकता है? किन्तु जो इन सभी कठिनाइयों को अपने अध्यवसाय से पार कर, उत्तरोत्तर अग्रसर होती हैं, उन साध्वी-साधिकाओं को अन्तत: अन्तिम लक्ष-मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होकर ही रहती है। जैनदर्शन में मनुष्य ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकृत किया गया है। वही अपने आत्मोत्थान द्वारा सर्वोच्च उपलब्धियाँ प्राप्त कर लेता है। उससे बाहर की कोई शक्ति उसे यह लाभ नहीं दे सकती। प्रभु-प्रसाद को यह दर्शन मोक्ष-प्राप्ति का निमित्त स्वीकार नहीं करता। मनुष्य से बड़ा कोई नहीं, जो मनुष्य का उद्धारक हो सके। और इस आत्म-कल्याण के मार्ग को अपनाने के लिए दीक्षा-ग्रहण करना विहित माना गया है। स्त्री भी इसके लिए सर्वथा अधिकारयुक्त रही है। अपने लिए मोक्ष की प्राप्ति और उसके लिए आवश्यक साधना करना—हर नारी का अधिकार पुरुषों के समान ही रहा है और इस हेतु नारी दीक्षा के लिए भी उचित पात्रता रखती है। नारी दीक्षा ग्रहण कर अपने शेष जीवन में साध्वी या श्रमणी का स्वरूप रखती है।

दीक्षार्थी कौन····?

नारी मात्र को सामान्यत: दीक्षा-ग्रहण का अधिकार प्राप्त है। कुल या जाति का भी कोई अवरोधक प्रतिबन्ध नहीं है। सम्पन्न हो अथवा विपन्न, सामाजिक प्रतिष्ठायुक्त हो अथवा हीन, जागतिक दृष्टि से कोई उच्च हो अथवा निम्न—इन भेदों से दीक्षा-प्राप्ति में कोई प्रतिकूल स्थिति नहीं बनती। व्यवहार भाष्य के सन्दर्भ से कहा जाता है कि गणिका भी दीक्षा-ग्रहण के अधिकार से वंचित नहीं रही। एक सैद्धान्तिक स्थिति इस सन्दर्भ में समझ लेनी होगी कि दीक्षा प्रगति विधायक मार्ग है—पलायन का नहीं। संसार की कठिनाइयों और समस्याओं से भागकर दीक्षा ग्रहण करना श्रेयस्कर नहीं माना गया है। सर्वथा निर्द्वन्द्व स्थिति में ही दीक्षा को अपनाना चाहिए। समस्याओं-कठिनाइयों से जूझकर, उन पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् ही मुक्तावस्था में दीक्षा ग्रहण की जाती है। स्थानांग एवं निशीथ भाष्य में ऐसी कतिपय कठिनाईग्रस्त नारियों के लिए दीक्षा निषिद्ध बताई गयी है, यथा—अतिवृद्धा, व्याधिग्रस्त, ऋणपीड़िता, गर्भवती, छोटे-छोटे शिशुओं की माता (बालवत्सा) आदि। ऐसी महिलाएँ जब इन स्थितियों से मुक्त हो जायें, तभी उन्हें दीक्षित किया जा सकता है। सामान्यत: दीक्षा-ग्रहण हेतु आयु सम्बन्धी कोई सीमा नहीं थी, किन्तु दीक्षा प्राप्ति की अभिलाषा तभी मान्य समझी जा सकती है, जबकि दीक्षार्थी को इस सारी-व्यवस्था का अपना ज्ञान हो और स्व-विवेक से वह इस मार्ग का चयन करे। अत्यल्प आयु में बालिका में यह योग्यता

और क्षमता विकसित नहीं हो पाती। अत: आयु सीमा की चाहे अधिकतम स्थिति के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्धारण नहीं भी रहा हो, उसकी न्यूनतम स्थिति का निर्धारण स्वाभाविक ही था, कि जिससे कम आयु की बालिका के लिए दीक्षा का निषेध रहे। यह निर्देश इस दृष्टि से पाया जाता है कि आठ वर्ष से न्यून आयु की बालिका को दीक्षित नहीं किया जाये। इन कतिपय असामान्य स्थितियों को छोड़कर, सामान्य स्थिति की समस्त नारियों को दीक्षा ग्रहण का अधिकार प्राप्त रहा करता था।

दीक्षा-ग्रहण के प्रेरक कारण क्या ?

आगमकाल में कतिपय अनेक कारणों से स्त्रियाँ दीक्षा-ग्रहण के लिए प्रेरित हुआ करती थीं। स्थानांगसूत्र में इन हेतुओं का उल्लेख मिलता है—

दसविहा पवज्जा पण्णत्ता तं जहा—
छन्दा, रोसा, पडिजुण्णा, सुविणा, पदिस्सुया, चेव सारणिया,
रोगिणिया, अणाढिया देवसन्नति वच्छाणुबंधिया।

नारियाँ दस प्रकार के कारणों से प्रव्रज्या अंगीकार किया करती थीं। वे कारण हैं—

(१) **छंदा**—अन्य जन चाहते हों कि वह स्त्री दीक्षा ग्रहण कर ले।

(२) **रोष**—रोष या क्रोध-असंतोष के वशीभूत होकर दीक्षा ग्रहण कर ले।

(३) **परिद्यूना**—दारिद्र्य के आधिक्य से दु:खित होकर दीक्षा ग्रहण कर ले।

(४) **स्वप्ना**—किसी स्वप्न से प्रेरित होकर दीक्षा ग्रहण कर ले।

(५) **प्रतिक्षुता**—पूर्वकृत निश्चय या प्रतिज्ञा की पूर्ति हेतु दीक्षा ग्रहण कर ले।

(६) **स्मारणिका**—पूर्वजन्म की किसी स्मृति से प्रेरित होकर दीक्षा ग्रहण कर ले।

(७) **रोगिणिका**—रोगजन्य-व्याधिजन्य कष्टों के कारण दीक्षा ग्रहण कर ले।

(८) **अनाहूता**—घोर अनादर से दु:खित होकर दीक्षा ग्रहण कर ले।

(९) **देव संज्ञप्ति**—दैविक प्रेरणा से दीक्षा ग्रहण कर ले। अथवा

(१०) **वत्सानुबंधित**—पुत्र के तिरस्कार से उत्पन्न विरक्तिवश दीक्षा ग्रहण कर ले।

दीक्षा हेतु आज्ञाकर्त्ता कौन ?

जैनदर्शन में प्रव्रज्या के लिए मात्र स्वेच्छा का होना अपर्याप्त माना जाता है। आवश्यक यह भी है कि दीक्षार्थी को सम्बन्धित जनों, संरक्षकों की अनुमति भी प्राप्त हो जाये। दीक्षार्थी के दीक्षा ग्रहण के संकल्प में औचित्य से सहमत होकर जब संरक्षक द्वारा आज्ञा प्रदान कर दी जाती है तभी दीक्षा प्रदान की जाती है। ये आज्ञाकर्त्ताजन कौन हैं? यदि विवाह-पूर्व कोई कन्या—'दारिका' दीक्षा ग्रहण करना चाहती है तो तदर्थ उसे माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करनी होती है। माता-पिता के अभाव में उसे अपने ज्येष्ठ भ्राता से आज्ञा लेनी होती है। यदि दीक्षार्थी नारी विवाहिता है तो इस दशा में उसे अपने पति से आज्ञा प्राप्त करनी होती है और उसके अभाव में स्वसुर की अनुमति अपेक्षित रहती है। यहाँ विचारणीय यह है कि पत्नी के लिए दीक्षा-पूर्व पति से आज्ञा लेना अनिवार्य था, किन्तु यदि दीक्षार्थी पति हो तो उसके लिए पत्नी की आज्ञा या अनुमति अपेक्षित नहीं मानी गयी।

दीक्षा कैसे—दीक्षादाता कौन···· ?

जब से नारी-दीक्षा होने लगी—दीक्षा का समारोहपूर्वक आयोजन होता रहा है। दीक्षा सम्बन्धी आज्ञा प्राप्त हो जाने पर महोत्सव होता। दीक्षार्थी महिला को वधू-वेश में, सुन्दर और मूल्यवान वस्त्राभूषणों से विभूषित किया जाता। शृंगारित दीक्षार्थिनी की भव्य शोभा-यात्रा भी निकलती और जनमानस में उसके प्रति श्रद्धा और आदर-भाव का उद्रेक प्रारम्भ हो जाता था। और इसी क्रम में उसे दीक्षार्थ तीर्थंकर अथवा प्रवर्तिनी के समक्ष दीक्षा हेतु उपस्थित किया जाता था। दीक्षार्थी का मन भी इस घड़ी में अतीव उत्साहित रहा करता था। निरयावलिकसूत्र में, ज्ञाताधर्मकथांग आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के दीक्षा-महोत्सवों के संदर्भ प्राप्त होते हैं। राजा श्रेणिक की रानियों और अनेक दारिकाओं के दीक्षा-वृत्तान्त उपलब्ध होते हैं। हाँ, यह भी सत्य है कि ऐसे समारोह दीक्षा-प्रक्रिया के अनिवार्य अंग नहीं थे। कतिपय दीक्षाएँ अति साधारण और सादगीपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुईं। चन्दना की दीक्षा इसका उदाहरण है, जिसकी साक्षी उत्तराध्ययन टीका है।

कल्पसूत्र के साक्ष्य से कहा जा सकता है कि तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने स्वयं चन्दना को दीक्षा प्रदान की। चन्दना के साथ-साथ भगवान ने भोगवंश, उग्रवंश, अमात्यवंश की अनेक दारिकाओं को भी दीक्षित किया था। दीक्षा के अनन्तर चन्दना श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त हो गयी थी। इसके पश्चात् भी भगवान ने राजा श्रेणिक की रानियों को दीक्षा प्रदान कर उन्हें प्रवर्तिनी

चन्दना के अधीनस्थ कर दिया था। इसके पूर्व भी ऐसी परम्परा का प्रचलन मिलता है। भगवान पार्श्वनाथ द्वारा काली आदि दारिकाओं को दीक्षित कर उन्हें तत्कालीन प्रवर्तिनी पुष्पचूला को सौंप दिया गया था। तीर्थंकर अरिष्टनेमि द्वारा कृष्ण की रानियों को दीक्षित कर यक्षिणी आर्या को सौंपा जाना भी इस परम्परा की पुष्टि करता है।

अस्तु, तीर्थंकर द्वारा स्त्रियों को दीक्षित किया जाना आगमकाल में पाया जाता है, किन्तु वे स्त्री-संघ की आचार्या के अधीन कर दी जाती थीं। आचार्या को अधिकार था कि इस प्रकार अपने नियंत्रण में सौंपी गयी दीक्षिता को पुनर्दीक्षित कर सके। ऐसा प्रत्येक दीक्षिता के साथ होना अनिवार्य नहीं था, किन्तु प्रधान आर्यिका के पास इसका विकल्प खुला रहता था। प्रवर्तिनी स्वयं भी किसी स्त्री को दीक्षा प्रदान कर सकती थी और ऐसी दीक्षिता के लिए भी ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं रहती थी कि तीर्थंकर अथवा किसी अन्य साधु द्वारा उसको पुनर्दीक्षित कराया जाये। इसकी आवश्यकता ही नहीं मानी जाती थी। क्या कोई दीक्षार्थिनी स्वत: ही दीक्षा ग्रहण कर सकती थी? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि ऐसा सामान्य प्रचलन तो नहीं था, किन्तु ऐसे दृष्टान्त मिलते अवश्य हैं। कुमारी मल्ली ने अन्य तीर्थंकरों के समान ही स्वयं दीक्षा ग्रहण की थी और तदनन्तर उन्होंने अन्य अनेक नारियों को दीक्षा प्रदान भी की।

व्यवहारसूत्र के उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि आगमकाल में सामान्यत: साधु द्वारा स्त्री को और साध्वी द्वारा पुरुष को दीक्षित किया जाना निषिद्ध था। अपवादस्वरूप ही विरक्ति की प्रबल प्रवृत्ति की दशा में ही ऐसा किया जा सकता है और तब दीक्षित श्रमणी को प्रवर्तिनी के अधीन और दीक्षित साधु को साधु-संघ को सौंप दिया जाना—अत्यावश्यक रहता है। यही कारण है कि तीर्थंकरों की अभ्यंतर परिषद् में स्त्रियां नहीं होती थीं। हाँ, तीर्थंकर मल्लीनाथ के परिषद् में अवश्य ही महिलाएँ भी थीं और पुरुष भी। किन्तु यह अकाट्य सत्य है कि तीर्थंकरों को छोड़ किसी अन्य साधु द्वारा किसी भी स्त्री की दीक्षा नहीं होती थी। ऐसा कोई उदाहरण मिलता भी नहीं है। न ही किसी साध्वी द्वारा किसी पुरुष को दीक्षित किये जाने का कोई उदाहरण मिलता है।

श्रमणी के उपयोगार्थ उपकरणादि क्या····?

जैन साधु-साध्वियों का जीवन अत्यन्त सादगीपूर्ण और संयत होता है। उपभोग के स्थान पर अध्यात्म ही उनका लक्ष्य होता है। त्याग ही उनकी पबलतम प्रवृत्ति होती है—ग्रहण की कामना भी अतिशय क्षीण होती है।

आध्यात्मिक उत्थान के लिए देह, देह के लिए जीवन और जीवन के लिए साधनों-उपकरणों की अनिवार्यता रहती ही है। साधु-साध्वी होकर भी वे इसके अपवाद, अपनी समस्त विरक्ति के बावजूद भी हो नहीं सकते। किन्तु श्रमण वर्ग के लिए यह विधान है कि अत्यन्त सादे और अल्पतम सम्भव साधनों का उपयोग किया जाय। परिग्रहविहीनता के साथ मात्र उतने साधनों का प्रयोक्ता वह होता है, जितनी तात्कालिक रूप में, अनिवार्य और अपरिहार्य आवश्यकता रहती है, जीवन को निरन्तरित रखने के लिए। यह उपयोग सुख और आनन्द का लक्ष्य नहीं रखता।

मानव मात्र की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं—रोटी, कपड़ा और मकान अर्थात् भोजन, वस्त्र और आवास। श्रमण जन शोभा-वृद्धि के लिए वस्त्रों का उपयोग नहीं करते। वस्त्र बहुमूल्य और गुणवत्ता में बढ़े-चढ़े नहीं होते। अत्यन्त साधारण वस्त्र जो ऊन से बने हों (जांगिम), अथवा अलसी की छाल से बने (भांगिम), अथवा सन आदि देशों से निर्मित (सानक), सूती (पोतक), अथवा वृक्षों की छाल से बने (तिरीट पट्ट) हुए होते हैं। स्थानांग सूत्र और कल्प सूत्र टीका में इनकी साधारणता का निर्देश मिलता है। यह भी वर्णित है कि स्वस्थ साधु को एक ही वस्त्र धारण करना चाहिए और साध्वियों को चार वस्त्रों के उपयोग की अनुमति है। साध्वियों के लिए अधोवस्त्र और उपरिवस्त्र—दोनों का प्रयोग नैसर्गिक रूप से अनिवार्य मानकर आवश्यक समझा गया। इनके बहुमूल्य न होने सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी रहता ही है। गृहस्थ नारी के दीक्षा ग्रहण करते समय का प्रावधान है कि वह अपने साथ चार अखण्डित वस्त्र ले जा सकती थी। यह भी उल्लेख है कि वह रजोहरण एवं पात्रादि पोंछने के लिए वस्त्र गोच्छक ले जा सकती थी। रजोहरण के उपयोग के लिए साध्वियों को निर्देशित भी किया गया है। विचरण के समय मार्ग को जीव-मुक्त करना आवश्यक है और जीवों को कष्ट दिये बिना, कोमलता के साथ मार्ग से हटाने का उपकरण—'रजोहरण' होता है।

वृहद् कल्प सूत्र में यह उल्लेख मिलता है कि गृहस्थ के घर भिक्षा-प्राप्ति हेतु जाने पर साध्वी को यदि गृहस्थ की ओर से पात्र, वस्त्र, कम्बल आदि भेंट की जायें तो उसे स्वीकार कर उपयोग में लाना सम्भव नहीं, जब तक प्रवर्तिनी की निश्रा (अनुमति) प्राप्त न हो जाये। साध्वियों को शयन और बैठने के लिए पाट के प्रयोग का भी निषेध किया गया है।

अल्पतम आवश्यक पात्रों के प्रयोग का विधान भी है और कहा गया है कि साधु-साध्वी अत्यन्त साधारण पात्रों का (जो बहुमूल्य न हो) उपयोग करें। इनमें

तुम्बी, लकड़ी या मिट्टी के पात्र सम्मिलित होते हैं। बृहत्कल्पसूत्र का विधान है कि साधु तीन और साध्वी चार पात्रों का उपयोग करें। साध्वियाँ इन पात्रों के अतिरिक्त उन्दक का प्रयोग भी कर सकती हैं। साधु शयन के लिए रोम वाला पशु चर्म का उपयोग कर सकते थे, साध्वियों को इसकी अनुमति न थी।

वस्त्र और पात्र रखने के सम्बन्ध में साधु और साध्वी के प्रावधानों में जो भेद दृष्टिगत होते हैं, उनका आधार शारीरिक संरचना ही मूलत: है। रोमयुक्त चर्म के उपयोग पर जो प्रतिबन्ध साध्वियों पर लगाया गया है, इसका उदाहरण लिया जा सकता है। यह रोक इस कारण लगायी गयी है कि रोम के कोमल स्पर्श से साध्वियों के आचार में शैथिल्य विकसित न हो सके। संयम रक्षा के लिए यह परमावश्यक है। प्रमाद, आलस्यजनक, ऐश्वर्य-प्रदर्शक साधनों-उपकरणों के निषेध की भी अपनी सार्थक भूमिका है। संयम, त्याग, शुद्ध मनस्कता, सादगी, साधनारतता ही जैनागमगत नारी संस्कृति की आधारशिला है। श्रमणी जीवन और उनकी आवश्यकताओं के परिसीमन से तो यह स्पष्ट संकेतित होता ही है—श्राविकाओं में भी इसका किंचित्-सा रूप प्रतिपादित मिलता है।

व्रत पालन : साधना का भाग

आगमकालीन नारी का जीवन साधनामय और संयत रहा है। पंच व्रतों का परिपालन नारी के इस विशिष्ट स्वरूप को सुदृढ़ करने में सार्थक, सहायक रहता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पंचव्रत जैन नारी के आदर्श रहे हैं—चाहे वह साध्वी हो, अथवा श्राविका। हाँ, इतना अवश्य है कि साध्वियों के लिए इन व्रतों का सबल और बृहद् रूप होता है, अत: ये महाव्रत कहलाते हैं और श्राविकाओं के सामर्थ्यानुसार उनके लिए इन्हीं व्रतों के साधारण और सुगमस्वरूप का विधान किया गया है—वे अणुव्रत कहे जाते हैं।

पंच महाव्रत

साधु-साध्वियों के लिए पंच महाव्रत अनिवार्यत: पालनीय होते हैं। दीक्षा-ग्रहण के समय इनके पालन की प्रतिज्ञा प्रत्येक साधु-साध्वी को ग्रहण करनी होती है। बृहद् कल्पसूत्र में अनेक विधान ऐसे हैं जिनकी पालना साधु और साध्वी द्वारा समान रूप से की जाती है। पंच महाव्रतों का परिपालन भी उनमें से एक है। इनके द्वारा पूर्ण निष्ठा के साथ, मन-वचन-कर्म से इनका पालन ऐसी दृढ़ता के साथ किया जाता है कि श्राविकाओं के लिए भी यह प्रेरणा-स्रोत हो जाता है।

अहिंसा महाव्रत

जैन साधुओं की भाँति ही साध्वियों को भी हिंसा की प्रवृत्ति का परित्याग करना होता है। उन्हें दीक्षा के समय से ही मन, वचन और काया से होने वाली प्रत्येक प्रकार की हिंसा से स्वयं को पृथक् रखने का संकल्प-आजीवन निर्वाह करना होता है। साध्वियाँ स्वयं तो हिंसक प्रवृत्तियों से दूर रहें ही—उनके लिए यह भी परमावश्यक होता है कि वे किसी अन्य को भी हिंसा के लिए प्रेरित न करें और न ही हिंसाकर्त्ता अथवा हिंसक कर्म की अनुमोदना करें। किसी अन्य द्वारा होने वाली हिंसा में औचित्य का अनुभव करना भी हिंसा माना गया। हिंसा का इतना सूक्ष्म रूप और उसका सुदृढ़तापूर्वक परिपालन जैन साध्वियों को जो भव्य और दिव्य रूप प्रदान करता है, वैसा अन्य किसी परम्परा में सुलभ नहीं। दशवैकालिक सूत्र में इसका विषद् वर्णन किया गया है। साध्वियाँ इस प्रकार हिंसा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से भी बचकर चलती हैं और इससे उनकी आत्मा की शुद्धता रक्षित रहती है। क्या हिंसा का परित्याग ही अहिंसा है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मात्र इतना ही जैनदर्शन में हिंसा के समग्र स्वरूप के लिए पर्याप्त नहीं है। अपावन संकल्पों और दुराचरणों से स्वयं को पृथक् रखना भी यथार्थ अहिंसक के लिए अनिवार्य होता है। स्वयं को सुखी रखना मात्र ही जैनदर्शन में आदर्श नहीं रहा—अन्य सभी जीवों के सुख की कामना करना, उनके सुखार्थ उद्यम करना, उनके दुःख का कारण न बनना भी अहिंसा का एक अत्यावश्यक तत्त्व है। जैनदर्शन और संस्कृति तो जीओ और जीने दो के सिद्धान्त का मूर्त्त रूप हो गयी है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का आदर्श जितने व्यापक रूप में हमें जैन परम्परा में मिलता है—वैसा कहीं अन्यत्र नहीं। विश्व-शान्ति और सर्व सुखमयता के सच्चा साधन-अहिंसा का ऐसा स्वरूप और उसका परिपालन ही हो सकता है—इसमें दो मत हो ही नहीं सकते। आवश्यकता इस बात की है कि इस व्रत का पालन जगत् की समस्त मानव जाति करे। इस आवश्यकता की पूर्ति के पक्ष में जैन साध्वियों का अहिंसा महाव्रत का पालन प्रेरक बनकर सहायक होता है। सभी को इस सुमार्ग पर गतिशील हो जाने का उत्साह उनके आचरण से प्राप्त होता रहता है। स्पष्ट है कि साध्वियों का आचरण कितना सर्वहिताय और जनकल्याणकारी हो सकता है।

सत्य महाव्रत

साध्वियों के लिए सत्य महाव्रत के पालन की भी अनिवार्यता शास्त्रों में उल्लिखित मिलती है। सत्याचरण और सत्यानुसरण को नाना धर्म-परम्पराओं में प्रतिष्ठित तल की भाँति मान्यता प्राप्त है। जैनधर्म में इसका स्वरूप अपेक्षाकृत

अधिक व्यापक मिलता है। सत्य का पालन सुगम नहीं होता—यह यथार्थ है। सत्य से विचलित करने वाले तत्त्वों का भी अभाव नहीं है। मनुष्य कभी क्रोधावेश में सत्य छोड़कर मिथ्या का आश्रय ग्रहण कर लेता है तो कभी लोभ की कुप्रवृत्ति उसे सत्य से पृथक् कर देती है। पुरस्कार या लाभ के लोभ में जैसी शक्ति है—वैसी ही दण्ड के भय में भी है। हानि या दण्ड का भी मनुष्य को सत्य-च्युत करने का सामर्थ्य रखता है। कभी-कभी तो मात्र विनोदवश ही मनुष्य मिथ्याभाषी होकर सत्य-च्युत हो जाता है। इन सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त करते हुए सत्य महाव्रत से अविचलित रहना जैन साध्वियों के लिए अति अनिवार्य है। असत्य-भाषण करना तो वर्जित माना ही गया है, दशवैकालिक के अनुसार तो असत्य तथ्यों अथवा असत्य भाषियों का अनुसमर्थन करना भी निषिद्ध है। असत्य का आचरण करने वालों को जगत् में निन्दनीय माना गया है। असत्य से हटकर सत्य-मार्ग का अनुसरण करने वाले उत्तरोत्तर महिमा प्राप्त करते रहते हैं। असत्य व्यक्ति के सम्मान को भी घटा देता है। मिथ्यावादी जन अविश्वस्त हो जाते हैं। उनका सत्य भी असत्य रूप में ही मान्यता ग्रहण करता रहता था। अतः सत्य-पालक जन-जन के लिए महत्त्वपूर्ण हितकारी हैं। असत्य मानव-मन को मलिन करता रहता है और उसके आत्मिक तेज को मन्द कर देता है। असत्य व्यक्ति को आन्तरिक दुर्बलता से भी ग्रस्त रखता है। वह इस भय से आतंकित रहता है कि उसका मिथ्यात्व कहीं प्रकट न हो जाये। सत्यवादी सदा निर्भीक, निश्चिन्त और आत्म-सम्मान का धनी बना रहता है। धर्म और साधना-पथ के पथिकों के लिए तो सत्य एक अनुपम पाथेय होता है। जो भय या मोह, लोभ आदि के प्रभाव से सत्य-विचलित नहीं होते—ऐसे साधक आचारांग के अनुसार अपने समस्त पापों का क्षय कर परित्राण प्राप्त कर लेते हैं।[१]

अस्तेय महाव्रत

यह अचौर्य प्रवृत्ति से सम्बन्धित महाव्रत है। चोरी न करना—इसका सीधा-सादा-सा अर्थ है। अचौर्य की प्रवृत्ति सर्व सज्जनोचित गुण है। फिर धर्मात्मा श्रावक-श्राविका के लिए इस प्रवृत्ति का गहराई से पालन किया जाना आवश्यक माना गया है। अस्तेय का परिपालन साध्वियों के लिए तो और भी अधिक सघन रूप में अनिवार्य माना गया है। उनके लिए पालनीय अस्तेय का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म और अति व्यापक होता है। चोरी का अर्थ है किसी वस्तु को उसके स्वामी की अज्ञता में उसके पास से हटाकर अपने पास रख लेना, अथवा उस पर अपना

---

१. सच्चम्मि धिइं कुव्वहा, एत्थवरए मेहावी सव्वं पावं नासेइ। —आचारांग

कब्जा जमा लेना। ऐसा करना तो साध्वियों के लिए सर्वथा वर्जित ही है, आगमों में यह विधान भी है कि साध्वियाँ अप्रदत्त वस्तु को भी ग्रहण न करें—इसे पाप समझें। तात्पर्य यह कि साध्वी को किसी ऐसी वस्तु को ग्रहण नहीं करना चाहिए जो उसके स्वामी द्वारा प्रदान न की जाये। ऐसा करने के साथ भी एक विहित प्रक्रिया है जिसमें प्रवर्तिनी की पूर्वानुमति अपेक्षित है, किन्तु स्वामी के प्रदान किये बिना वस्तु का साध्वियों द्वारा स्वीकार कर लिया जाना तो महापाप माना गया है। अचौर्य का इतना सूक्ष्म रूप भी इनके लिए अनिवार्यतः पालनीय रहता है कि ऐसी वस्तु को ग्रहण कर लेना भी पाप माना गया है जिसका कोई ज्ञात स्वामी हो ही नहीं। यों ही यत्र-तत्र पड़ी वस्तुओं को उठा लेना भी चौर्य प्रवृत्ति के अन्तर्गत माना गया है। इतनी गहराई से पालन करना ही इस महाव्रत का वास्तविक रूप है। कहा गया है कि भूमि पर पड़ा हुआ तिनका भी बिना आज्ञा के उठाना अस्तेय महाव्रत का उल्लंघन है।

चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंत सोहण मित्तं पि उग्गहं सि अजाइया॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अण्णं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणन्ति संजया॥—दशवैकालिक

ब्रह्मचर्य महाव्रत

श्रमण-श्रमणियों के लिए यह महाव्रत न केवल अत्यन्त अनिवार्य, अपितु अति महत्त्वपूर्ण ही है। इसी व्रत का पालन उन्हें इस वर्ग की पात्रता प्रदान करता है। मैथुन-विरतता सामान्य अर्थ में ब्रह्मचर्य है, और साध्वी के लिए मैथुन सर्वथा वर्जित है। किसी भी परिस्थिति में मैथुनरतता को क्षम्य नहीं माना जा सकता, इससे वह अपने पद से च्युत हो जाती है। साधु के लिए भी ऐसा भी है। भौतिक और दैहिक रूप में मैथुन तो महापाप है ही, इसका विचार या इच्छा का मन में उदित होना भी पाप है और इससे आत्मिक पावनता का हनन होता है, चरित्र का पतन होता है। ऐसा विचार ही उसमें ब्रह्मचर्य के अनौचित्य को विकसित करने लगता है और एक अर्थ में इस प्रकार यह ब्रह्मचर्य व्रत-विधान की अवज्ञा है जो साधुत्व के लिए विनाशकारी है। मैथुन को शास्त्रों में समस्त अधर्मों का मूल और समस्त दोषों का केन्द्र बताया गया है। अस्तु, स्त्री-पुरुष संसर्ग साधु-साध्वियों के लिए सर्वथा वर्जित है।[१]

---

१. मूलमेयमहम्मस्स, महादोस स मुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥ —दशवैकालिक, अध्ययन ६/१७

सामान्यतः साध्वी को पुरुष का स्पर्श सर्वथा वर्जित है, परन्तु व्यवहार सूत्र में इसके कुछ अपवाद भी मिलते हैं। जब साध्वी विकट पहाड़ी रास्ते से उतरती हुई फिसल जाये, नाव में चढ़ते समय उसका पाँव फिसल जाये तो इन विषय स्थितियों में कोई साधु (पुरुष) उसे सहारा देकर बचा सकता है। इसमें साध्वी का चतुर्थव्रत दूषित नहीं होता। इस प्रकार के व्यावहारिक अपवाद जीवन की विशेष परिस्थितियों पर निर्भर है।

अपरिग्रह महाव्रत

यह मानव मात्र के लिए एक अनिवार्य व्रत है। इसी से जीओ और जीने दो के सिद्धान्त को जीवित रखा जा सकता है। परिग्रह का अर्थ है—जीवन के लिए आवश्यक सामग्रियों, साधनों, पदार्थों, वस्तुओं आदि का आवश्यकता पूर्ति से भी अधिक मात्रा में संग्रह करना। अपनी आवश्यकता योग्य मात्रा में इनका ग्रहण किया जाना तो व्यक्ति का उचित अधिकार है, किन्तु इससे अधिक संग्रह करके रख लेने का अर्थ है कि हम अन्य को इन वस्तुओं से वंचित कर रहे हैं। हम स्वयं तो सुखपूर्वक जी रहे हैं, किन्तु अन्य जनों के जीने के अधिकार की पूर्ति में बाधक हो रहे हैं। हम भविष्य के लिए भी अपने सुखों को आरक्षित करते जा रहे हैं और अन्य जनों का वर्तमान भी दुःखमय बनाते जा रहे हैं। यह घोर अमानवीय कर्म है, पाप है। साधु-साध्वियों के लिए तो यह महापाप है। अपने उदाहरण द्वारा सर्व साधारण में भी उनकी अपरिग्रह वृत्ति का अनुकूल प्रभाव हो—अन्य जन भी इस प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होकर सबके लिए जीने की कला सीखें—ऐसी अपेक्षा साधु चरित से की जाती है और साधु-साध्वियाँ ऐसा कर परम जनहितकारी हो सकते हैं। यदि जन-जन में अपरिग्रह की प्रवृत्ति व्याप्त हो जाये तो समाज का सौम्य और सौन्दर्य अपनी यथार्थ स्थिति को प्राप्त हो सकता है। यह समाज समानता के वरदान से भूषित हो जाये। कोई छोटा या कोई बड़ा न रहे, कोई सम्पन्न और कोई विपन्न न रहे, सभी समान रूप से सुखी रहें, कोई वंचित और दुःखित नहीं रहे। यही आदर्श समाज का स्वरूप है और यह अपरिग्रह वृत्ति से सम्भव है। साधु-साध्वी के लिए तो आवश्यकतापूर्ति का रूप और भी संकुचित है। उन्हें अगले समय के आहारादि की भी न चिन्ता होती है और न ही उसके लिए कोई पूर्वायोजन किया जाता है। संग्रह करके रखना और इस प्रकार भविष्य की ओर से निश्चिन्त हो जाना साध्वी-चरित्र में सम्मिलित नहीं। साध्वी तो न संग्रह करेगी और न ही भविष्य के लिए चिन्ता। यथासमय ही वह आवश्यकता-पूर्ति का उद्यम भिक्षाटन द्वारा करेगी और उतना ही ग्रहण

करेगी, जितनी तात्कालिक अपेक्षा या आवश्यकता है। बचाकर रखना उसका स्वभाव नहीं।

संग्रह की प्रवृत्ति साधुजनों में भी लोभ के विकार को विकसित कर देती है जो स्वयं अन्य अनेक पापों का जनक है। अत: अपरिग्रह का साधु-आचरण में महिमामय स्थान है। साधु के लिए संग्रह करना तो दूर, इसकी अभिलाषा का भी मन में आना पाप है। दशवैकालिक में भगवान महावीर का तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण इस प्रकार वर्णित हुआ है—

लोहस्सेस अणुप्फासे, मण्णे अण्णयरामवि।
जे सिया संनिहि कामे, सगिहि पव्वइये न से॥

संग्रह की कामना करने वाले साधु या साध्वी को गृहस्थ सम माना गया है, वे परिग्रहवृत्ति के कारण साधु-मर्यादाविहीन होकर इस पद से च्युत हो जाते हैं। आहार, वस्त्रादि किसी भी वस्तु का संग्रह करना साधु और साध्वियों—दोनों के लिए ही निषिद्ध माना गया है। साधु तो स्वतंत्र और स्वाधीन आत्मा का स्वामी होना चाहिए और परिग्रह आत्मा के लिए बन्धन होता है।[१] भगवान का उपदेश जो यहाँ तक है कि साधु-साध्वियों के लिए परिग्रह से अल्पित रहना मात्र ही पर्याप्त नहीं है, यदि वह अन्य जनों को परिग्रहोन्मुख बनाता है, परिग्रहवृत्ति की अनुमोदना करता है तो उसके लिए मुक्ति के द्वार उन्मुक्त नहीं रहते हैं।[२] अस्तु, साधुजनोचित चरित्र के लिए आवश्यक ही नहीं यह अनिवार्य माना गया है कि वे परिग्रह प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त रहें। अपरिग्रह भी आत्मिक शुद्धता का मूल और साधना का सहायक तत्त्व है।

इन पंच महाव्रतों की पालना साध्वी के चरित को कैसा निर्मल और दिव्य बनाती है—उपर्युक्त वर्णन से इसकी एक झलक मिल जाती है। आगमकालीन नारी की शुद्धाचरणता, आत्मिक पावनता, तप-त्याग की गरिमा, साधना की उत्कृष्टता साध्वी चरित के माध्यम से प्रकट हो जाती है। आगमकालीन नारी का यह रूप अति भव्य और अपने आप में अनूठा है जो आज तक यत्किंचित् रूप में निरन्तरित रूप में विद्यमान है। भारतीय नारी को अपने इस पावन और तेजोमय स्वरूप पर गर्व होना भी अनुचित नहीं है। पंच महाव्रतों के विधान द्वारा साध्वियों

---

१. नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्व जीवाणं। —**प्रश्नव्याकरण**

२. चित्तमंतमचित्तं वा परिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाण इ एवं दुक्खा ण मुच्चई। —**सूत्रकृतांग १/२**

के जीवन और मन को अनुशासित और संयत ही नहीं करते, स्वानुशासन की प्रेरणा भी देते हैं।

रात्रि-भोज निषेध

भगवान महावीर स्वामी ने पंच महाव्रतों के साथ एक छठा व्रत भी प्रतिपादित किया—रात्रि-भोज का त्याग। दशवैकालिक सूत्र में इस व्रत का उल्लेख है। साध्वियों और साधुओं के लिए रात्रि में आहार-ग्रहण का निषेध इस व्रत के माध्यम से किया गया है। ऐसा भी नहीं है कि महावीर-पूर्व इस व्रत का विधान नहीं था। था, किन्तु इस प्रवृत्ति को अहिंसा महाव्रत के अन्तर्गत ही मान्य समझ लिया गया था। रात्रिकाल में जीवों की विराधना करने की सम्भावना रहती है। इस सम्भावना का विवेचन भी दशवैकालिक में हुआ है। इस विराधना से बचने की प्रक्रिया ही रात्रि-भोज त्याग अहिंसा का एक रूप है। भगवान ने युगीन आवश्यकता का अनुभव कर इस व्रत का पृथक् रूप में प्रतिपादन किया। उसका सुपरिणाम भी हुआ कि इसकी महत्ता न केवल साधु-साध्वियों को, अपितु जनसाधारण को भी प्रभावित करने लगी और असंख्य जन इसके आराधक हो गये।

समितियाँ एवं गुप्तियाँ

इन पंच महाव्रतों के परिपालन को प्रबल बनाने के साधन स्वरूप कतिपय आचारों का विधान भी है। उत्तराध्ययनसूत्र में इनका विवेचन प्राप्त होता है। आठ 'प्रवचन माताएँ' इस रूप में उल्लिखित हैं जिनमें से ५ समितियाँ एवं तीन गुप्तियाँ हैं। इन अष्ट प्रवचन माताओं को ज्ञान और दर्शन की अक्षय निधि और चरित्र की घटक माना गया है।

पंच समितियाँ

प्रवचन माताओं के अन्तर्गत परिगणित पाँच समितियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) ईर्या समिति

(२) भाषा समिति

(३) एषणा समिति

(४) आदान समिति

(५) उच्चार समिति

साध्वियों को पथ-संचरण के समय भूमि को सावधानीपूर्वक देखकर चलना चाहिए। उनके पदक्षेप से किसी जीव को कष्ट नहीं होना चाहिए। यही **ईर्या समिति** है। कहा गया है कि भूमि पर विचरण करते समय आगे की चार हाथ भूमि को देखकर चरण बढ़ाना चाहिए। उद्देश्य यह है कि बीज, वनस्पति, सूक्ष्म जीव, जल, मिट्टी आदि की विराधना नहीं हो। उन्हें ऐसे मार्ग पर विचरण करना चाहिए जो समतल हो और जहाँ जीव-हिंसा का भय भी न हो। उनका ध्यान इसकी ओर रहना आवश्यक है कि उनके द्वारा किसी जीव को कष्ट न हो। ईर्या समिति को पराक्रमरूपी धनुष की प्रत्यंचावत् वर्णित किया किया गया है। **भाषा समिति** के अन्तर्गत साध्वियों के लिए निर्देश है कि उन्हें सम्भाषण के दौरान इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनकी वाणी सभी के लिए सुखकर हो, कष्टकारी किसी के लिए न हो। अत: वचनोच्चारण के समय न क्रोधावेश रहे, न मान-अभिमान का भाव हृदय में रहे। यह भी आवश्यक है कि उस समय न लोभ हो और न ही भय का भाव मन में रहे। हास्य-विनोद और वाचालता की प्रवृत्ति भी निषिद्ध मानी गयी है। इन सावधानियों से सत्य महाव्रत के परिपालन में सहायता मिलती है। **एषणा समिति**—आहार, उपकरण आदि ग्रहण करने, उनके उपयोग करने में सावधानी और मर्यादापालन का निर्देश इस समिति में मिलता है। निर्दोष आवास सम्बन्धी सावधानी के लिए भी सतर्क किया गया है। **आदान निक्षेपण समिति** द्वारा साध्वियों को निर्देश दिया गया है कि वे अपनी निश्राय के वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि उपकरणों का सावधानीपूर्वक प्रतिलेखन करें, उनका प्रमार्जन करें। **उच्चार समिति** साध्वी आचार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निर्देश देती है। मल-मूत्र, कफ, खंखार, नाक-कान के विकार आदि परठने योग्य पदार्थों को फैंकने सम्बन्धी सावधानियाँ इस समिति के अन्तर्गत आती हैं। इन्हें ऐसे स्थान पर विसर्जित किया जाना चाहिए कि जीव-हिंसा का भय भी न रहे और अन्य किसी को कोई असुविधा भी न हो। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए अन्य जनों के मन में घृणा उत्पन्न न हो। शौचादि के लिए भी ऐसा स्थान नियत करना चाहिए। जो निर्दोष हो, विस्तृत हो, बस्ती से दूर हो। चूहे आदि के बिल वहाँ न हों—यह सावधानी भी अपेक्षित मानी गयी है। स्वच्छता एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन भी इस समिति के अन्तर्गत हुआ है ताकि साध्वियों का जीवन व्याधिमुक्त रह सके।

गुप्तित्रय

अष्ट प्रवचन माताएँ पंचमहाव्रतों के पालन में सहायक सिद्ध होती हैं। इनके अन्तर्गत पाँच समितियों के साथ जिन तीन गुप्तियों की गणना होती है, वे हैं—

(१) मनोगुप्ति

(२) वचनगुप्ति

(३) कायगुप्ति या काया समधारण गुप्ति

गुप्ति का सामान्यार्थ है, रक्षा। वस्तुतः ये गुप्तियाँ कवच की भाँति ही साध्वियों के मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों के प्रभाव से रक्षा करती हैं। यही नहीं कि ये गुप्तियाँ अशुभ और अकुशल प्रवृत्तियों से बचाने का काम करती हैं ये साधु-साध्वियों को शुभ और कुशल प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर भी करती हैं। कषायों से रक्षा का अद्‌भुत सामर्थ्य इन गुप्तियों की विशेषता रहती है।

किसी को कष्ट पहुँचाने की इच्छा या विचार 'संरंभ' कहलाता है। इस इच्छा की पूर्ति हेतु साधनों-उपकरणों का विचार करना 'समारंभ' है और कष्ट पहुँचाने की क्रिया प्रारम्भ करने का विचार 'आरम्भ' कहलाता है। इस प्रकार के संरंभ, समारंभ और आरम्भ के समय साधकों या साध्वियों को अपने मन पर नियंत्रण करना चाहिए। यह गुप्ति उन्हें इसकी समर्थता प्रदान करती है। इसी प्रकार संरंभ, समारंभ और आरम्भ के समय अपनी वाणी पर नियंत्रण करना चाहिए। यह वचनगुप्ति है। कायगुप्ति के अन्तर्गत उठने, बैठने, सोने, खड़े होने आदि शारीरिक क्रियाओं में साधु-साध्वियां को संरंभ, समारंभ और आरम्भ में आते हुए अपने शरीर को रोकना चाहिए यह काया समधारण गुप्ति है।

साध्वियों के लिए इन प्रवचन माताओं का अत्यन्त उपयोगी महत्त्व होता है। इनका ध्यान रखते हुए वे अपने आचार का शुद्धीकरण कर सकती हैं और सत्प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होती हैं। आगमकाल में इस विधान ने साध्वियों के चरित्र को निर्मल करने और रखने में सार्थक योग दिया। इनसे उनके चारित्र की रक्षा और विकास भी हुआ।

साधु-आचार-संहिता : समाचारी

समाचारी का विधान भी आगमों में प्राप्त होता है जो साधु-साध्वियों के दैनिक कार्य-कलापों की उचित रीति का निर्धारण करती है। यह ऐसी नियमावली है, जो साधु-साध्वियों के लिए अनिवार्यतः पालनीय है। इन नियमों द्वारा इनके कार्य-व्यवहार को एकरूपता और नियमन दिया गया है। साधु-साध्वियों के लिए यह आचार-संहिता-सी है। स्थानांग, भगवतीसूत्र, निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में समाचारी वर्णित मिलती है। समाचार के नाम से ऐसी संहिता

दिगम्बर ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। समाचारी को जैन परम्परा में भवसागर तारिणी के रूप में वर्णित करते हुए इसके निम्नलिखित दस भेद किये गये हैं—

(१) **आवश्यकी**—विधान किया गया है कि यदि साध्वी को किसी अनिवार्यतावश उपाश्रय से बाहर जाना आवश्यक हो ही जाये तो उसे इस शब्द का घोष करना होता है—'आवश्यकी'। अर्थात् साध्वी के लिए प्रकट रूप में ही उपाश्रय से बाहर जाना उपयुक्त माना गया—गुप-चुप रूप में नहीं। यह बड़ी स्वस्थ एवं स्वच्छताकारी व्यवस्था है। (२) इसी प्रकार बाहर गयी हुई साध्वी के उपाश्रय में पुनरागमन को भी गोपनीय नहीं रखा जा सकता। लौट आने पर उसे **नैषेधिकी** समाचारी का अनुपालन करते हुए '**नैषेधिकी**' शब्द का उच्चारण करना होता था। सभी को उसका आगमन ज्ञात हो जाता है। (३) **आपृच्छना**—यह तीसरी समाचारी साध्वी को निर्देश देती है कि किसी भी कार्य को आरम्भ करने से पूर्व ही गुरु-अनुमति आवश्यक रूप से प्राप्त करे। कार्य आरम्भ हो गया, उसमें प्रगति भी होने लगी, परन्तु अन्य व्यस्ततावश, अथवा किसी परिस्थितिवश वह कार्य रुक गया हो। ऐसी स्थिति में वह काम रुक जाता है, किन्तु कालान्तर में वह कार्य पुनः आरम्भ किया जाये तो इसकी भी पूर्वानुमति आवश्यक होती है यह (४) **प्रतिपृच्छना** है। (५) **छन्दा** के अधीन साध्वी के लिए यह अनिवार्यता रहती है कि भिक्षाटन से प्राप्त आहार को वह सहधर्मियों को प्रदान करे। (६) **इच्छाकार**—का प्रयोजन है कि साध्वी सदा गुरु-इच्छा के अनुसार ही कार्य करे। (७) **मिथ्याकार** समाचारी का अर्थ है कि साध्वी से कोई त्रुटि हो जाये तो उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए। (८) **तथाकार**—गुरु के प्रति श्रद्धा का भाव ही तथाकार है। गुरु कृत कार्य अथवा कथन में श्रद्धा रखना, उनको शिरोधार्य करना साध्वी का पावन कर्त्तव्य है। यह श्रद्धा मन में गुह्य रूप से रहे, अविरोध भाव रहे—यही श्रेष्ठ है, किन्तु इतना मात्र अपर्याप्त भी है। इस श्रद्धा की अभिव्यक्ति भी सर्वथा अपेक्षित रहती है, यह मानते हुए तथाकार समाचारी के अन्तर्गत विधान है कि साध्वी को इस श्रद्धा को प्रकट करने के लिए 'तहित' शब्द का उच्चारण भी करना चाहिए जिसका भाव है—"जैसी आपकी इच्छा" इस क्रिया द्वारा साध्वी गुरु के प्रति आस्था व्यक्त करती है। (९) **अभ्युत्थान**—गुरु का आदर करना, गुरु की सेवा में रत रहना—अभ्युत्थान है। (१०) **उप-सम्पदा**—समाचारी में विधान है कि साध्वी को गुरु के चरणाश्रय में रहकर विनयभाव के साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अतिरिक्त ज्ञान-प्राप्ति के लिए वह किसी अन्य गण में भी जा सकती है। उपर्युक्त समाचारियों का स्वरूप साधु और साध्वियों के लिए एक-सा है, बस अन्तिम-दसवीं

समाचारी में थोड़ा-सा अन्तर यह है कि एकाकी रूप से साधु तो किसी अन्य गण में जा सकता है, किन्तु साध्वी अकेली नहीं जाती थी। उसके संग किसी अन्य साध्वी का जाना अनिवार्य था। ऐसी व्यवस्था साध्वी की गरिमा-रक्षा की दृष्टि से अनिवार्य माना गया।

इस समाचारी का विश्लेषण और इन पर चिन्तन करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक ही है कि आगमकालीन साध्वियों का जीवन पावन—निर्मल तो था ही, ऐसी व्यवस्थाएँ भी थीं कि वह आगे से आगे निर्मल ही बना रहे। कल्मष का एक छींटा भी न लगे। उनकी गतिविधियाँ, आचार-व्यवहार सब कुछ खुली पुस्तक के समान रहता था। स्वेच्छाचारिता का अंश मात्र भी नहीं था, न ही कोई रहस्य या गोपन की प्रवृत्ति थी। सब कुछ खुला-खुला और सर्व विदित रहता था। साध्वी पावनता की साकार प्रतिमा-सी थी।

साध्वी : संयम और परीषह

जैन साधु-साध्वियों का जीवन अत्यन्त संयत, तपोमय, साधना-प्रधान और कष्टपूर्ण या परीषहपूर्ण रहता है। साधुओं और साध्वियों को इनके अनुसरण में, पालन में और इनकी चुनौतियों का उत्तर देने में जिस प्रकार के उच्च साहस, आत्म-नियंत्रण और सहिष्णुता एवं साहस का परिचय देते देखा जाता है—उसे दृष्टिगत रखते हुए विश्व में ये अद्वितीय श्रेणी में स्थित होते हैं। कठोरतम तप और संयम इनके तेजोमय व्यक्तित्व को प्रखर और सशक्त बना देते हैं। स्थानांगसूत्र में साधु-साध्वियों के लिए सत्रह प्रकार के संयमों का विधान मिलता है। अहिंसा को उसके सूक्ष्मतम स्वरूप में अपनाना और उसका पूर्णतः निर्वाह करना असाधारण-सा प्रतीत होता है, किन्तु जैन साधु-साध्वी इसका पालन संयम-निर्वाह के माध्यम से सम्भव बना लेते हैं। जीव अनेक प्रकार के माने गये हैं—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) जलकाय, (४) तेजस्काय (अग्नि के जीव), (५) वनस्पतिकाय, (६) द्वीन्द्रिय जीव, (७) त्रीन्द्रिय, (८) चतुरिन्द्रिय, (९) पंचेन्द्रिय आदि जीवों को कष्ट न पहुँचाना—अहिंसा का अभिन्न तत्त्व है। जैन साध्वियों के लिए पालनीय सत्रह संयमों में से ९ संयम नियम इन जीवों को कष्ट न पहुँचने से सम्बन्धित ही हैं। इन संयम सम्बन्धी नियमों की पालना ही उन्हें अहिंसा की असम्भव-सी प्रतीत होती सीमा तक उसके पालन की अद्‌भुत समर्थता साधु-साध्वियों को प्रदान करती है। अन्य संयम हैं—(१०) बहुमूल्य वस्त्र, उपकरणादि से विरक्ति, (११) प्रेक्ष संयम—अर्थात् साध्वियों के अपने वस्त्रादि सावधानीपूर्वक व्यवस्थित रखना

चाहिए। (१२) उपेक्षा—अर्थात् असंयम-प्रेरक कार्यों के प्रति उपेक्षा करना, (१३) परिष्ठापनिक संयम—अनुपयोगी उपहार को निर्दोष स्थल पर विसर्जित करना। (१४) प्रमार्जन संयम—वस्त्रादिक को विधिपूर्वक स्वच्छ करना, (१५) मनःसंयम, (१६) वाणी-संयम, और (१७) काया संयम।

साधुजनोचित जीवन-यापन सुगम नहीं होता। यह कंटकाकीर्ण पथ पर गमन करने के समान होता है। परम पद—मोक्ष के लक्ष्य के लिए साधना और तप का जो मार्ग अपनाया जाता है, उसमें पद-पद पर अनेक परीषह मिलते हैं, यातनाएँ और कष्ट मिलते हैं। इन सभी परीषहों को सहिष्णुता के साथ, समता भावना के साथ पार करने वाले ही अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होते हुए लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। सच्चे साधु-साध्वी परीषह-सहन की अद्‌भुत क्षमता और साधारण विशाल हृदयता रखते हैं। वे कष्टदाता के प्रति भी अपने मन में अमंगल भाव नहीं लाते। उत्तराध्ययन में इन परीषहों के २२ प्रकारों का उल्लेख हुआ है, वे हैं—

(१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण (ग्रीष्म), (५) डाँस-मच्छरादि, (६) वस्त्रों की न्यूनता, (७) अरति, (८) स्त्री/पुरुष, (९) विहार, (१०) एकान्त, (११) शय्या, (१२) कठोर वचन, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृण स्पर्श, (१८) मैल, (१९) सत्कार, (२०) पुरस्कार, (२१) प्रज्ञा, (२२) दर्शन-ज्ञान आदि।

स्त्री-स्वभाव ही सहिष्णुतापूर्ण हुआ करता है। नारी स्वभावतः सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति होती है। अस्तु, साध्वियाँ इन परीषहों को बड़ी सुगमता के साथ पार कर लेती हैं और हर कसौटी पर खरी उतरती रही हैं। यही नहीं, ये साधुओं को भी जब विचलित देखती हैं तो उन्हें पुनः सन्मार्ग पर लाने का प्रयास करती हैं। परीषह संख्या ८ इस दृष्टि से विशेष ध्यातव्य है। स्त्री के लिए पुरुष और पुरुष के लिए स्त्री की कामना स्वाभाविक है। साधु जीवन में इस कामना पर विजय प्राप्त करने की परमावश्यकता रहती है। इस परीषह के विषय में दशवैकालिक में वर्णन आया है कि यदि किसी साधु का मन किसी स्त्री पर आसक्त हो जाये तो उसे यह विचार करना चाहिए कि वह मेरी नहीं है और मैं भी उसका नहीं हूँ। ऐसा ही साध्वी के साथ भी होना चाहिए। रथनेमि ने जब राजीमती को एकान्त में देखा तो वह उस पर मुग्ध हो गया। रथनेमि को स्त्री परीषह त्रस्त करने लगा। वह इस परीषह पर विजय प्राप्त न कर पा रहा था। राजीमती ने पुरुष परीषह पर विजय प्राप्त कर रखी थी। उसने रथनेमि को ललकारा और अपने सदुपदेशों द्वारा उसे सन्मार्ग में स्थिर कर दिया।

विशेष उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण आगम साहित्य में एक भी वृत्तान्त ऐसा नहीं उपलब्ध होता जिसमें किसी साध्वी को पुरुष परीषह से पराजित होना पड़ा हो, या पुरुष की सत्प्रेरणा से ही कोई साध्वी सन्मार्ग पर आयी हो। साध्वी जीवन की पवित्रता के यश की पताका ऐसे तथ्यों से और भी अधिक उज्ज्वल होकर और अधिक ऊँची उठ जाती है।

साध्वी जीवन और तप

जैन साधु-साध्वी कठोरतम तपश्चर्या के लिए भी बहुत विख्यात हैं। इस तप-जनित कष्ट को सहने की अद्‌भुत क्षमता साध्वियों में रही है। तप की महिमा का बखान भी आगम साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। अनेक साध्वियाँ इस महिमा से मण्डित वर्णित हुई हैं। बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार के तपों में साध्वियाँ अग्रणी रही हैं। बाह्य तप में अनशन प्रमुख है। बाह्य तप ६ प्रकार के हैं। इनमें से चार आहार सम्बन्धी हैं और अन्तिम दो शारीरिक यातना विषयक।

(१) अनशन तप—अनशन शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि अशन का अर्थ है आहार ग्रहण करना और अनशन का अर्थ है आहारादि का परित्याग। आहार-परित्याग सम्बन्धी अनशन तप एक दिन का या कुछ दिनों का भी होता है और जीवन पर्यन्त चलने वाला अनशन भी होता है। अनशन तप के लिए विख्यात तपस्विनी साध्वियों में काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा आदि साध्वियों का विशेष उल्लेख अन्तकृद्‌दशासूत्र में मिलता है। साध्वियों को उपाश्रय के भीतर रहकर ही अनशन व्रत रखना समीचीन बताया गया है। नारी के योग्य शील-रक्षा की दृष्टि से ही ऐसा विधान किया गया था। यही कारण है कि भिक्खु प्रतिमा सम्पूर्णत: साध्वी द्वारा नहीं की जा सकती क्योंकि ७ प्रतिमा तक उपाश्रय में हो जाती है। आगे की प्रतिमा ग्राम के बाहर जाकर पूर्ण की जाती हैं और साध्वियों को इसकी अनुमति नहीं होती। वे ७ प्रतिमा तक ही इस तप को साध सकती हैं।

(२) ऊनोदरी तप—इसका साधारण अर्थ है भूख की तुलना में अल्प मात्रा में आहार ग्रहण करना। इसी प्रकार तप के अन्तर्गत भिक्षाटन को भी सीमित कर दिया जाता है। भिक्षाटन के लिए समय भी निश्चित और सीमित कर लिया जाता है और क्षेत्र को भी सीमित कर लिया जाता है। आहार स्वत: ही अल्प मात्र का हो जाता है।

(३) भिक्षाचर्या और साध्वी—साधुओं की भाँति साध्वियाँ भी आहारादि की प्राप्ति भिक्षाचर्या के माध्यम से ही करती हैं। इस हेतु भी आगमों में नियम-उपनियमों का विधान मिलता है। साध्वी अपनी आवश्यकता की पूर्ति किसी एक ही गृहस्थ से पूर्ण नहीं कर सकती। थोड़ी-थोड़ी मात्रा में उसे अनेक गृहस्थों से आदर लेना होता है। गाय भूमि पर उगी घास खाती है, किन्तु सारे मैदान में घूम-घूमकर थोड़ा-थोड़ा घास सभी स्थलों से चरती है। किसी एक स्थल की सारी घास जड़ तक चर जाती हो—ऐसा नहीं होता। इस समता के कारण भिक्षाचर्या को 'गोचरी' भी कहा जाता है। पुष्पों से भ्रमर द्वारा रस-चयन की प्रक्रिया से भी भिक्षाचर्या की समता रहती है, अतः इसे मधुकरी (मधुकर-वृत्ति) भी कहा जाता है। भ्रमर थोड़ा-थोड़ा-सा रस अनेक पुष्पों से ग्रहण कर अपनी आवश्यकता भी पूर्ण कर लेता है और किसी भी पुष्प को सर्वथा नीरस नहीं कर देता है। साध्वी भी अपनी आवश्यकता-पूर्ति का पूरा बोझ किसी एक गृहस्थ पर नहीं डालती।

आहर-ग्रहण के विषय में शास्त्रों में कुछ मर्यादाएँ स्थिर की गयी हैं। उनमें से प्रमुख उल्लेखनीय हैं—

- दो कोस के भीतर-भीतर के क्षेत्र से प्राप्त आहार कल्पनीय है।
- मात्रा में अधिक और अधिक सरस आहार वर्जित है, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य में बाधक होता है।
- दिन में अनेक बार भोजन करना और कामोद्दीपक आहार भी वर्जित है।
- भोजन के स्वाद में भी साध्वी की आसक्ति नहीं रहनी चाहिए।
- प्राप्त भोजन में अतिरिक्त द्रव्य (नमक, नीबू, चीनी, सुगंधादि) मिलाकर उसे स्वादिष्ट और रुचिकर बनाने का प्रयास भी निषिद्ध है।
- जिस रूप में मिले उसी रूप में आहार को रखा जाना चाहिए।
- प्राप्त आहार की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।
- साधु-साध्वियों को अल्पाहारी होना चाहिए। विधान है कि साधारण आकार के ३२ ग्रास का सेवन (अधिकतम) करना चाहिए। आठ ग्रास ग्रहण करने वाली साध्वी 'अल्पाहारी' कहलाती है। बारह ग्रास खाने वाली साध्वी को अवमौदरिक और २४ ग्रास सेवन करे तो उसे अवमौदरिक कहा जाता है।

(४) **रस-परित्याग तप**—साधु-साध्वियाँ स्वादानन्द का उपभोग नहीं करते। दूध, दधि, घृत आदि सरस पदार्थों का परित्याग इस तप के अन्तर्गत आता है। अकारण इनका सेवन साधु-साध्वियों के लिए निषिद्ध माना गया है।[१] स्वाद में रुचि उत्पन्न ही न हो—इस दृष्टि से इस तप के अधीन यह विधान किया गया है कि साधु-साध्वी बिना रचानुभव किये आहार को सीधा निगल ही जायें जैसे सर्प बिल में सीधा प्रविष्ट हो जाता है।[२]

(५) **काय-क्लेश तप**—काया को क्लेश या कष्ट में डालना भी एक अत्यन्त दूभर तप है। स्वैच्छिक रूप से दैहिक सन्ताप का वरण किया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि शास्त्रों द्वारा विहित किये गये काय-क्लेशों को ही अपनाया जाना चाहिए। विभिन्न कष्टकर आसन करना, केश लोचनादि इसी प्रकार के काया-क्लेश हैं।

(६) **संलीनता तप**—शान्तैकान्त स्थल पर एकाकी रहना भी एक प्रकार का तप ही होता है। स्वाध्याय और चिन्तन-मनन के लिए ऐसा वातावरण सर्वथा निरापद रहता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसका निर्देश साधुओं के लिए तो किया गया है, किन्तु साध्वियों के लिए इसका निषेध है। अपवादस्वरूप शास्त्रविहित रीति से साध्वियाँ भी इस तप को अपना अवश्य सकती हैं, किन्तु साधारणत: नहीं।

आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप आन्तरिक साधना के रूप होते हैं। बाह्य तप का सीधा सम्बन्ध देह से होता है और ये तप अन्य जनों के लिए भी दृश्यमान होते हैं। इसके विपरीत आभ्यन्तर तप का सम्बन्ध होता है—साधक की आत्मा से। ये तप आत्मोत्थान में सहायक होते हैं, आत्मा की उज्ज्वलता को बढ़ाते हैं। संख्या में ये भी ६ प्रकार के ही होते हैं—

(१) प्रायश्चित्त	(२) विनय
(३) स्वाध्याय	(४) ध्यान
(५) कायोत्सर्ग	(६) संलेखना

---

१. रसा पगामा न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्द ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥ —**उत्तराध्ययन**

२. बिलमिव पन्नगमूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेह। —**भगवती सूत्र**

(१) प्रायश्चित्त तप

अपराध और अपकर्म से आत्मा अपावन होती है। अपराध की शुद्धि जिस साधन से होती है—वह प्रायश्चित्त होता है। दीक्षाकाल में आत्मा का पवित्र-निष्पाप होना आवश्यक होता है। इस सन्दर्भ में भी प्रायश्चित्त की बड़ी महत्ता रहती है। कुल मिलाकर प्रायश्चित्त दस प्रकार के माने गये हैं—

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) तद्भय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद (अर्थात् दीक्षा समय को कम करना), (८) मूल (पुनः दीक्षा), (९) अवस्थापन (दीक्षा लेने से पुनः योग्यता प्राप्त कर लेने तक), (१०) पारांचिक —यह कठोरतम प्रायश्चित्त माना गया है जो ६ माह से १२ वर्षों तक के तप का होता है। इसके बाद पुनः दीक्षा होती है। साधु-साध्वी जीवन में जो दोष हो जाता उसका प्रायश्चित्त आरोपण कहा जाता है। इस प्रायश्चित्त की अवधि ५ दिन से ६ माह की अवधि के मध्य की हो सकती है। प्रवर्तिनी द्वारा दिया गया उपालम्भ स्वीकार करने वाली साध्वियों का उल्लेख भी ग्रन्थों में मिलता है प्रवर्तिनी चन्दनबाला के उपालंभ पर आत्म निरीक्षण करते हुए महासती मृगावती ने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया। और उन साध्वियों का भी जिन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया था। दोष की आलोचना नहीं करने वाली साध्वियों का वर्णन भी निरयावलियाँ में आता है।

(२) विनय तप

जैन परम्परा में विनयशीलता की बड़ी महत्ता है। प्रथमतः गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा का होना साधु-साध्वियों के लिए भी और गृहस्थों के लिए भी अत्यावश्यक माना गया है। गुरु शिक्षा देते हैं। इस क्रम में वे कठोर भी हो सकते हैं और मृदुल-मधुर भी, परन्तु शिष्यों में सदा विनय भाव बना रहना चाहिए। साध्वियों को प्रवर्तिनी के साथ ऐसी ही श्रद्धा और विनय रखनी चाहिए। गुरु के आगमन पर सम्मान के साथ उठ खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, सेवा करना, सम्मान करना आदि विनय के विभिन्न स्वरूप हैं।

(३) वैयावृत्य तप

यह बड़ा महिमामय तप है जिससे तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन होता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत अन्य जनों को संयम में प्रवृत्त करना आता है। गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को आहार लाकर देना भी इस तप के अन्तर्गत माना जाता है।

(४) स्वाध्याय तप

साध्वी जीवन में स्वाध्याय का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस तप द्वारा ज्ञानवानता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है और आत्मा की पवित्रता का विकास होता है। स्वाध्याय साध्वियों के दैनन्दिन क्रम का एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक भाग है। साधु-साध्वियों की दिनचर्या स्थिर करने के लिए दिन का समय चार भागों में विभक्त किया गया है और इसी प्रकार रात्रिकाल के भी चार भाग किये गये हैं। दिन के प्रथम भाग में स्वाध्याय (वाचना), द्वितीय भाग में ध्यान, तृतीय भाग में भिक्षाटन और चतुर्थ भाग में स्वाध्याय करने के निर्देश हैं। रात्रि के प्रथम भाग में भी स्वाध्याय, द्वितीय भाग में ध्यान, तृतीय भाग में निद्रा और चर्तुथ भाग में स्वाध्याय करने का विधान है। स्पष्ट है कि दिन-रात में बारह घण्टे स्वाध्याय हेतु आरक्षित कर दिये गये हैं।

(५) ध्यान तप

किसी एक विचार बिन्दु पर एकाग्र चित्त होना—ध्यान है। ध्यान के चार भेद हैं—

(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान, (४) शुक्लध्यान।

शुक्लध्यान उत्तम है जो कर्मबन्धनों का क्षय कर दु:खों को नष्ट करता है।

(६) कायोत्सर्ग तप

यह समाधि का एक रूप है। शरीर से ममता का परित्याग कर स्थिरता में रहना कायोत्सर्ग है।

तप की महत्ता आगमों में बड़ी श्रद्धा के साथ स्थापित की गयी है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार—

"ज्ञान से पदार्थ को जाना जाता है, दर्शन से श्रद्धा होती है, चारित्र से कर्म आस्रव की रोक होती है और तप से शुद्धि होती है।"

आगमकालीन नारी : श्रमणी संदर्भ से

साध्वी जीवन आगमकालीन नारी की पवित्रता और दृढ़ता का जीवन्त एवं उज्ज्वल प्रदर्शन है। इस रूप में नारी की संयतता, साधनामयता, व्रतशीलता, विनयशीलता, ज्ञानाकांक्षा, आत्मोत्थानरतता, अनुशासनबद्धता, इन्द्रिय नियंत्रण और तप:पूतता—सभी कुछ नारी की गरिमा को उच्च-अति उच्च करने में अपना-अपना योगदान करते थे।

यह युग ऐसा था जिसमें अधिकार क्षेत्र की दृष्टि से नर-नारी में कोई भेद न था। दोनों को समानाधिकार प्राप्त थे। बौद्ध परम्परा की भाँति जैन परम्परा में नारी को लेकर प्रतिबन्ध नहीं रहे। साधु (पुरुष) की भाँति ही साध्वी (नारी) को भी मोक्ष प्राप्ति का अधिकार रहा और उसके लिए सभी प्रकार के उद्यम करने की स्वाधीनता उन्हें थी। काली, सुकाली आदि को मोक्ष प्राप्त हुआ। राजीमती को कैवल्य-प्राप्ति हुई। सामान्यतः साधु-साध्वियों के आचार-व्यवहार में, नियमों में एकरूपता मिलती है। यह नर-नारी समकक्षता का सबल प्रतीक है। यत्किंचित् रूप में जो अन्तर दृष्टिगत होते हैं वे नारी पर प्रतिबन्ध डालने के प्रयोजन से नहीं हैं, अथवा उनका प्रयोजन नारी की अपेक्षा नर को श्रेष्ठ या उच्चतर स्थान पर प्रतिष्ठित करने का नहीं है। वस्तुतः शरीर-संरचना में जो प्राकृतिक रूप से पुरुष और स्त्री में अन्तर है, उससे दोनों की मानसिकता और सामाजिक स्थितियों में कुछ अन्तर आ जाता है। इसी आधार पर साधु-साध्वियों के नियम-व्यवस्था में कहीं-कहीं कुछ-कुछ अन्तर आ जाता है, यह स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए साध्वी के लिए एकान्त में एकाकी रहना, उपाश्रय से बाहर अन्य गण में ज्ञान-प्राप्ति के लिए अकेली जाना, सूर्य आतापना लेना, ग्राम के बाहर कायोत्सर्ग करना, वस्त्रपात्ररहित रहना, विकट दिशा से विहार करना आदि निषिद्ध है; किन्तु ऐसे निषेध साधुओं के लिए नहीं है। सुरक्षा की दृष्टि भी ऐसे निषेधों के लिए रही है। अन्यथा स्त्री-पुरुष में असमानता की स्थापना करना या इनमें ऊँच-नीच उत्पन्न करने का प्रयोजन इन अन्तरों से सिद्ध नहीं होता।

वास्तव में साधु-साध्वियों में संघर्ष नहीं रहा—वर्चस्व को लेकर। कोई श्रेष्ठ और कोई निम्नतर नहीं रहे। साधु-संघ के प्रमुख आचार्य होते हैं—साध्वी-संघ में प्रवर्तिनी को यह दर्जा प्राप्त रहता है। यह भी माना जाता है कि प्रवर्तिनी के शासन के बावजूद आचार्य ही दोनों संघों के प्रमुख होते हैं। यह मात्र औपचारिकता है, अन्यथा प्रवर्तिनी को आचार्य की भाँति ही अपने संघ को अनुशासित एवं व्यवस्थित रखने का पूर्ण अधिकार रहता है। आचार्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। प्रवर्तिनी-संघ की सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न अधिकारिणी होती है। प्रवर्तिनी के शासन में स्वायत्त रूप में ही संघ (श्रमणी-संघ) का संचालन होता है। जिस प्रकार की व्यवस्थाएँ और पद्धतियाँ, नियमादि साधु-संघ के होते हैं, उसी प्रकार सारी व्यवस्था श्रमणी-संघ में रहती है। इनके अपने सभी पदाधिकारी होते और प्रवर्तिनी सशक्त अनुशास्ता का स्वरूप रखती है। प्रवर्तिनी ही दीक्षा प्रदान कर साध्वियों को श्रमणी-संघ में सम्मिलित करती है। परिस्थितिवश यदि आचार्य द्वारा दीक्षा प्रदान की जाती है तो भी साध्वी को

साध्वी-संघ में ही सम्मिलित कर उसे प्रवर्तिनी को सौंप दिया जाता है। अनेक प्रसंगों में ऐसी नवदीक्षिता को प्रवर्तिनी द्वारा पुनर्दीक्षित किया गया है। तीर्थंकर द्वारा दीक्षित की गयी साध्वियों की भी ऐसी पुनर्दीक्षा के उदाहरण आगमों में उपलब्ध होते हैं।

अनेक प्रसंग तो ऐसे भी हैं जो साधु-साध्वी की सैद्धान्तिक समानता होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से साधु की अपेक्षा साध्वी को श्रेष्ठतर स्थिर कर देते हैं। साधु-साध्वियों के लिए मैथुन, अपितु मैथुन की इच्छा ही सर्वथा वर्जित है। साधुओं के लिए कहा गया है कि जो साधु-साध्वियों के साथ मैथुन की इच्छा रखता है, वह संसार-सागर के पार नहीं जा सकता। यह भी कहा गया है कि वह साधु-वेश में गृहस्थ के समान है, उसका साधुत्व खण्डित हो जाता है। उल्लेखनीय है कि ऐसा कोई कथन साध्वियों के लिए नहीं किया गया है। इसकी आवश्यकता ही अनुभव नहीं की गयी। साध्वियाँ चरित्र-पतन की ओर किंचित् मात्र भी उन्मुख नहीं होती थीं। उनका संयम में दृढ़ होना, चरित्र में स्थिर और पतन से दूर होना—इससे स्वयं ही आभासित हो जाता है। यही नहीं, चरित्र शिथिल होते साधुओं को साध्वियों ने सहारा देकर चरित्र और संयम में पुनः स्थिर करने की सफल चेष्टा के भी अनेक प्रसंग मिलते हैं। राजीमती ने इसी प्रकार रथनेमि का पतन से उद्धार किया था। सूत्रकृतांग में एक दृष्टान्त आता है कि एक पति-पत्नी युग्म ने एक साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। कालान्तर में साधु पति अपनी पूर्व पत्नी—साध्वी के प्रति अनुरक्त हो गया। साध्वी को यह ज्ञात हुआ तो उसने भक्त प्रत्याख्यान करके देह त्याग दी, किन्तु उसने साधु को पथच्युत न होने दिया। इस उत्सर्ग के विषय में जब साधु को ज्ञात हुआ तो वह धर्म में स्थिर हो गया और उसने भी भक्त प्रत्याख्यान द्वारा अपनी देह त्याग दी। इन आख्यानों से ज्ञात होता है कि साधु तो कभी-कभी विचलित हो भी जाते थे, किन्तु साध्वियों के साथ ऐसा कभी भी नहीं होता था। नारी-निन्दा गृहिणी रूप में तो मिल सकती है, किन्तु साध्वी रूप में नहीं। साध्वी रूप में नारी अपनी पावनता, तपःपूतता, साधना और संयम दृढ़ता के लिए सदा श्रद्धेया और वन्दनीय रही है, पूज्य रही है।

इस काल की नारियों की यह विशेषता भी दृष्टव्य है कि वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक धर्मचेता होती हैं। प्रत्येक काल में साध्वी-श्राविकाओं की संख्या साधु-श्रावकों की संख्या से कहीं अधिक पायी गयी है। इससे उनकी धर्मोन्मुखता की तीव्रता प्रमाणित होती है। इन सारी उत्तमताओं के बावजूद भी, इस युग में भी

नारी की अपेक्षा पुरुष की श्रेष्ठता स्थापित करने की चेष्टाएँ रहीं अवश्य हैं। पुरुष सत्ता को बनाये रखने की चेष्टा थी यह, जिनका उल्लेख आगमों में भी मिलता है। साध्वी के लिए अनिवार्यता स्थिर की गयी है कि वह सभी साधुओं की वन्दना करे। चाहे साधु नवदीक्षित ही क्यों न हो और साध्वी कितनी ही वरिष्ठ हो तथापि वन्दन आवश्यक माना गया है। पाँच वर्ष की दीक्षा का साधु भी आचार्य हो सकता है और श्रमण-संघ का अनुशास्ता बन सकता है। वरिष्ठता प्राप्त प्रवर्तिनी भी ऐसे आचार्य के अधीन मानी जाती है। कोई साध्वी कभी आचार्य पद पर आसीन नहीं हो सकती। तीर्थंकरों के गणधर सभी पुरुष थे—एक भी नारी को उनमें स्थान प्राप्त नहीं हुआ। २४ तीर्थंकरों की समृद्ध परम्परा में मात्र एक नारी मल्लीकुमारी ही तीर्थंकर हुईं। ज्ञाताधर्मकथा में भगवान मल्लीनाथ की नारी रूप में महिमा का गान तो हुआ है, किन्तु मल्लीनाथ के माध्यम से ही नारी का हेटापन और हीनता भी प्रकट की गयी है। इसमें उल्लेख मिलता है कि जो साधु मायावी होता है, कपट करता है, उसे स्त्री-जन्म प्राप्त होता है। मल्लीनाथ के पूर्वभव में भी ऐसा ही हुआ। अतः उन्हें स्त्री जीवन मिला। इस उल्लेख से नारी की हीनता ही स्थापित हुई है। इन सभी हीनत्व स्थापना के कारकों के होते हुए भी साध्वियों का जो स्वार्जित वर्चस्व था, उसकी स्वाभाविक आभा से वे मंडित रहीं। आगमकालीन नारी का एक उज्ज्वल और पवित्र पक्ष साध्वी-आचरण के माध्यम से प्रकट हुआ है।

आगमयुगीन नारी-समाज की एक शाखा के रूप में साध्वी-समुदाय की जो विशेषताएँ रही हैं—उनसे समग्र नारी जाति को एक अनुपम उज्ज्वलता प्राप्त हुई है। तत्कालीन स्त्रियों में अद्‌भुत पावनता, नियमबद्धता, अनुशासन-पालन और शुचिता का भाव रहा। धर्माचरण के साथ-साथ धर्म-प्रसार की सद्‌प्रवृत्ति भी रही। इस दृष्टि से साध्वी उल्का की भाँति होती थी जो स्वयं भी प्रकाशपूर्ण होती, दीप्तिमय होती और अन्य जनों को भी आलोक प्रदान करती है। साध्वियों को स्वच्छन्द विचरण का अधिकार था और इस प्रकार स्थान-स्थान पर धर्म-प्रचार करना उनकी अबाध प्रवृत्ति थी। अज्ञ जनों के मन में धर्म की ज्योति जगाना और धर्माचारियों के धर्मदीप को उद्दीप्त करने की महती सामाजिक भूमिका का निर्वाह वे किया करती थीं। उन्हें स्वाधीनता प्राप्त थी कि वे स्वधर्म-सिद्धान्तों को भली प्रकार से प्रतिपादित करें और जनमानस में उनके प्रति आस्था और विश्वास स्थापित करें। अन्य धर्म के अनुयायियों के मन में जैनधर्म के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का अधिकार उन्हें प्राप्त था। ज्ञाताधर्मकथांग उन्हें यह अधिकार भी

देता था कि वे अन्य आस्था-सम्पन्न स्त्रियों को दीक्षार्थ प्रेरित करें और प्रवर्तिनी को अधिकार था कि ऐसी स्त्रियों को दीक्षा प्रदान करें। शिष्याओं को वे स्वाध्याय करातीं और वाचना देती थीं। इन सभी स्वाधीनताओं और अधिकार-सम्पन्नता के साथ-साथ साध्वियों पर नियमों और कठोर अनुशासन का अंकुश भी रहता था। नियम-विरुद्ध आचरण करने पर प्रवर्तिनी सम्बन्धित साध्वियों से कारण पूछ सकती थी, प्रायश्चित्त निर्धारित करती। उनकी स्वाधीनता कभी स्वेच्छाचारिता का रूप नहीं ले सकती थी। इसी कठिन अनुशासन के सहारे साध्वियाँ साधना पथ का अनुसरण कर अपने चरम लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती थीं।

अनुशासनबद्धता की छाया में ही साध्वियों के कर्त्तव्य पनपते थे। कदाचित यही कारण है कि उनके कर्त्तव्य अधिकांशत: नकारात्मक एवं निषेधपरक हैं। आगम ग्रन्थों में जो विधान किये गये हैं उनका प्रयोजन साध्वियों के साधुत्व को सुदृढ़ बनाने का ही मूलत: रहा। इनके अनेक ऐसे कर्त्तव्य हैं जो उनके शील-निर्वाह की दृष्टि से हैं; यथा—

- किसी भी स्थान पर बार-बार नहीं आना-जाना।
- विकट स्थानों पर गमनागमन नहीं रखना।
- बाजार में स्थित किसी उपाश्रय में नहीं ठहरना।
- भिक्षा के लिए, शौचादि के लिए अकेली न जाना।
- पुरुषों; साधुओं तक का भी परिचय प्राप्त न करना आदि।

इसी प्रकार साध्वियों के लिए कुछ कर्त्तव्य-विधान ऐसे भी हैं जिनसे उनमें परिग्रह की प्रवृत्ति, लोभ-लालच के विकार स्थान ग्रहण न करें। आन्तरिक निर्मलता के विकास के लिए यह आवश्यक रहा। उनके लिए यह विधान था कि वे किसी गृहस्थ पर बोझ न बनें। सम्बन्धित कतिपय कर्त्तव्य हैं—

- गृहस्थों से थोड़ा-थोड़ा-सा ही शुद्ध आहार लेना।
- आवश्यकता से अधिक वस्त्र-उपकरणादि न रखना।
- आवास पूर्व गृहस्थ की आज्ञा लेना।
- ऐसे गृहस्थ से २७ प्रकार की वस्तुएँ नहीं लेना।
- जो देना न चाहें—ऐसे गृहस्थों से आहार न लेना।

विकारों से स्वयं को दूर रखना भी साध्वियों का परम कर्त्तव्य था। उनके लिए आवश्यक था कि—

- किसी पर क्रोध न करे। द्वेष या निन्दा न करे।
- नये कलह उत्पन्न न करना।
- भिक्षादाता अथवा प्राप्त आहार की निन्दा न करना।
- जनपद सम्बन्धी बातें न करना। राजनीति से दूर रहना।
- तंत्र-मंत्र, वशीकरण आदि का प्रयोग न करना।
- ऐसे स्थान पर भिक्षार्थ भी न जाना जहाँ गुप्त राजनैतिक चर्चा होती हों।
- ५२ अनाचारों से दूर रहना।
- मिथ्या वचन, दूसरों की अवहेलना करने वाले वचन, रोषोत्पादक वचन, कटु वचन, कठोर वचन, गृहस्थावस्था के पारिवारिक वचन (माता, पिता आदि) ये ६ कुवचन न बोलना।

साध्वियों का मन विचलित हो जाय, वे पुनः संसाराभिमुख हो जायें—इससे बचने के लिए भी कुछ निषेधों का विधान उनके लिए पालनीय रहा; जैसे—

- पुष्पमाला, गंध, अलंकारों का प्रयोग न करना।
- ब्रह्मचर्य को शिथिल करने वाली प्रवृत्तियाँ न रखना।
- पुरुषों का परिचय प्राप्त न करना।
- नृत्य-नाटक-संगीतादि न देखना-सुनना।

विशेषता यह है कि इनमें से कोई भी प्रतिबन्ध राज्य द्वारा नहीं लगाया गया। ये तो संघ की अपनी व्यवस्था थी जो आगमों के अनुसरण में थी। इनकी पालन करवाने की भी सुदृढ़ व्यवस्था थी। सुनिश्चित रूप में इनका निर्वाह कराया जाता था। इस संघ-शासन के अतिरिक्त भी अन्तःप्रेरणा से साध्वियाँ स्वच्छोपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का पालन करती रही थीं। यह स्वानुशासन का मार्ग अपनाकर वे सामाजिक मंगल करने के साथ-साथ स्वलक्ष्याभिमुख भी बनी रहती थीं।

संघ-व्यवस्था और नारी

जैन तीर्थंकरों ने चतुर्विध धर्म-संघ स्थापित किये थे। आगमों में इसका उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन सूत्र में, ज्ञाताधर्मकथांग, समवयांगसूत्रम् आदि में वर्णित है कि भगवान पार्श्वनाथ के संघ में १६ हजार साधु, ३८ हजार साध्वियाँ, एक लाख ६४ हजार श्रावक और ३ लाख २७ हजार श्राविकाएँ थीं। भगवान महावीर के काल में १४ हजार श्रमण, ३६ हजार श्रमणियाँ, १ लाख

५९ हजार श्रावक और ३ लाख १८ हजार श्राविकाएँ थीं। भगवान महावीर ने पूर्ववर्ती संघ-व्यवस्था में अनेक सुधारात्मक परिवर्तन भी किये। संघ-शासन की बागडोर स्वयं में केन्द्रित न रखकर उसका विकेन्द्रीकरण किया। श्रमणों-उपासकों, श्रमणियों-उपासिकाओं को ही संघ-व्यवस्था सौंप दी गयी। तत्कालीन श्रमण-संघ के प्रधान इन्द्रभूति और श्रमणी-संघ की प्रधान आर्या चन्दना थीं।

श्रमणी-संघ की प्रधान प्रवर्तिनी कहलाती थी। उसे यह अधिकार भी था कि नियम-विरुद्ध गतिविधियों में रुचि लेने पर वह साध्वी को संघ से निष्कासित भी कर सकती थी। आगमों में कोई घटना ऐसी मिलती नहीं है कि किसी साध्वी को बहिष्कृत किया गया हो। यह इस तथ्य को पुष्ट करता है कि प्रवर्तिनी बड़ी कौशल, योग्यता और निष्ठा के साथ संघ का संचालन करती थीं, उनका शासन सुदृढ़ रहा करता था। साधु-संघ से बहिष्कृत साधुओं के अन्य संघ में प्रवेश के वृत्तान्त अवश्य कुछेक मिल जाते हैं। गोशालक, जमाली आदि के ऐसे ही उद्धरण हैं।

जैसा कि पूर्व वर्णित है श्रमणी-संघ में किसी भी नारी को प्रवेश प्राप्त हो सकता था। धर्म, जाति, कुलादि सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध न था। दीन-हीन, दुःखिया नारियाँ भी जैन सिद्धान्तों में आस्था और जैनाचार के अनुसरण के आधार पर स्त्रियों का संघ-प्रवेश हो जाता था। यहाँ उसे सामाजिक सुरक्षा भी मिल जाती थी। अपमान, प्रताड़ना, यातना भरे जीवन से छुटकारा मिल जाता था। संघ-प्रवेश इस प्रकार नारी के लिए पीड़ा-मुक्ति का स्रोत रहा करता था। इस अमोघ उपचार और साधना का यह प्रतिफल रहा कि निराश और दुःखी नारियों द्वारा आत्महत्या की कोई घटना इस युग में नहीं हुई। उसे संघ में स्वाधीन और ससम्मान जीवन जीने का अवसर मिल जाता था, आत्मोत्थान का अवसर मिल जाता था। संघ एक निरापद आश्रय था। इन्हीं कारणों से इस युग में श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियों की और श्रावकों की अपेक्षा श्राविकाओं की संख्या भी आशातीत अधिक रहा करती थीं। कोमल, उदार, मानवीय मन की स्वामिनी होने के कारण धर्म के प्रति नारी का एक सहज आकर्षण भी रहता ही था।

आगमयुगीन नारी : धार्मिक क्षेत्र

(ख) श्राविका रूप

चतुर्विध धर्म-संघ के श्रमण, श्रमणी और श्रावक (उपासक) के पश्चात् परिगणित वर्ग—'श्राविका' की धर्मक्षेत्र में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका सदा ही रही है। जैनधर्म में आस्था रखने वाली महिलाएँ जो अपने गृहस्थ जीवन के समानान्तर ही जैनाचार का पालन करती हैं, वे जैनधर्म की उपासिकाएँ हैं। ये उपासिकाएँ पंच अणु व्रत का पालन करती हैं, गुण व्रत और शिक्षा व्रतधारी होती हैं, प्रतिमा को धारण करती हैं। आगमकाल में भी श्राविकाओं का धार्मिक आचार सुदृढ़ होता था। वे अपने आचार की रक्षा के संग-संग अपने पति की आचार-शिथिलता को दूर करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। अनेक उपासिकाएँ ज्ञानी थीं, बहुश्रुत थीं। भगवान महावीर ने स्वयं भी जिज्ञासु श्राविकाओं के प्रश्नों के उत्तर देकर उनकी जिज्ञासा को तुष्ट किया था। संकट-निवारण के लिए वे तप करती थीं, पौषध करती थीं, दुष्प्रवृत्तियों और मनोविकारों से बचकर रहने का प्रयास करती थीं। श्राविकाएँ साधु-साध्वियों को आहारादि का दान करती थीं। यह उनके आचारयुक्त जीवन का एक अभिन्न अंग था। अपने इस धर्म सम्बन्धी स्वरूप के निर्वाह के साथ-साथ सेवा और कर्तव्य भावना के साथ श्राविकाएँ अपने गृहस्थ जीवन के सारे दायित्वों को पूर्ण करने में भी कोई शैथिल्य नहीं बरतती थीं।

आगमों में श्रावकाचार के प्रावधान सविस्तार वर्णित हैं, किन्तु पृथक् से श्राविकाओं के लिए कोई विधान व्यवस्थित रूप से वर्णित नहीं मिलता। इनके सम्बन्ध में यत्र-तत्र ही कुछ संकेत मात्र मिलते हैं। इनके लिए आगमों के निर्देश वैसे स्पष्ट और सविस्तार नहीं हैं, जैसे श्रमणियों के लिए हैं या श्रावकों के लिए हैं। बिखरे-बिखरे उल्लेखों को संयोजित करके ही श्राविका के लिए निर्देशों की एक रूप-रेखा निर्मित की जा सकती है। संकेतित होता है कि श्रावकों की अपेक्षा श्राविकाओं को आगमों में उपासना की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी का स्वीकार किया गया है। श्राविकाओं की भूमिका जितनी महत्तायुक्त है—उससे उनकी यह द्वितीय

श्रेणी औचित्यपूर्ण प्रतीत होती नहीं है। इतना अवश्य है कि अन्य धर्म-परम्पराओं की अपेक्षा जैनधर्म में साधु जीवन की अपेक्षा गृहस्थ जीवन की स्थिति गौण ही रही है। गृहस्थ जन के मन में सुखी गृहस्थी के प्रति रुचि और आकर्षण कम और श्रमण जीवन को अंगीकार करने की ललक ही अधिक रहती थी। वे साध लगाये रखते थे कि कब हमें भी दीक्षा प्राप्त हो और हम भी मानव जीवन के उस परम और चरम लक्ष्य-मुक्ति की साधना आरम्भ करें। सांसारिक जीवन का परित्याग कर गृहस्थ जन भगवती दीक्षा ग्रहण कर लेना चाहते थे कि मोक्ष प्राप्ति की योग्यता और पात्रता से भले ही हम पिछड़ भी जायें, तथापि देवलोक की प्राप्ति तो सम्भव हो ही जायेगी। अन्यथा यह नश्वर जीवन यों ही एक दिन मरण को समर्पित होकर अकारथ चला जायेगा। ऐसे जागतिक जीवन में नीरसता का अनुभव किया जाता था और पल-प्रतिपल उसे त्यागकर उच्च स्तर अपनाने की लालसा बनी रहती थी। एक प्रकार से श्रमण जीवन को प्राप्त करने के उद्देश्य से गृहस्थ जीवन एक सोपान (सीढ़ी) के समान ही रहा। जब तक व्यक्ति इस सोपान पर रहता तब तक की स्थिति के लिए भी धर्माचार का एक रूप आगमों में निरूपित हुआ, वही श्रावकाचार है। पृथक् रूप से श्राविका के सम्बन्ध में पृथक् उल्लेख न होते हुए भी केवल यही माना जा सकता है कि श्राविका के अधिकार-कर्त्तव्य और आचार भी लगभग वे ही हैं जो श्रावकों के हैं। यद्यपि अनेक संदर्भों में श्राविका का स्थान श्रावक की अपेक्षा अधिक सशक्त, श्रेष्ठ और उच्चस्तरीय दिखाई देता है।

आगम साहित्य में श्राविकाओं की चर्चा इस रूप में हुई है कि पति द्वारा श्रावक धर्म अंगीकार कर लिए जाने पर पत्नी भी श्राविका धर्म को अपना लेती थी। पति के परामर्श पर शिवानन्दा भार्या का श्राविका हो जाने का उल्लेख इसी स्थिति को पुष्ट करता है, किन्तु क्या इससे स्त्रियों की विवशता का आभास नहीं होता कि उन्हें भी चाहे-अनचाहे श्राविका धर्म स्वीकार करना पड़ा हो? प्राप्त सन्दर्भों से ऐसा मानना उपयुक्त नहीं होगा। क्योंकि आनन्द अपनी सहधर्मिणी से केवल यही कहता है कि मुझे यह व्रत रुचिकर लगे, तुम भी इस धर्म को सुनो और अच्छा रुचिकर लगे तो इसे ग्रहण करो। इससे स्पष्ट है कि अपनी मौलिक इच्छानुसार श्राविका धर्म का वरण करती थीं। उपासकदशांग सूत्र में भगवान के १० श्रावकों का वर्णन मिलता है। इन श्रावकों द्वारा १२ व्रतों को स्वीकार और ११ प्रतिमाओं को धारण किया गया और मरण के समय इन्होंने संलेखनापूर्वक जीवन का त्याग किया। देवताओं द्वारा ली गई परीक्षा में ये सफल रहे—यह उल्लेख भी मिलता है। ऐसा कोई विवरण श्राविकाओं के सम्बन्ध में नहीं

मिलता। भगवतीसूत्र में उल्लेख है कि उपासक और उपासिकाएँ ५ अणुव्रत, तीनगुण व्रत और चार शिक्षाव्रत का पालन करते थे। श्राविकाओं की पृथक् महत्ता की उपेक्षा प्रतीत होती है, किन्तु ऐसा सोद्देश्य नहीं हुआ—प्राय: यही माना गया कि 'उपासक' शब्द में उपासिका को भी सहज रूप में सम्मिलित कर लिया गया है।

आगमकाल में श्राविका या उपासिका के दो वर्ग थे—एक वर्ग में वे श्राविकाएँ थीं जो केवल धर्म को मानती थीं और दूसरे वर्ग की श्राविकाएँ बारह व्रतधारी होती थीं। श्राविका के लिए यह परमावश्यक था कि जैनधर्म के आचारों में उसकी आस्था हो, वह उन्हें माने। इसके अभाव में किसी स्त्री को श्राविका होने की पात्रता नहीं मिल पाती थी।

श्राविका के पंच अणु व्रत, गुण व्रत और शिक्षा व्रत

श्रमणियों के लिए जो पंच महाव्रत का विधान है—उसी का सूक्ष्म और सुगम रूप श्राविकाओं के लिए पंच अणु व्रत हैं। गृहस्थ जीवन की सीमाओं को दृष्टिगत रखते हुए इन व्रतों का सरलीकरण आवश्यक भी था कि श्राविकाओं के लिए इनका पालन सहज और संभाव्य हो जाये। श्राविकाएँ भी अणु व्रतों का पालन पूर्णत: श्रद्धा और निष्ठा के साथ करती थीं। ये अणु व्रत महाव्रतों की भाँति ही—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य हैं। मर्यादित रूप में निर्धारित इन व्रतों का साधारण स्वरूप श्राविकाओं द्वारा अनुपालनीय रहे—इसका विधान था। अर्थात् बारीकी तो इन व्रतों की उतनी न थी, जितनी श्रमणियों के लिए थी, किन्तु व्रतों का जो भी रूप उनके लिए बन गया था—उसके पालन की दृढ़ता में कोई कमी न थी। ब्रह्मचर्य का व्रत और गृहस्थ जीवन—दोनों में अविरोध स्थिति अविश्वसनीय प्रतीत होती है अवश्य, किन्तु यह विरोध की स्थिति भी नहीं, मात्र विरोधाभास है। अणु व्रत है, अत: ब्रह्मचर्य का भी सीमित स्वरूप है। दाम्पत्य जीवन तो रहे, किन्तु संयमपूर्ण और मर्यादित रहे। उसका स्नेह-सम्बन्ध यदि मात्र पति तक सीमित रहे तो वह ब्रह्मचर्य अणु व्रत की पालन करने वाली ही मानी जाती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में यह निर्देश श्राविकाओं के लिए किया गया है कि उन्हें अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी ही चाहिए।

इन पंच अणु व्रतों को सुरक्षित करने के लिए **गुण व्रतों** का प्रावधान भी किया गया है। ये गुण व्रत हैं—दिशा परिमाण व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत और अनर्थदण्ड विरमण व्रत। इन गुण व्रतों से जीवन में शुद्धता और सादगी का समावेश होता है और अणु व्रतों में प्रांजलता आती है। इनके अतिरिक्त

श्राविकाओं के लिए **शिक्षा व्रत** का भी विधान है। गुण व्रत, अणु व्रत से शिक्षा व्रत की भिन्नता यह है कि अणु व्रत-गुण व्रत तो जीवन में एक ही बार अंगीकार करने होते हैं, किन्तु शिक्षा व्रतों को बारम्बार अंगीकार करना होता है। चार शिक्षा व्रत हैं—सामायिकी, देशावकाशिक, पौषधो उपवास और अतिथि संविभाग।

प्रश्न प्रतिमाओं का

गृहस्थ जीवन में रहते हुए प्रतिनाधारी श्रावक श्रमणवत् जीवन व्यतीत करते थे। आगम ग्रन्थों में श्रावक के लिए ११ प्रतिमाओं का विधान मिलता है। ऐसा विधान श्राविका के नाम से नहीं मिलता है। आनन्द आदि श्रावकों का नामोल्लेख भी प्रतिमाधारी श्रावक के रूप में मिलता है, किन्तु किसी श्राविका का नाम नहीं आता। आवश्यकसूत्र में भी स्थिति यही है। तात्पर्य यह है कि श्राविकाओं के प्रतिमा-धारण के प्रश्न पर आगम ग्रन्थ सकारात्मक अथवा निषेधात्मक किसी भी रूप में मुखर नहीं है। आशंका होती है इन सभी परिस्थितियों से कि कदाचित् श्राविकार्थ प्रतिमा-धारण का प्रावधान न रहा हो। निश्चय के साथ कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु दशाश्रुत स्कन्ध में दिये गये प्रतिमा-विवरण से ध्वनित अवश्य होता है कि प्रतिमा विधान श्राविकाओं के लिए रहा हो—ऐसा हो सकता है। सभी तीर्थंकरों के संघ में श्रावकों की संख्या से श्राविकाओं की संख्या का अधिक होना भी इस अनुमान का समर्थन ही करता है।

धर्माचरण की दृढ़ता

आलोच्यकाल में श्राविकाएँ जैनधर्म के आचारों का पालन दृढ़ता और निष्ठा के साथ करती थीं। उनकी आचारों के प्रति श्रद्धा और आस्था इस दृढ़ता के मूल में थी। पंचमी का पर्युषण उनके लिए अनिवार्य होता था। श्राविकाएँ अपने शील-रक्षण हेतु सदा सन्नद्ध रहती थीं। प्राणोत्सर्ग के मोल पर भी वे शील का निर्वाह करती थीं। वसुमति की जननी धारिणी रानी का उद्धरण ग्रन्थों में आता है जिसने प्राणों की आहुति दे दी, किन्तु शील भंग न होने दिया। श्राविकाएँ स्वयं तो आचार-पालन में सुदृढ़ थीं ही, वे अपने आचार-विचलित होते पतियों के लिए भी संबल स्वरूप होती थीं, उन्हें भी आचार की दृढ़ता से मुक्त कर देना वे अपना कर्त्तव्य मानती थीं। देवता जब सद्दालपुत्र की परीक्षा लेने लगे और वह विचलित होने लगा तो उसकी पत्नी ने उसे पुनः धर्माराधना में स्थिर किया। उपासकदशांग इसका साक्षी है। नन्दीसूत्र की टीका में वर्णित है कि एक पति (श्रावक) का मन अपनी पत्नी की एक सुन्दरी सखी के प्रति आसक्त हो गया

था। उसकी श्राविका पत्नी ने सखी का वेश बनाकर उसे तुष्ट तो किया, किन्तु जब वास्तविकता प्रकट हुई तो पति को पश्चात्ताप हुआ और वह पुनः आचार में स्थिर हो गया। उत्तराध्ययनसूत्र में भी एक कथा वर्णित है—एक राजा इषुकार ने भृगु पुरोहित का धन छीन लिया। उसकी रानी कमलावती ने उसे बोध दिया कि यह अनुचित है। ब्राह्मण को तो धन दान में दिया जाता है, उसका धन लिया नहीं जाता। प्रयत्न सफल हुआ। राजा के मन में धन के प्रति वितृष्णा का भाव जागा और उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। रानी प्रभावती ने भी पति को स्वधर्मानुकूल बना लिया था। राजा व्रतधारी हो गया। राजा श्रेणिक भी जैनधर्मोपासक हो गये थे—इसके पीछे उनकी रानी चेलना की ही सद्प्रेरणा सक्रिय रही थी। श्राविकाएँ अपने धर्म का आचार का त्याग नहीं करती थीं। पति के भिन्न धर्मी होने की स्थिति में भी वे उसे अपनी उदारता व पवित्रता से स्वानुकूल बना लेती थीं।

उपासकदशांग सूत्र की टीका में एक कथा वर्णित है कि सुभद्रा का पति जैनधर्मानुयायी नहीं था। सुभद्रा से विवाह करने के लिए उसने जैन होने का मात्र नाटक किया था। जब सुभद्रा को वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो उसे बड़ा दुःख हुआ। अनेकानेक कष्ट सहे, किन्तु उसने स्वधर्म का परित्याग नहीं किया। अपनी धर्म दृढ़ता के कारण वह यशस्विनी हुई। उत्तराध्ययन की साक्षी से कहा जा सकता है कि तत्कालीन नारी मन-वचन-कर्म से शील रक्षा में लगी रहती थी। किसी पुरुष की वाग्दत्ता हो जाने के पश्चात् भी वह किसी पर-पुरुष को कल्पना में भी न आने देती थी। राजीमती जब अरिष्टनेमि द्वारा परित्याग कर दी गयी तो क्योंकि इससे पूर्व वह वाग्दत्ता हो गयी थी, उसने जगत् का ही परित्याग कर दिया और दीक्षा ग्रहण कर ली थी। स्थानांग में सुलसा का प्रसंग आता है। स्वयं भगवान महावीर ने अम्बड़ विद्याधर के माध्यम से सुलसा को धर्म-सन्देश भेजा। स्वयं तीर्थंकर साधारण नारी को सन्देश भेजें—सुलसा में ऐसी क्या महत्ता है? इस जिज्ञासा के साथ विद्याधर ने सुलसा की परीक्षा ली और वह खरी सिद्ध हुई। वह अपने धर्ममार्ग से विचलित न हुई।

ज्ञान एवं विद्वत्ता में अग्रणी

श्राविकाएँ स्वाध्याय द्वारा ज्ञानार्जन में भी पीछे नहीं थीं। अनेक श्राविकाओं को उनके ज्ञान के लिए अपार यश मिला। अनेक श्राविकाएँ विदुषी एवं बहुश्रुत थीं। कहा जाता है कि रानी त्रिशला तत्त्वों की गहन ज्ञाता थीं। वह अन्य जनों के हृदय में धर्म-संचार की अद्भुत क्षमता रखती थी। बिना किसी बाहरी सहायता के वह श्रुत का अर्थ हृदयंगम करने की समर्थता रखती थी। मृगमाता

का पुत्र दीक्षार्थ तत्पर होता है तो माता उसे साधु-मार्ग की दुर्गमताओं से परिचित कराती है। वह साधु के आचारों की ज्ञाता थी। जयन्ती के विषय में माना जाता है कि वह तत्त्वज्ञा श्रमणोपासिका थी। शय्यातर के रूप में वह साधु-साध्वियों को निज भवन में आवास देती थी। उसे तत्त्वमर्मज्ञता का यश प्राप्त था। भगवान महावीर से जयन्ती ने अनेक प्रश्न पूछे और भगवान ने उसकी जिज्ञासा शान्त भी की। वस्तुतः उसके प्रश्नों से उसकी अध्ययनशीलता, चिन्तन और ज्ञान की गहनता का परिचय मिला। विदुषी-ज्ञानी श्राविकाएँ अन्य गृहस्थ महिलाओं को धर्म की गूढ़ता से परिचित कराती थीं, उनका मार्गदर्शन करती थीं।[१]

तपश्चर्या और श्राविका

तप का सामर्थ्य श्रमणी के समान तो श्राविका में सम्भव भी नहीं होता, किन्तु तप के प्रति श्रद्धा भाव में कमी न रहती थी। गृहणियाँ अपनी शक्ति के अनुरूप तप करती थीं। अपने या अपने परिवार पर आगत संकट के निवारणार्थ भी श्राविका द्वारा तप किया जाता था। कल्प सूत्र के इस विधान की पुष्टि ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित द्रौपदी के एक प्रसंग से हो जाती है। उसने संकट से त्राण पाने के लिए आयंबिल तप किया था। बारह व्रतों को धारण करने वाली उपासिकाएँ चौदस, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा पर पौषध करें—भगवती सूत्र में इसका स्पष्ट निर्देश दिया गया है। अल्पतम एक रात्रि का पौषध तो अनिवार्य था ही।

सामायिक काल में साधिकाओं द्वारा स्वजनों का भी स्वजन रूप में चिन्तन नहीं किया जाता था, वह सर्वथा निस्संग और निरीह हो जाती थी। सामायिक समापन पर स्वजनों के साथ वही पूर्ववत् सम्बन्ध हो जाता है। श्रमणोपासिकाओं के लिए कुवृत्तियों एवं कुविचारों से मुक्त रहना भी आगम ग्रन्थों में अनिवार्य माना गया। क्रोध से उसे दूर रहना चाहिए, पर-निन्दा नहीं करनी चाहिए, कटु, अप्रिय अपशब्दों का प्रयोग भी उसे नहीं करना चाहिए।

आगमयुगीन श्राविकाएँ स्वयं भोजन करने से पूर्व साधु-साध्वियों को आहार का दान करती थीं। भगवान महावीर ने स्वयं चन्दना से उड़द के बाकले भिक्षा रूप में ग्रहण किये थे। यह विधान भी मिलता है कि श्राविका किसी आकांक्षा विशेष की पूर्ति की कामना के साथ दान न करे। ऐसे ही शुद्ध भाव के साथ दान

---

१. सा पव्वहया संती, पत्तावेसो तहिं बहु।
सयणं परि जणं चेव सील वंता बहुस्सुया॥ —उत्तराध्ययन २२/३२

करने के लिए रेवती यशस्विनी हो गयी थी। रानी यशोमती ने प्रचुर दान किया, किन्तु इस भावना के साथ कि उसे पुण्य भी प्रचुर मात्रा में मिले—इसे उपयुक्त नहीं कहा गया। भिक्षार्थी साधुओं के आचार में आशंका होने पर श्राविका उनसे प्रश्न कर सकती थी। यह अधिकार बड़े महत्त्व का होता था। देवकी का उल्लेखनीय प्रसंग इस सम्बन्ध में आता है। देवकी के घर जब भिक्षा के लिए मुनि ६ बार आये तो उसे मुनि की आचार-शुद्धता में आशंका हो गयी। उसने प्रश्न कर ही लिया कि मुनिराज, आपको नगर में अन्यत्र भिक्षा-प्राप्ति में कोई कठिनाई रहती है? मुनि देवकी की भ्रान्ति को पहचान गये और उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि संघ में एक ही जैसे दिखायी देने वाले हम ६ साधु सहोदर हैं, किसी ने भी श्राविका के यहाँ पुनरागमन नहीं किया। श्राविकाओं को इतना साहस रहता था, वे साधु-आचारों की ऐसी ज्ञाता भी होती थीं। सच्ची श्राविका साधु आचारों पर इस प्रकार दृष्टि रखती, नियंत्रण रखती थी। आचार शैथिल्य वाली श्रमणी या श्रमण निन्दित होता था—श्राविकाओं द्वारा। ज्ञाताधर्मकथांग में इसका स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है। उपासक-उपासिकाएँ उस युग में निष्कपट व्यवहार करते थे। श्राविका के लिए यह निर्देश भी मिलता है कि उसे किसी पर मिथ्या आक्षेप नहीं लगाना चाहिए। ऐसा करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है।[१]

आगमकालीन श्रावक-श्राविकाओं की धर्म के प्रति निष्ठा बड़ी सुदृढ़ थी। उनकी भोजनशाला अतिथियों के भोजन कर लेने पर भी रिक्त नहीं होती थी। उन्हें उनकी धर्म के प्रति आस्था और भक्ति से कोई विचलित नहीं कर सकता था। स्त्री (श्राविका) की भूमिका गृह संचालन में भी अति महत्त्वपूर्ण रहती थी। वह परिजनों की परिचर्या करने में व्यस्त रहती। वही अतिथियों-अभ्यागतों का सत्कार करती थी। अरिष्टनेमि के मन में दाम्पत्य के प्रति अरुचिकर भाव था, वे विवाह-बंधन में नहीं पड़ना चाहते थे। उन्हें विवाहार्थ मनाने के लिए भाभी ने प्रयत्न किया था। भाभी ने उनसे कहा था कि जब मुनिजन तुम्हारे घर आयेंगे तो उन्हें भिक्षा कौन देगा। आहार-जलादि से उनका सत्कार कौन करेगा? नारी ही दान-पुण्य का कार्य करती थी। दूषित मनोवृत्ति के लोग साधु-सन्तों को प्रताड़ित भी करते थे। श्राविकाएँ ही उनका प्रतिकार करती थीं। कौशल नरेश की भद्रा राजकुमारी का ऐसा प्रयास उत्तराध्ययन में वर्णित भी है। साधु-वन्दन प्रत्येक श्राविका का परम कर्त्तव्य था। उस युग में नारी का साधु चरणों में शीष झुकाना भी मान्य था, किन्तु कालान्तर में इसमें किंचित् परिवर्तन आ गया। स्त्री के मृदुल

---

१. प्रश्नव्याकारण सूत्र

केशों के स्पर्श से साधु का विचलित होना संभाव्य समझकर यह व्यवस्था दी गयी कि साधु का चरण स्पर्श नारी द्वारा और साध्वी का चरण स्पर्श पुरुष द्वारा न किया जाये। अपने आवास पर साधु के आगमन पर स्त्री-पुरुष नमनपूर्वक, सात-आठ पग आगे बढ़कर उनका स्वागत करते थे। दीक्षार्थी पुत्र को माता संयम में मन लगाने की सीख देती थी। ऐसे भी प्रसंग आते थे जब माता-पिता एवं पत्नी, पुत्री आदि दीक्षार्थी को संयम ग्रहण करने से यह कहकर रोकती थीं कि हमारा पालन-पोषण तुम्हारा कर्त्तव्य है। इससे विमुख होकर तुम अपना परलोक बिगाड़ दोगे।[1] किसी भी अवस्था में श्राविका धर्म अंगीकार किया जा सकता था। इसके लिए वृद्धावस्था की प्रतीक्षा करना अनपेक्षित था। आगमों में उल्लेख है कि वृद्धावस्था में शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है, अत: मनुष्य धर्म-साधना में सक्षम नहीं रह जाता। अत: उसे प्रमादरहित होकर हर अवस्था में धर्म की साधना करते ही रहना चाहिए।[2]

श्राविकाओं से जब कभी कोई दोष या त्रुटि हो जाती वे प्रायश्चितपूर्वक तप करती थीं। उत्तराध्ययन में रानी प्रभावती के जीवन का एक ऐसा ही वृत्तान्त मिलता है। उसके धक्के से एक दासी की गिरकर मृत्यु हो गयी थी। रानी तप के रूप में प्रायश्चि किया। सामान्यत: पति-पत्नी समान ही धर्म (एक ही) के अनुयायी होते थे। अपवाद स्वरूप ही सही, किन्तु ऐसे उदाहरण भी मिलते अवश्य हैं कि एक ही परिवार के सदस्य भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी रहे। जैनधर्म को अंगीकार करने के पीछे कोई दबाव नहीं था। व्यक्ति स्वयं अपने विवेक से धर्म-चयन करता था। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि जैन धर्म को स्वीकार कर चुके उपासक कालान्तर में धर्म-परिवर्तन कर लेते थे। यह स्वाधीनता स्वीकार्य होते हुए भी केवल श्रावकों के उदाहरण ऐसे मिलते हैं, श्राविका का जैन धर्म त्याग कर अन्य धर्म में प्रवेश का कोई भी उदाहरण नहीं मिलता।

श्राविकोचित कर्त्तव्य

श्राविका के लिए मासिक धर्म के दिनों में स्वाध्याय को निषिद्ध माना गया है। आवश्यकसूत्र में उपासक-उपासिकाओं के लिए समान रूप से व्यवहार्य कर्त्तव्यों का निर्देश मिलता है, यथा—

---

१. से हंति य णं ममाइणो माय पिया य सुया य भारिया।
पोसाहि णं पासओ तुमं लोगं परं नहासि पोस णं॥ —सूत्रकृतांग २/१९

२. मरणं पि सुपण्णाणं, जहा मेतमणुस्सुयं।
विप्पसण्ण मणाघायं, संजयाणं वुसीमओ॥ —उत्तराध्ययन ५/१८

धर्म का पालन—प्राणिमात्र पर अनुकम्पा—अभ्यागत-अतिथि सत्कार—निन्दनीय कार्यों का तिरस्कार—कंजूसी और रात्रि-भोज का त्याग—आय से अधिक व्यय न करना—बन्धु जनों व महाजनों से विरोध न रखना—अनमेल विवाह नहीं करना—राजद्रोह न करना—मदिरापान, वेश्यागमन, पर-स्त्रीसेवन, दिन में शयन, जुआ, अपराध, पर-धन की तृष्णा आदि को भी निषिद्ध माना गया।

छूत के रोगी से विवाह न करने—बीच में बोलने—परीक्षण-पूर्व वस्तु का उपयोग करने, स्वामी द्वारा दिये गये बिना वस्तु का उपयोग करने, अन्यायपूर्वक धन कमाने आदि का भी निषेध किया गया है। पर-स्त्री के साथ पुरुष का अकेले न जाना, अकारण किसी के घर में जाना, बालक-वृद्ध-गर्भवती को सन्तोषप्रद भोजन कराना, किसी को कलंकित न करना, अन्याय का पक्षधर न होना, धर्म और गुरु के प्रति विद्रोह न करना आदि भी महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य थे।

श्राविकाएँ स्वयं को इस कर्त्तव्य-शृंखला से जकड़कर उच्चतर मानवीयता का श्रेष्ठत्व प्राप्त कर लेती थीं। अपने जीवन को धन्य कर लेती हैं। यह स्वरूप देवत्व के समीप की स्थिति तक पहुँचा देता था।

उपासिकाएँ और शीलाचार

उपासिकाओं के लिए शील सम्बन्धी दृढ़ता अत्यावश्यक विशेषता रहती थी। श्रमणोपासिकाओं के चरित्र का यह एक ऐसा महान् गुण था जो उनके और उनके समग्र परिवार को सुखमयता में निमग्न रखता था। बारह व्रतधारी एवं सामान्य आचारों का पालन करने वाली—दोनों ही प्रकार की उपासिकाओं के लिए शीलाचार का समान रूप से अत्युच्च महत्त्व था। इनके लिए पंच अणु व्रत का अनिवार्यतः पालनीय विधान था। उपासिकाएँ श्रद्धा और आस्थापूर्वक इनका पालन करती भी थीं। इनमें से ब्रह्मचर्य अणु व्रत ही एक प्रकार से शीलाचार का पर्याय कहा जा सकता है। स्त्री जीवन को बड़ा कठिन माना गया है। दशाश्रुत स्कंध के निदान प्रकरण में इस काठिन्य का विवेचन हुआ है। उन्हें भ्रमण-विचरण में भी शील-बाधा का भय बना रहता है। नारी की पावनता का तत्कालीन समाज व्यवस्था में न केवल महत्त्व रहा—उसके निर्वाह के लिए प्रावधान भी रहे। पवित्रता ही नारी जीवन के साफल्य की कसौटी थी। श्रावक चाहे बारह व्रतधारी ही क्यों न हो वह अनेक विवाह रचा सकता था, इसके विपरीत श्राविका एक ही पति का वरण करती थी। मन-वचन-कर्म से अन्य पुरुष के विषय में सोचना भी उसके लिए पाप था। यह शीलाचार की पराकाष्ठा है।

एक पत्नी के न रहने पर उपासक द्वारा अन्य विवाह कर लेने का प्रचलन तो अति सामान्य था, किन्तु किसी विधवा श्राविका का शेष समस्त जीवन वैधव्यग्रस्त ही रहता था। पुनर्विवाह की कल्पना भी वह नहीं कर पाती थी। पति भरे यौवन में दीक्षा ग्रहण कर ले ऐसे अनेकानेक प्रसंग आते थे किन्तु उनकी पत्नियाँ शील व्रत का अनुपालन करती हुई जीवन व्यतीत करती थीं। पति वियोग अस्थायी हो, तब भी विदेशगमन आदि कारणों से। और पतिमरण के कारण वियोग स्थायी हो तब भी स्त्री सादगीपूर्ण और कष्टमय जीवन जीती, किन्तु शील की मणि को अपने हाथ से खिसकने नहीं देती थी। परिश्रमपूर्वक स्वयं आजीविका अर्जित करतीं किन्तु विधवा श्राविका किसी अन्य पुरुष से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करती थीं।

शीलाचार का ऐसा सुदृढ़ पालन श्राविका के चरित्र और पवित्रता का रक्षक तो रहता ही था इसका प्रभाव समाज पर भी अनुकूल रूप में रहा। समाज स्वच्छ और स्वस्थ रहता था। उसमें दुराचार के लिए कोई स्थान नहीं था। पति के दीक्षित हो जाने पर, अथवा अन्य किसी कारण से स्थायी अथवा दीर्घकालिक वियोग की स्थिति में नारी के चारित्रिक पतन की आशंका भी अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। इसके उपचार के लिए समाज और परिवार सचेष्ट रहता था। इस दुष्परिणाम को टालने के लिए इसकी आधारभूत और कारण स्वरूप परिस्थितियों में सुधार लाने की चेष्टा बनी रहती थी। सूत्रकृतांग में इस प्रकार के प्रयत्न का उल्लेख मिलता भी है। एक युवा पुत्र जब दीक्षा ग्रहण करना चाहता है तो उसकी माता उसे बोध प्रदान करती है कि तुम अभी दीक्षा ग्रहण न करो, क्योंकि तुम्हारी पत्नी अभी युवा है। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे दीक्षा प्राप्त कर लेने पर वह किसी अन्य पुरुष के संग चली जाये। इन वचनों से प्रभावित दीक्षा कामी पुत्र पुनः गृहस्थ धर्म की ओर उन्मुख हो गया।[१] शीलवती नारियाँ सदा समाज-प्रशंसित होती थीं, उनका सम्मान किया जाता था।

कल्पसूत्र की साक्षी से कहा जा सकता है कि अपने शील की रक्षा के लिए नारियाँ प्राणाहुति देने में भी हिचकिचाती न थीं। कल्पसूत्र में उल्लेख आता है कि मदनरेखा ने शील-रक्षा के लिए राज्य का परित्याग कर दिया था। चन्दना ने सुख-सुविधापूर्ण वेश्याश्रय त्यागकर अपनी शील-रक्षार्थ दासी-वृत्ति का वरण करना उपयुक्त समझा। परित्यक्ता, विधवा अथवा वियोगिनी स्त्रियाँ न शृंगार करती थीं और न ही स्वादिष्ट भोजन करती थीं। पति के पराङ्गमुख होने, रुष्ट

---

१. उत्तरा महुरुल्लावा पुत्ता ते तात ! खुड्डया।
भारिया ते णवा तात ! मा सा अण्णं जणे गमे॥ —सूत्रकृतांग ३/२/५

रहने पर भी पत्नी पतिव्रत धर्म का पालन करती रहती थीं। पति के दु:ख में पत्नी का दु:खी रहना और उसके सुख में सुखी रहना पत्नी का धर्म था और यह प्रवृत्ति भी शील के ही एक अंग के रूप में मानी जाती थी। राजा कूणिक ने अपने पिता को जब बन्दी बना लिया तो माता रानी चेलना दु:खित रहती थी। अपने वस्त्र औषधि में भिगोकर वह पति के पास सेवार्थ जाती थी। शीलाचार में इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत सम्मिलित है। ब्रह्मचर्य का ही एक अन्य रूप यह है—यह सत्य है, किन्तु यह भी स्वीकार्य होना चाहिए कि ब्रह्मचर्य की अपेक्षा शीलाचार अधिक विस्तृत और व्यापक है।

श्राविकाओं के कर्त्तव्य—श्रमणों के प्रति

श्रमण-श्रमणियाँ आत्म-कल्याण और आत्मोत्थान की साधना में तो रत रहते ही हैं—उनके धर्मोपदेशों से जन-जन का और समाज का कल्याण भी कम नहीं होता। उनकी धर्म के प्रति निष्ठा और आचारों की आस्थापूर्ण पालना भी श्रावक-श्राविकाओं के लिए प्रेरक और अनुकरणीय आदर्श बनी रहती है। समाज में नैतिक और पवित्र वातावरण बनाए रखने में उनका भव्य योगदान उल्लेखनीय स्थान रखता है। उनका त्याग, उनकी तपस्या, उनकी ज्ञानार्जन वृत्ति, उनकी साधना, उनकी निर्लिप्तता की वृत्ति, उनका निर्विकार रूप उन्हें श्रद्धेय बना देते हैं। श्राविकाएँ तो श्रमणियों के ऋण से मुक्त हो ही नहीं सकतीं। उन्हें तप-त्याग और आत्म-कल्याण के मार्ग पर श्रमणियाँ आरूढ़ ही नहीं रहतीं, उस मार्ग पर उन्हें अग्रसर भी करती हैं। श्रमण-श्रमणियों के प्रति अनुगृहीत रहकर श्रावक-श्राविकाओं को उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों का बोध भी होना चाहिए और उन कर्त्तव्यों का पालन भी किया ही जाना चाहिए। आगमों में भी इस प्रकार के कर्त्तव्यों के निर्देश मिलते हैं।

मुनिजनों के प्रति श्राविका की कर्त्तव्यशीलता की चर्चा मुनि-दर्शन के प्रकरण से आरम्भ की जाये तो कहा जायेगा कि प्रत्येक श्राविका का कर्त्तव्य होता है कि मुनि के नगरागमन पर वह दर्शनार्थ अवश्य जाये। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख निर्देश हैं—

- मुनि को दूर से देखकर ही सविनय नमस्कार करें।
- अपने मान-सूचक चिह्नों का परित्याग कर दर्शनार्थ जाये।
- अपने साथ सचित्त द्रव्य (पान, फूल, इलायची, माला, फल, अन्नादि को दूर रख दें)।

- मन की एकाग्रता प्रबल रखी जाये।
- दर्शनार्थ जाने हेतु वाहन का उपयोग वर्जित नहीं, किन्तु स्थल से कुछ दूर वाहन से उतरकर पैदल चला जाये।
- मुनि के समीप या ठीक सामने केवल श्रावक ही नमस्कार मुद्रा में बैठे।
- श्राविकाएँ पिछली पंक्तियों में ही स्थान ग्रहण करें।
- धर्मोपदेश के उपरान्त घर लौटने से पूर्व तीन बार मुनि-वन्दन करें।
- मुनि से अध्यात्म अथवा व्यवहार सम्बन्धी प्रश्न पूछें, किन्तु गृहस्थ के संसार सम्बन्धी प्रश्न नहीं। साथ ही तंत्र-मंत्र जैसी चर्चा न करें।

जैसा कि पूर्व चर्चित है—श्राविकाएँ मुनिजनों के मान-सम्मान-प्रतिष्ठा के निर्वाह की दिशा में भी सतर्क-सावधान रहें। उनके साथ दुर्व्यवहार करने वालों का प्रतिकार करना श्रावक-श्राविका का कर्त्तव्य होता है। अपने आवास पर आगत मुनि का सादर स्वागत किया जाना चाहिए। उपासिका को चाहिए कि सात-आठ पग आगे बढ़कर मुनि का स्वागत करें। मुनि-आचार की अनुरूपता के साथ भिक्षा देने को प्रस्तुत करें। शुद्ध आहार ही भिक्षा में दिया जाये, ऐसा आहार नहीं जो श्राविका स्वयं ग्रहण न कर सके, अथवा जो दूषित और हानिकारक हो। ऐसे आहार का दान करना महापाप बताया गया है। आहार अपरिपूर्ण भी न हो। आगम ग्रन्थों में जिन कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है, श्राविकाएँ उस काल में उनका श्रद्धापूर्वक और पूर्णत: पालन करती थीं।

गृहस्थ जीवन में श्राविकाओं के कर्त्तव्य

आगम ग्रन्थों में श्रमणियों के कर्त्तव्य-विधान के साथ-साथ उपासिकाओं (श्राविका) के कर्त्तव्यों का निर्देश भी मिलता है। ये ऐसे निर्देश हैं, जिनका अनुसरण कर किसी भी धर्म-सम्प्रदाय की नारी अपने को आदर्श नारी-रूप में ढाल सकती है। इन नियमों में अधिकांश का सामाजिक महत्त्व है और इनसे सुसंस्कार सम्पन्नता का समावेश नारी के व्यक्तित्व और व्यवहार में हो जाता है। गृहस्थ स्त्रियों के लिए सामान्य विधान किया गया था कि—माता-पिता की सेवा करें, उनके चरणों में शीष झुकाएँ।

- गुरु के प्रति श्रद्धा रखें।
- धर्म के प्रति श्रद्धा रखें।
- धर्मोपदेश का श्रवण करें।

- मुनि-दर्शन करें।
- वृद्ध जनों व बीमार की सेवा करें।
- दीन-हीन जनों की रक्षा करें।
- भृत्य जनों से कोमल व्यवहार रखें।
- स्वाध्याय में प्रवृत्त रहें।
- नीतिशास्त्र को अपनाएँ।
- बुजुर्गों के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार करें।
- विपत्तिकाल में धैर्य रखें।
- धन-सम्पदा का अभिमान न करें।
- अन्य जनों के भी शुभ कार्यों में सहकारी बनें।
- इन्द्रियों का निग्रह करें।
- जैसा भी भोजन प्राप्त हो प्रसन्न मन व समभावपूर्वक ग्रहण करें।
- साधु-विद्वज्जनों के नगर में ही निवास करें।
- मार्ग का अवलोकन कर गमन करें।
- वेश में आडम्बर न रहे, सादगी हो।
- सभी से मैत्री का भाव रखें।
- अपने कर्त्तव्यों का मन से निर्वाह करें।
- किसी की निन्दा व चुगली न करें।

काम को विष और सर्पतुल्य घातक बताते हुए इससे दूर रहने का निर्देश दिया गया है। 'पण्डितमरण' की महत्ता स्थापित करते हुए आगमों में उपासिकाओं को प्रेरित किया गया है कि वे शुद्ध हृदय से धर्म-साधनापूर्वक पण्डितमरण को प्राप्त करें।[1] ऐसा करना सभी के लिए सुलभ भी है और सुगम भी। उपासकों के लिए भी ऐसा व्यवहार्य ही है। मोक्ष-प्राप्ति को मनुष्य मात्र के लिए चरम और परम लक्ष्य माना गया है। इस दृष्टि से आगमों में स्त्रियों को भी मोक्षाधिकारिणी माना गया है। स्त्रियों के लिए उनका स्त्रीत्व इसमें बाधक नहीं

१. मरणं पि सपुण्णाणं जहा मे तमणुस्सुयं।
विप्पसन्न मणाधायं संजयाणं वुसीमओ॥ —उत्तराध्ययन ५/१८

होता। न ही उनका गृहस्थ होना ही बाधक होता है। सुकर्मों के आधार पर प्रत्येक गृहस्थ नारी मोक्ष अथवा देवलोक की प्राप्ति कर सकती है।

आगमकालीन सामाजिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन गृहस्थ स्त्रियों में अन्ध-विश्वास और तंत्र-मंत्र-विश्वास साधन रूप में व्याप्त था। पति को अपने वश में रखने के लिए वशीकरण मंत्र का प्रयोग किया जाता था। सन्तान-प्राप्ति के प्रयोजन से भी मंत्र-तंत्र प्रयुक्त होते थे। सुभद्रा आदि ने तंत्र-मंत्र के सम्बन्ध में साध्वियों से जानना चाहा था जिन्होंने इनको हेयता प्रतिपादित कर दी थी। नागश्री ब्राह्मणी तो साधुओं को हानिकारक और अनुपयोगी आहारदान कर देती थी। उसकी इस प्रवृत्ति के कारण भारी श्लोक-निन्दा हुई, उसे घर से निष्कासित भी कर दिया गया था। स्त्रियाँ सन्तान-प्राप्ति हेतु व्रत-उपवास किया करती थीं। नाग, भूत, यक्ष, रुद्र, वैश्रवण, स्कन्द आदि की उपासना कामना-पूर्ति के लक्ष्य से किया करती थीं। देवताओं की पुष्पादि से अर्चना किया करतीं। नदी में स्नान कर भीगे वस्त्रों से आवृत धूप-दीप, वस्त्रालंकारों से देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयास करतीं और सन्तान की कामना करती थीं। नाग, भूत, स्कन्ध, इन्द्रादि की मनौतियाँ मानतीं कि कष्ट से रक्षा हो सके। उल्लेखनीय है कि जैन-परम्परा इन सब विधियों और क्रियाओं का न समर्थन करती है और न ही आगमों में इस प्रकार के निर्देश हैं, तथापि अनेक उपासिकाएँ इनका अनुसरण किया करती थीं। कदाचित् समाज के अन्य वर्गों के साथ-साथ रहने से—यह संसर्गजन्य प्रभाव आ गया हो। अन्यथा—देवी-देवता का पूजन, मंत्र-तंत्र, भूत, नाग की अर्चना, अंध-विश्वासादि में श्रद्धा नहीं रखने की ही परम्परा उपासक-उपासिकाओं के लिए औचित्यपूर्ण मानी जाती रही है। तद्युगीन नारी में नारी के ही प्रति ईर्ष्या-द्वेष एवं प्रतिशोध की भावना भी प्रबल रही। परिव्राजिका चोखा ब्राह्मण दर्शन की विदुषी महिला थी। जब वह शास्त्रार्थ में मल्लीकुमारी से परास्त हो गयी तो ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णन आता है कि प्रतिशोधाभिभूत चोखा ने पंचाल नरेश को प्रेरित किया कि वे मल्लीकुमारी को प्राप्त कर लें।

आगमकाल में उपासिका-श्राविका वर्ग और नारी का व्यक्तित्व धर्म के प्रभाव से और श्रद्धा एवं आस्था के परिणामस्वरूप अत्यन्त उज्ज्वल रहा—निस्संदेह यह सत्य है, किन्तु इसी वर्ग के कुछ भागों में व्यावहारिक रूप में अनेक अंध-विश्वास भी रहे, आगमों द्वारा अमान्य प्रवृत्तियाँ भी रहीं। नारी के ये दोनों पार्श्व द्रष्टव्य एवं ध्यातव्य रहे।

●●

गृहस्थ जीवन के संस्कार एवं सामाजिक व्यवस्था

भारतीय जीवन पद्धति में संस्कारों का विशेष महत्त्व रहा है। संस्कार का भाव परिष्करण अथवा शुद्धीकरण से सम्बन्धित होता है। इनमें धार्मिकता की अपेक्षा सामाजिक सम्बन्धों का ही प्रभाव रहा। समान प्रचलित रीति-रिवाज सभी मान्य करते थे। वस्तुतः संस्कार व्यक्ति के जीवन में विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप आयु क्रमानुसार जीवन-स्वरूपों के शुभारम्भ हैं। एक स्वरूप की समाप्ति पर आगामी स्वरूप किसी संस्कार के साथ ही आरम्भ होता है। उदाहरणार्थ उपनयन संस्कार शैशव समापन का संकेत करता है। संस्कार जीवन के नये स्वरूप के अनुकूल कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा जागृत करते हैं। संस्कारों का रूप इस प्रकार धार्मिक अनुष्ठान का तो है ही; साथ ही सामाजिक भूमिका का बोध भी कराते हैं। मनुष्य को आयु क्रम के अनुरूप उत्तरोत्तर बढ़ते और बदलते हुए दायित्वों के लिए संस्कार मानसिक तत्परता प्रदान करते हैं। ब्राह्मण संस्कृति में तो संस्कारों की महत्ता रही ही थी, आगम ग्रन्थों में भी इनकी प्रचलित परम्परा की चर्चा मिलती है।

जन्मोत्सव

पुत्र-प्राप्ति पर गृहस्थ जन अतिशय उत्साह के साथ जन्मोत्सव का आयोजन करते थे। हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति का माध्यम यह जन्मोत्सव परम्परा का ही परिणाम रहा। भगवान महावीर के जन्मोत्सव आयोजन का विवरण कल्पसूत्र में भी मिलता है। विभिन्न वर्गों, समुदायों के लोग इसमें सम्मिलित हुए थे। गायन, वादन, नृत्यादि के, विदूषकों के भी कार्यक्रम हुए। विपुल जन-मनोरंजन किया गया। सारा नगर भव्य रूप में सजाया गया था। आगमों में उल्लेख यह भी मिलता है कि जन्मोत्सव दस-दस दिवस तक भी मनाया जाता था। राजा श्रेणिक के यहाँ ऐसा ही हुआ था। क्या पुत्री-जन्म पर भी ऐसा उत्सव मनाया जाता था? आगमों के साक्ष्य के साथ कहा जा सकता है कि ऐसा भी होता था। राजा द्विमुख ने

पुत्री-प्राप्ति पर विराट् जन्मोत्सव आयोजित किया था।[1] मल्लीकुमारी के जन्मोत्सव का उल्लेख भी मिलता है।[2]

जात कर्म

जात कर्म का आयोजन सूतक समाप्ति, अथवा अशुचि निवारण के लिए किया जाता था। कहीं ऐसा उल्लेख है कि जन्म के ग्यारह-बारह दिन उपरान्त जात कर्म किया जाता था, तो कहीं ऐसा पाया जाता है कि इसका आयोजन जन्म के प्रथम दिवस ही कर लिया जाता था। सम्भावना यह भी है कि जात कर्म कदाचित प्रथम दिवस भी और बाद में भी; अर्थात् दो बार किया जाता रहा हो। राजा शंखक के यहाँ ऐसा ही हुआ था। पुत्र-जन्म पर जात कर्म का स्पष्ट उल्लेख तो मिलता है, किन्तु पुत्री-जन्म पर इसके आयोजन के विषय में आगम कुछ संकेत नहीं देते। तथापि प्रतीत होता है कि पुत्र और पुत्री दोनों के जन्म पर जात कर्म किया जाता रहा होगा। पुत्री-जन्म पर भी अशुचि या सूतक तो लगता ही था। अतः सूतक का निवारण भी जात कर्म द्वारा किया ही जाता होगा। इसका निषेध भी आगमों में नहीं मिलता इससे यह अनुमान पुष्ट भी हो जाता है।

नामकरण संस्कार

कल्प सूत्र में पुत्र के नामकरण का ही उल्लेख आता है, किन्तु ज्ञाताधर्मकथांग में नामकरण संस्कार का विधान पुत्रियों के लिए भी मिलता है। सन्तान के लिए उसका नाम माता-पिता की ओर से उसके लिए ऐसा उपहार है कि जो उसके साथ आजीवन रहता था, मरणोपरान्त भी वह उसकी स्मृतियों का आधार रहता है। नाम उसकी ऐसी सम्पदा जैसा होता है जिससे उसको कोई वंचित नहीं कर सकता। न वह खो सकता है, न ही इसकी चोरी हो सकती है। नाम किसी व्यक्ति की ऐसी निजी वस्तु होती है जिसका उपयोग अन्य जन ही अधिक करते हैं—वह स्वयं तो इसका उपयोग अत्यल्प रूप में ही करता है।

नाम से क्या होता है। कुछ भी रखा जा सकता है—ऐसा प्रायः सोचा—कहा जाता है अवश्य, किन्तु यथार्थ ऐसा है नहीं। नाम से व्यक्ति का महत्त्व भी बढ़ जाता है। नाम ऐसा हो कि वह सर्वप्रिय हो और सम्बन्धित व्यक्ति के लिए भी वह प्रिय और रुचिकर हो। ऐसा न हो कि जिसके कारण उसमें संकोच और हीनता का भाव विकसित हो जाये। अटपटे और असुन्दर नाम वालों के साथ ऐसा होता हुआ पाया जाता है। माता-पिता को इन बातों को ध्यान में रखकर

१. ज्ञाताधर्मकथा—१६

२. ज्ञाताधर्मकथांग—८

नामकरण करना चाहिए। सन्तति के नाम से उसके माता-पिता की साहित्यिक-सांस्कृतिक अभिरुचियों और स्तर का आभास भी हो जाता है।

आगमकाल में राशि, गोत्र, नक्षत्र, शुभाशुभ गोचरादि को नामकरण का आधार माना जाता था। वर्ण, मुख लक्षण, भवितव्य आदि के आधार पर भी नाम रख लिया जाता था। माता-पिता अपनी सन्तति से जैसी आकांक्षा रखते थे—तद्नुरूप भी नामकरण कर देते थे। स्वप्न में सूचित जन्म-पूर्व के संकेतों से भी नाम का निश्चय कर लिया जाता था। एक रानी को गर्भावस्था के समय वर्षा का आनन्द उठाने की सघन इच्छा जागी थी। राजदम्पति ने पुत्र का नाम 'मेघकुमार' रखा। भगवान महावीर जब माता के गर्भ में थे तभी से परिवार में धन-धान्य की वृद्धि होने लगी। परिणामतः जन्म पर उनका नाम 'वर्धमान' रखा गया। आचारांगसूत्र में इसका उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार गर्भवती माता के मन में धर्म के प्रति दृढ़ प्रतिज्ञा का भाव उठा था तो पुत्र का नाम रखा गया—'दृढ़प्रतिज्ञ'। मल्लीकुमारी का यह नाम इस कारण रहा कि जब वह गर्भ में थीं तो माता के मन में पुष्पों के प्रति आकर्षण का भाव जागृत हुआ था।[1]

पुत्री के नामकरण में विशेष रूप से इस बात का ध्यान रखा जाता था कि नाम कर्णप्रिय, मृदुल और मधुर हों। प्रियदर्शना, त्रिशला, यशवती, मल्ली, प्रभावति आदि नामों से इस प्रवृत्ति की पुष्टि होती है। प्रीतिमती, यशोमती, [illegible]मती, धारिणी, सुकुमारिका, सुव्रता आदि नाम भी इस दृष्टि से ध्यातव्य हैं। आगमकाल की नारी सामान्यतः अत्यन्त संस्कारशीला और सम्पन्न होती थी। इस व्यापक गुणवत्ता का प्रभाव भी पुत्रियों के नामकरण पर रहा करता था। नामकरण समारोहपूर्वक किया जाता था। स्वजन-परिजन, सम्पर्की जन सभी एकत्र होते। भोजनादि का आयोजन भी किया जाता था॥ परिवार के सदस्यों को अन्य जनों की ओर से उपहार आदि भी दिये जाते थे। शिशु के दीर्घजीवी होने की, यशस्वी होने की, प्रतिभाशाली होने की कामनाएँ की जाती थीं, आशीष दी जाती थी।

चन्द्र-सूर्यादि दर्शन व अन्यान्य संस्कार

चन्द्र-सूर्य-दर्शन संस्कार पुत्र-जन्म के तृतीय दिवस को सम्पन्न होता था। ज्ञाताधर्मकथांग, भगवती सूत्र, उववाइय, राजप्रश्नीय आदि ग्रन्थों में तत्सम्बन्धी उल्लेखों के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक परम्परा में भी इस संस्कार का अस्तित्व मिलता है। अन्न-प्राशन संस्कार, चंक्रमण विधि, मुंडन (चौल कर्म), उपनयन आदि संस्कारों का उल्लेख भी आगम ग्रन्थों में मिलते हैं। पुत्रों के लिए

१. ज्ञाताधर्मकथांग

तो इन संस्कारों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु कन्याओं के विषय में भी ये संस्कार थे, अथवा नहीं—इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना सम्भव नहीं है। आगमों में कोई संकेत निहित नहीं है। उपनयन संस्कार पुत्र के आठ वर्ष की आयु प्राप्त करने पर सम्पन्न किया जाता था। इसके पश्चात् उसे विद्याध्ययन हेतु आचार्य के पास भेजा जाता था। इस सम्बन्ध में भी विधान अथवा निषेध कन्याओं के लिए आगम ग्रन्थों में अप्राप्य हैं, तथापि यह अवश्य है कन्या को भी शिक्षा ग्रहण कर पूर्ण स्वातंत्र्य और निर्बाध अधिकार प्राप्त था। वे इस अधिकार का उपयोग भी करती थीं।

विवाह संस्कार

युवा जनों के लिए विवाह संस्कार ही गृहस्थ धर्म का द्वार खोलता था। पुत्र और कन्या दोनों के लिए ही समाज में था, अपितु दोनों के लिए यह सम्मिलित रूप रखता है। वर और वधु दोनों के साथ यह संस्कार एक साथ सम्पन्न होता था। अन्य संस्कार अनिवार्यतः सम्पन्न होते थे, किन्तु विवाह संस्कार के साथ ऐसा न था। कोई व्यक्ति कौमार्य व्रतधारी भी हो सकता अथवा हो सकती थी।

चातुर्मासिक उत्सव

उत्सव का सम्बन्ध केवल कन्याओं से था, पुत्रों से नहीं। पुत्र-पुत्री के उत्सवों और संस्कारों में यत्किंचित् अन्तर रहा अवश्य था—यह इससे पुष्ट हो जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार विदेह और मिथिला के नरेशों ने अपनी कन्याओं के लिए चातुर्मासिक उत्सवों के आयोजन किये थे।

अन्त्येष्टि संस्कार

मरणोपरान्त होने वाले इस संस्कार के अन्तर्गत प्रचलन था कि पुत्र द्वारा अपने पिता का और पिता द्वारा अपने पुत्र का अन्त्येष्टि संस्कार (दाह संस्कार) किया जाये और समस्त उत्तर कर्म सम्पन्न किये जायें। स्त्री-पुरुष दोनों के लिए इस संस्कार के लिए एकरूपता थी। आगम साहित्य से संकेत मिलता है कि किसी की मृत्यु पर परिवार में शोक रखा जाता था, किन्तु वाद्यों के वादन के साथ शव-यात्रा निकाली जाती थी। मृतक के परिवार के सदस्य श्रद्धांजलि अर्पित कर दिवंगत आत्मा की शान्ति हेतु प्रार्थनाएँ करते थे। मृतक के स्वजन-परिजन सभी अपना महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य मानकर अन्त्येष्टि एवं उत्तर कर्म को विधिविधानपूर्वक सम्पन्न किया करते थे। इसमें धार्मिकता का कोई बंधन नहीं, मात्र एक सामाजिक परम्परा का पालन था॥

विवाह-विवेचन

आगमकाल में विवाह-व्यवस्था एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों पर आगम एवं अन्य साहित्य द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से आलोच्यकाल में प्रायः व्यवस्थित विवाह स्वरूप ही प्रचलन में रहा। अर्थात् माता-पिता द्वारा अपने पुत्र के लिए वधू का चयन किया जाता था और वे ही विवाह सम्पन्न कराते थे। पिता के अनिवार्य दायित्वों में से उसका यह एक ऐसा प्रमुख दायित्व था जिसे वह स्वयं भी उच्च प्राथमिकता देता था। पुत्र हेतु गुणवती, सुन्दर, सद्लक्षणी वधू की खोज की जाती थी। पिता के अभाव में क्रमशः माता, अग्रज अथवा परिवार का वरिष्ठ सदस्य इस भूमिका का निर्वाह करता था। ऐसे प्रसंगों का उल्लेख भी ग्रन्थों में हुआ है, जब पुत्र को विवाह सम्बन्धी अरुचि देखकर माता उसे प्रबोधन देती और वह उसके अनुरोध पर विवाहार्थ तत्पर हो गया। अरिष्टनेमि तो अपनी भाभी की उत्प्रेरणा से विवाहार्थ सहमत हुए थे। महावीर, जम्बू स्वामी, मेघकुमार आदि अनेक कुमारों के विवाह प्रसंगों के उल्लेख आगमों में भी मिलते हैं जो माता-पिता द्वारा निश्चित किये गये थे और सम्पन्न भी। इससे भिन्न कतिपय प्रसंग ऐसे भी रहे कि जब कुमार ने स्वेच्छापूर्वक, स्व-चयनित कन्या के साथ, बिना अपने माता-पिता की सहमति के स्वयं विवाह कर लिया। ऐसे प्रसंगों में भी वर के माता-पिता सहृदयतापूर्वक वधू को अपने परिवार में स्वागतपूर्वक स्वीकार कर लेते थे। वधू की जाति, कुल, धर्म आदि की विषमता भी इस प्रवृत्ति में बाधक नहीं होती थी। इससे एक तथ्य अवश्य प्रकाश में आता है कि ऐसे स्वेच्छाधारित विवाह चाहे अपवादस्वरूप ही, अत्यल्प ही हों, किन्तु वे प्रमाणित करते हैं कि वर-वधू को विवाह-प्रसंग में पूर्ण स्वातंत्र्य था और इसका आदर समाज एवं अभिभावकों द्वारा भी किया जाता था। यह एक स्वस्थ सामाजिकता का प्रतीक था।

विवाह सम्बन्धी एक विशेषता यह भी ज्ञातव्य रही कि एक वर के साथ, एक ही मण्डप में, एक ही लग्न में अनेक कन्याओं का विवाह भी सम्पन्न हो जाया करता था। इससे विवाह सम्बन्धी दो विशेषताएँ हमारे समक्ष आ उपस्थित होती हैं—(१) आगम युग में बहुपत्नी प्रथा थी, अथवा पुरुषों के लिए बहुविवाह का प्रचलन था। और (२) विवाह के लिए वर कन्या के घर नहीं जाता था, अन्यथा एक वर का एक ही मुहूर्त्त में अनेक कन्याओं के घर उपस्थित हो जाना सम्भव ही नहीं था। इसके विपरीत कन्या या कन्याएँ ही वर के घर लायी जाती थीं और विवाह वहीं पर एकाधिक कन्याओं के साथ भी सम्भव हो जाता था। अपवादस्वरूप कुछ विवाहों में वर कन्या के घर जाकर विवाह करता चित्रित हुआ है, किन्तु ऐसा वर विवाहोपरान्त वधू को अपने घर नहीं लाता था, अपितु कन्या के घर में ही वह गृह जामाता होकर

रह जाता था। जिन अभिभावकों की एक मात्र सन्तति कन्या ही होती थी वे विवाह पूर्व ही वर के लिए ऐसी अनिवार्यता स्थिर कर लेते थे कि विवाहोपरान्त वह घर जमाई के रूप में कन्या पक्ष के परिवार में रहेगा। अन्तकृतदशांग में इस आशय का उल्लेख उपलब्ध होता है। धार्मिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से कन्या के माता-पिता के लिए ऐसा गृह जामाता विधिवत् पुत्रसम ही हो जाता था। वह उनके मरण पर अन्त्येष्टि एवं उत्तर कर्म भी करता था। ऐसे विवाह सामान्यत: नहीं होते थे। अपवादस्वरूप उपरिवर्णित परिस्थिति में ही ऐसा होता था।

सामान्यत: तो कन्या पक्ष ही वर पक्ष के पास जाता था। इसके पूर्व विभिन्न लोकाचार पूरे किये जाते थे। आज की परिस्थिति में यह विचित्र और अनूठा अवश्य प्रतीत हो सकता है, किन्तु यह यथार्थ है कि शुभ मुहूर्त में, शृंगारित-सज्जित कन्या को अलंकृत पालकी में बिठाकर, मित्रगण, स्वजाति बन्धु, स्वजन-परिजन शोभा-यात्रा के साथ, नगर के प्रमुख मार्गों पर होते हुए वर के घर पहुँचते थे। कन्या के माता-पिता अपनी कन्या वर पक्ष को सौंपते और तदनन्तर विधिपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होता था। वर-पक्ष आगत जनों के लिए भोज का आयोजन करता और कन्या पक्ष के लोगों को वस्त्रालंकार भेंट करता था। वर यात्रा के स्थान पर वधू यात्रा का प्रचलन था। आज के कन्या पक्ष के दायित्व आगमकाल में वर पक्ष के दायित्व होते थे।

प्रीतिदान

प्रीतिदान आज के दहेज जैसा अवश्य लगता है किन्तु वह दान कन्या के पिता द्वारा नहीं, वर के पिता द्वारा किया जाता था। भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, विपाकसूत्र, अनुत्तरोपपातिक आदि में इस प्रीतिदान का विवरण उपलब्ध होता है। वर के पिता द्वारा विवाहोपरान्त वर-वधू (दोनों) को प्रीतिदान दिया जाता था। महावीर स्वामी के जामाता जमाली को दिये गये प्रीतिदान का वर्णन भगवती सूत्र में आता है, किन्तु इस स्थल पर यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि यह दान कन्या के पिता ने दिया था, अथवा वर के पिता ने। सम्भव है कि कन्या का पिता भी कुछ भेंट वर-वधू को दे—ऐसा प्रचलन भी रहा हो। ज्ञाताधर्मकथांग के एक विवरण के अनुसार पोट्टिला के पिता विवाहार्थ जब पुत्री को तेतलीपुत्र के यहाँ ले गये तो विवाह की सारी सामग्री अपने साथ ले गये थे। इससे यह आभास पुष्ट होता है। यह भी ध्यातव्य है कि एक ही वर के साथ एक ही लग्न में अनेक-अनेक कन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न होते थे। प्रीतिदान की सूची जो लम्बी-लम्बी मिलती है, वह एक कन्या के पक्ष में स्वाभाविक भी नहीं लगती। अनेक कन्याओं को दिये जाने पर ही प्रीतिदान की सामग्री इतनी विपुल मात्रा में सम्भव हो सकती

है। यह मानने के लिए भी यह पर्याप्त आधार है कि अवश्य ही वर के पिता द्वारा प्रीतिदान दिया जाता था और प्रत्येक वधू को पृथक्-पृथक् दिया जाता था। निरयावलिका और विपाकसूत्र जैसे ग्रन्थों के उल्लेख इसके साक्षी हैं।

विवाह के रूप

विवाह वस्तुतः गृहस्थ धर्म और दाम्पत्य जीवन के समारम्भ की और युगल-गठन की एक सामाजिक प्रक्रिया थी। यह जीवन संगी के दायित्व-बोध और कर्त्तव्य-निर्वाह की आरम्भिक घड़ी है। इस पावन संस्कार से नारी का पातिव्रत्य धर्म क्रिया रूप में आता था। यदि यह बन्धन भी है तो वस्तुतः यह स्वेच्छापूर्वक, स्वारोपित और स्व-कल्याणपरक प्रतिबन्ध है जो अपनी समस्त पवित्रता के साथ सुखद और मधुर प्रतिबन्ध है। विवाह को परिवार-प्रासाद की आधारशिला कहा जा सकता है। विवाह क्योंकि शेष जीवन का स्वरूप निर्धारित कर देता है, जीवनभर का संग निर्मित करता है; अतः वर के लिए वधू और वधू के लिए वर के चयन पर बहुत ध्यान दिया जाता था। दोनों का पारस्परिक औचित्य बहुत ध्यातव्य रहता था। अभिभावकगण इसके सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक, सोच-समझकर निर्णय करते थे। यह सत्य है कि निर्णय स्वयं अभिभावक ही किया करते थे। सम्बन्धित वर-वधू के साथ इस विषय में विचार-विमर्श करना, अथवा उनकी सहमति लेना प्रचलन में नहीं रहा था। तथापि यदि पुत्र किसी कन्या से माता-पिता की आज्ञा के बिना ही विवाह कर लेता तो वर के परिवार में वधू का स्वागत किया जाता था। इस विवाह पर अभिभावक की उत्तर स्वीकृति प्राप्त हो जाती थी और यदि किसी कन्या का हृदय किसी पुरुष की ओर आकर्षित हो जाता तो उसके साथ माता-पिता अपनी कन्या का परिणय बड़ी सहजता के साथ कर दिया करते थे। ऐसे लचीलेपन से विवाह किसी भी प्रसंग में बोझ, थोपा हुआ, भारस्वरूप, घुटन भरा और समस्याजनक नहीं रहता था। यह भी तथ्य है कि विवाह सम्बन्धी कन्या की ऐसी स्वतंत्रता और स्वेच्छाधारित विकल्प के लिए आगम ग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु परवर्ती टीका साहित्य में ऐसी टिप्पणियाँ मिलती हैं। अर्थात् समय-प्रवाह के साथ-साथ इस प्रकार के लचीलेपन को सामाजिक मान्यता प्राप्त होती गयी।

मान्यता की ऐसी ही स्थिति **गंधर्व विवाह** के पक्ष में भी रही। आगमयुगीन समाज में गंधर्व विवाह का प्रचलन भी रहा। वर-वधू दोनों गुप्त रूप से विवाह रचा लेते थे और कालान्तर में समाज और परिवार उस पर अपनी स्वीकृति दे देता था। गंधर्व विवाह को सामाजिक रूप में निन्दनीय नहीं माना जाता था। इससे समाज की प्रगतिशीलता का परिचय भी मिलता है।

स्वयंवर विवाह भी आगमयुगीन समाज में प्रचलित थे। इस पद्धति में नाम से यह संकेत मिलता है कि कन्या द्वारा वर का चयन स्वयं ही किया जाता है, माता-पिता का उसमें हस्तक्षेप नहीं रहता। किन्तु वर-चयन सम्बन्धी कन्या की यह स्वाधीनता वास्तव में कितनी और कैसी थी—यह एक विचारणीय प्रश्न है। कहने को तो यह है कि कन्या अनेक प्रत्याशियों में से जिस पुरुष को अपने वर रूप में चुन लेती थी, माता-पिता उसका विवाह उसी पुरुष के साथ सम्पन्न कर देते थे। किन्तु कन्या निर्बाध रूप से ऐसा चयन करने को स्वतंत्र रहती नहीं थी। स्वयंवर की घोषणा में कोई शर्त रहती थी कि जो पुरुष अपना अमुक सामर्थ्य सिद्ध कर देगा, जो अमुक कार्य पूर्ण कर दिखायेगा—उसी के साथ कन्या का परिणय सम्पन्न कर दिया जायेगा। यह तो कन्या की स्वतंत्रता वस्तुतः हुई नहीं। यह एक प्रकार से प्रतिद्वन्द्वियों के मध्य योग्यतम प्रत्याशी की खोज की प्रक्रिया मात्र होकर रह गयी। आगम-पूर्व काल में यही स्थिति थी। जानकी के स्वयंवर में राजा जनक की घोषणानुसार शिव धनुष को तोड़ने पर ही राम का वर रूप में सीता द्वारा वरण किया गया। आगमों में वर्णित द्रौपदी स्वयंवर कथा में ऐसी कोई शर्त नहीं मिलती। द्रौपदी ने स्वाधीनतापूर्वक ही वर-चयन किया। यही रूप स्वयंवर के लिए आगम-सम्मत रहा और इसी रूप में स्वयंवर पद्धति का प्रचलन आगमकाल में रहा भी। ज्ञाताधर्मकथांग में कन्या की इस स्वतंत्रता का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित है कि स्वयंवर सभा में उपस्थित प्रत्याशियों से कन्या कुछ प्रश्न पूछती है और जो पुरुष उसके प्रश्नों के सही उत्तर देता है, कन्या उसका वरण करती है।

विवाह अथवा कन्या का क्रय-विक्रय

आज के समय में कन्या पक्ष वाले वर पक्ष को धन देकर अपनी कन्या का सम्बन्ध श्रेष्ठ वर के साथ कर लिया करते हैं। वर पक्ष भी उसी कन्या को स्वीकार करते हैं जिसके अभिभावक सर्वाधिक धन देने को तत्पर हैं। यह एक प्रकार से वर का क्रय-विक्रय है। आगमकाल में प्रचलित प्रथानुसार ऐसा क्रय-विक्रय कन्या का होता था। कन्या के पिता धन लेकर (वर पक्ष से) कन्या का विवाह करते थे। राजा उदयन के काल में एक स्वर्णकार ५०० स्वर्ण-मुद्राएँ देकर कन्या से विवाह कर लेता था। उसने ऐसे ५०० विवाह रचाये।[१] विवाह से पूर्व वर पक्ष वाले भी कन्या पक्ष से निश्चित करता था कि आप अपनी कन्या का विवाह हमारे यहाँ करें तो हमसे कितना धन भेंट में लेंगे? किन्तु धन के ऐसे आदान-प्रदान को सामाजिक प्रशंसा का विषय नहीं माना जाता था। प्रतिष्ठित परिवार कन्या के

१. उत्तराध्ययन २२ (टीका)

कुमार गजसुकुमाल से होने पर पिता बड़ा प्रसन्न था। तैतलीपुत्र मंत्री ने जब स्वर्णकार की कन्या के साथ विवाह प्रस्ताव किया तो स्वर्णकार पिता बड़ा हर्षित हुआ। प्रतिलोम विवाह का प्रचलन आगम युग में नहीं रहा हो—ऐसा प्रतीत होता है। विद्वज्जनों की मान्यता है कि इस काल में मात्र एक अपवाद इसका मिलता है, जब पिता ने अपनी कन्या का विवाह अपने ही अनुचर से करा दिया था।

बहुविवाह का सामान्य प्रचलन नहीं

बहुविवाह प्रथा का अस्तित्व आगमकाल में रहा अवश्य था, किन्तु यह सामान्य प्रचलन में न था। साधारण गृहस्थ एक ही विवाह किया करते थे। प्रतिष्ठित और उच्च कुलीन, सम्पन्न जनों की ही अनेक पत्नियाँ हुआ करती थीं। क्षत्रिय, श्रेष्ठी वर्ग, सार्थवाह कुलों में यह प्रथा थी। श्रीकृष्ण की १६ हजार रानियाँ होने का उल्लेख मिलता है तो नाग गौतम की आठ पत्नियाँ थीं। धन्य श्रेष्ठी पुत्र ने तो ३२ कन्याओं के साथ विवाह किये।[१]

विवाहोचित कुल

यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि कन्या पक्ष के लिए यह निन्दनीय माना जाता था कि अपनी कन्या का विवाह अपने से निम्न कुल में किया जाये। प्रश्न यह भी है कि क्या प्रत्येक उच्चतर परिवार में कन्या का परिणय किया जा सकता था? उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसा नहीं था। इस सम्बन्ध में कुछ मर्यादाएँ—कुछ प्रतिबन्ध भी थे। कल्पसूत्र में उल्लेख है कि आगमकाल में मातुल (मामा) की पुत्री से विवाह सम्भव था। महावीर की पुत्री का विवाह उनकी बहन के पुत्र जमाली के संग सम्पन्न हुआ था। स्व-गोत्र में भी विवाह हो सकते थे। इसके विपरीत 'आवश्यक सूत्र' में उल्लेख मिलता है कि मातृ गोत्र और स्व-कुल में विवाह निषिद्ध हैं—ऐसे विवाहों को सदोष माना गया था। केवल लाट देश में मातुल कन्या से विवाह मान्य समझा जाता था जो अपवादस्वरूप थे। सामान्यत: मौसी की पुत्री स भी विवाह वर्जित था। सगोत्रीय विवाह कतिपय विशिष्ट कुलों में ही वर्जित थे। यों निम्न जातीय कुलों में सगे भाई और बहन का विवाह भी हो जाता था। विपाकसूत्र में इसका उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि चाण्डाल कुलों में ऐसा होता रहा।

इस प्रकार के सामाजिक प्रतिबन्ध इस दृष्टि से भी हितकर थे कि इनसे पारिवारिक शुद्धता का निर्वाह होता था और सन्तति की जीवशास्त्रीय कारणों से शारीरिक-मानसिक विकारों से भी रक्षा होती थी।

---

१. अन्तकृद्दशा।

पुनर्विवाह और कौमार्य

आगम युग में भी कतिपय कन्याएँ विवाहित जीवन व्यतीत करने के स्थान पर कौमार्य व्रत धारण कर लिया करती थीं। उनके जीवन में पाणिग्रहण संस्कार का अभाव रह जाता था। ऐसी अपरिणीता कन्याएँ अपना समस्त जीवन-यापन माता-पिता की संरक्षिता रहकर कर लेती थीं। निरयावलिया में भी ऐसी कुमारिकाओं का वर्णन प्राप्त होता है। जिन्होंने पुरुषादानी पार्श्वनाथ के शासन में संयम ग्रहण किया। ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि ये अविवाहिताएँ दीक्षा ग्रहण कर लेती थीं। वस्तुस्थिति यह भी रहती थी कि माता-पिता के पास रहकर जीवन व्यतीत करना भी सम्मानजनक नहीं माना जाता था, उनके लिए दीक्षा ग्रहण कर लेना ही श्रेयस्कर रहता था। दीक्षोपरान्त उनका जीवन सुरक्षापूर्ण, संरक्षित, नियमित और संयमित रूप ग्रहण कर लेता था। विवाह के प्रति अनिच्छा अथवा किसी अभाव की स्थिति में कन्याओं का विवाह असंभाव्य हो जाता था।

आगमकालीन समाज में पतिविहीन स्त्रियों के पुनर्विवाह का प्रचलन भी नही था। राजीमती के वर अरिष्टनेमि की बारात कन्या के द्वार से परिणय-पूर्व ही लौट गयी थी। मानसिक रूप से राजीमती ने अरिष्टनेमि को अपना पति स्वीकार कर लिया था। अत: उसने अपनी पतिविहीन अवस्था स्वीकार कर ली थी। उसने अन्य वर के साथ विवाह स्वीकार नहीं किया। अरिष्टनेमि ने जब विवाह का विचार त्याग दिया तब भी उनकी माता ने उन्हें प्रबोधन दिया था कि बिना विवाह किये ही तुम राजीमती को त्यागने जा रहे हो—यह उचित नहीं है। उसकी बड़ी दुर्दशा होगी। जीवित रहते हुए भी वह मृतवत् हो जायेगी। कुल कन्याएँ मन से जिसे पति मान लेती हैं, उसके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष की चाहना स्वप्न में भी नहीं कर सकतीं। उत्तराध्ययन (२२) में यह वर्णित हुआ है। इन तथ्यों से ध्वनित होता है कि आगमकालीन समाज में विधवा-विवाह का प्रचलन नहीं था। वे श्रमपूर्वक अपनी आजीविका स्वयं अर्जित किया करती थीं। उत्तराध्ययन में ही उल्लेख मिलता है कि पतिविहीना नारियाँ सूत कातकर जीवन-निर्वाह कर लेती थीं।

ऐसा भी नहीं कि तत्कालीन समाज में विधवा-विवाह का प्रचलन रहा ही न हो। उत्तराध्ययनसूत्र में एक कथन आया है जो इस संदर्भ में विशेषत: द्रष्टव्य है। कहा गया है कि—"मृत्यु के बाद व्यक्ति के कमाए हुए धन और उसकी आश्रित स्त्रियों का उपभोग अन्य योग्य व्यक्ति करते हैं।" इससे यह ध्वनि प्राप्त होती है कि विधवा स्त्रियों का पुनर्विवाह होता था। किन्तु सत्य यह भी है कि ऐसा प्रचलन मात्र निम्नतर कुलों में ही था। प्रतिष्ठित, उच्च कुलों में पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं रहा। ●●

आगमकाल में नारी-शिक्षा एवं लोकाचार

आगमकाल में शिक्षा एवं शिक्षा की पद्धति दोनों ही उत्तम प्रकार थीं। पुत्रों की शिक्षा का स्वरूप बड़ा स्पष्ट और व्यवस्थित मिलता है, जबकि कन्या-शिक्षा में ये विशेषताएँ नहीं रहीं। बालिकाओं की शिक्षा होती अवश्य थी, किन्तु वह अनौपचारिक रूप में थी और वस्तुत: बालकों की शिक्षा से भिन्न प्रकार की थी। दोनों के मूल विषयों और प्रयोजनों में ही अन्तर था। आगम ग्रन्थों की साक्षी से कहा जा सकता है कि पुत्र आठ वर्ष की आयु प्राप्त कर लेता और उसे विभिन्न कला-विद्याओं की शिक्षा ग्रहण करने को कलाचार्य के आश्रय में भेज दिया जाता है। इसके विपरीत कन्या की शिक्षा का आयोजन परिवार में ही होता था। घर का आँगन ही उसके लिए पाठशाला हुआ करती थी और वास्तविकता यह है कि माता ही उसके लिए प्रथम आचार्य हुआ करती थी। उसकी शिक्षा का मूल प्रयोजन उसे शीलवती, गुणवती, चरित्रशीला नारी के रूप में ढालना था। कलाओं और विद्याओं का ज्ञान भी कलाचार्यों के माध्यम से कराया अवश्य जाता था, किन्तु उसका स्थल भी घर का आँगन ही हुआ करता था। कलाचार्य कन्या का शिक्षण कन्या के परिवार में आकर किया करते थे। सह-शिक्षा का प्रचलन भी उस काल में नहीं था और शिक्षा स्वरूप में भी कन्याओं के लिए विशेष प्रकार का रहता था। निस्संदेह उस काल में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का बाह्याभ्यान्तरिक समग्र विकास करना था। जीवन के व्यावहारिक पक्ष और चरित्र को सबल बनाना उसका कार्य था। ध्यान देने योग्य तथ्य यही है कि कन्या का चरित्र, उसका व्यावहारिक जीवन और बाहरी-भीतरी व्यक्तित्व की विशेषताएँ विशेष प्रकार की होती थीं, बालकों (पुरुषों) से भिन्न होती थीं और उन्हें भी शिक्षा के माध्यम से परिपक्व बनाया जाता था।

आगमयुगीन समाज में नारी घर की रानी होती थी। सामान्यत: गृह ही उसकी मुख्य कर्मस्थली रहती थी। ऐसी दशा में उसका कुशल गृहिणी होना, सन्नारी होना सर्वथा अपेक्षणीय माना जाता था और इस अपेक्षा की पूर्ति शिक्षा

द्वारा होती थी। परिवार में माता द्वारा उसे नैतिक शिक्षा प्रदान की जाती थी जो उसके व्यक्तित्व में चारित्रिक सबलता और निर्मलता के गुणों का विकास करती थी। कन्याओं के चारित्रिक सौष्ठव का जनक उनका पारिवारिक वातावरण ही हुआ करता था। इसी बल पर आगम साहित्य में चर्चित अनेक सच्चरित्र महान् महिलाओं ने यशार्जन किया; यथा—मल्ली, राजीमती, सुभद्रा, चन्दना आदि। धर्म-प्रवचनों, साध्वियों के धर्मोपदेशों से कन्याएँ सदाचार-प्रवण हो जाया करती थीं। माता पुत्री के चरित्र का निर्माण भी करती थी, उस पर दृष्टि भी बनाये रखती थी। किंचित्-सा चारित्रिक विचलन दृष्टिगत होता और माता उसे प्रयत्नपूर्वक उचित उपायों द्वारा पुनः सुस्थिर करती थी। नैतिक शिक्षा की महत्ता पुत्रों की शिक्षा में भी सर्व स्वीकार्य रही। माता जब पुत्र को दीक्षा देती थी तो वह अपने पुत्र को धर्माचरणयुक्त श्रवण-वृत्ति के पालन का उपदेश देती थी। भगवतीसूत्र और ज्ञाताधर्मकथांग में इसके प्रमाण मिलते हैं। पुत्र को यह शिक्षा भी दी जाती थी कि वह शिष्य के रूप में अपने गुरु के प्रति विनयशीलता और आदर भाव रखे। पुत्र के मन में माता यह भाव भी स्थिर कर दिया करती थी कि गुरु की अवज्ञा महापाप है।[१] उपासकदशांगसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि पुत्र और पुत्री दोनों की शिक्षा में नैतिक शिक्षा की समान महत्ता है।

शिक्षा का परम्परित स्वरूप

राजपरिवारों में राजपुत्र के जन्म पर १८ देशों की दासियों की नियुक्ति की जाती थी। इन दासियों की वेश-भूषा, भाषा, रहन-सहन, जीवन-पद्धति आदि सभी कुछ अपने-अपने देशानुरूप होती। राजकुमार की सेवा, पालन-पोषण ये दासियाँ भाँति-भाँति से करती रहती थीं। इनके अतिरिक्त अनेक स्वदेशी दासियाँ भी रहती थीं। इन सभी दासियों के साथ रहते-रहते राजकुमारों को देश-देश के जीवन सम्बन्धी और सांस्कृतिक विशेषताओं का ज्ञान स्वतः ही व्यावहारिक रूप में प्राप्त होता और उनका मानसिक विकास होता रहता था। शिक्षा का यह एक अनौपचारिक माध्यम होता था। दासियाँ ही इसमें अघोषित शिक्षिकाएँ होती थीं। धीरे-धीरे सम्पन्न और कुलीन परिवारों में भी यह प्रथा यत्किंचित् रूप में प्रचलित होने लगी। ये दासियाँ राजकुल या उच्च कुलों में ही रहती थीं। अतः कुल की कन्याओं को भी ऐसी व्यावहारिक शिक्षा का अवसर स्वतः ही प्राप्त हो जाया करता था। उनके ज्ञान के लिए भी यह नवीन आयाम होता था, यद्यपि कन्या जन्म पर इस प्रकार दासियों की नियुक्ति का विधान था नहीं। परिणय के समय

---

१. दशवैकालिक ९/१२

अवश्य पितृगृह से १८ देशों की दासियों को दहेज के रूप में कन्या के साथ भेजा जाता था।[१] पितृगृह में भाइयों के लिए नियुक्त दासियों से मिलने वाला ज्ञान लाभ इस प्रकार पतिगृह में भी निरन्तरित रहता। दोनों ही कुलों से सम्बन्धित अन्य वंश; जैसे—अमात्य, मंत्री, पुरोहित आदि की कन्याओं का भी राजकुल से सम्पर्क रहता और वे भी लाभान्वित होती रहती थीं।

ऐसी व्यवस्था राजघरानों और प्रतिष्ठित कुलों तक ही सीमित थी। सर्व साधारण परिवारों में कन्याओं को ऐसा अवसर और वातावरण सुलभ नहीं रहता था, किन्तु वे मुनि जनों के आगमन पर प्रवचनों का श्रवण श्रद्धापूर्वक करतीं। धर्माचरण की प्रेरणा उन्हें प्राप्त होती रहती। दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली गृह कलाओं का ज्ञान भी उन्हें परम्परागत रूप में ही मिल जाता, जैसे—पाक कला, वस्त्र-सज्जा, सिलाई-बुनाई, जड़ाई आदि-आदि। अपने आसपास के समाज और वातावरण से उन्हें सीखने का अवसर प्राप्त हो जाता था।

पुत्रों के लिए शिक्षा की अनिवार्यता रहती थी। कलाचार्यों से उन्हें ७२ कलाओं का ज्ञान प्राप्त करना होता था। आगमों में न केवल इन कलाओं की सूची ही प्राप्त होती है, उनके शिक्षण और मूल्यांकन की विधियों का परिचय भी मिलता है और गुरु के प्रति शिष्य के आदरयुक्त कर्त्तव्यों का वर्णन भी। ऐसी औपचारिक शिक्षा का जो स्वरूप पुरुषों के लिए अनिवार्य माना गया था—वैसा अनिवार्य शिक्षा का कोई व्यवस्थित रूप नारी-शिक्षा का नहीं मिलता, किन्तु इतना अवश्य है कि नारी शिक्षा के क्षेत्र में श्रमणियों के लिए स्वाध्याय अनिवार्य था। साधुओं की भाँति ही साध्वियों के लिए भी १२ घण्टे प्रतिदिन स्वाध्याय अनिवार्य रहता था।

अनेक स्त्रियों ने विशिष्ट रूप में ज्ञानार्जन कर कीर्ति प्राप्त की थी। आगम ग्रन्थों में उनके उल्लेख भी सुलभ होते हैं। अपने अपरिमित ज्ञान के बल पर मल्लीकुमारी ने चौखा परिव्राजिका को शास्त्रार्थ में पराजित किया, जो वेदविज्ञ, यशस्विनी ब्राह्मण-कन्या थी। नारी अपने बुद्धि-कौशल के बल पर राजनीति प्रवण भी थी, तो सफल सार्थवाह के रूप में विदेश-व्यापार का संचालन भी स्वतंत्रतापूर्वक किया करती थी।[२] अनेक स्त्रियाँ काव्य कला और शृंगार कला की निष्णात् विशेषज्ञाएँ थीं। गणिकाएँ-वेश्याएँ अनेक कलाओं में पारंगत होती थीं। अनेक ६४ कलाओं में निपुण थीं और १८ गुणों से युक्त थीं। गायन, वादन,

---

१. ज्ञाताधर्म कथा १

२. समवायांगसूत्र

नर्तन में कुशल ये गणिकाएँ पुरुषों को आकर्षित करने की कला में भी अग्रणी थीं। गणिका देवदत्ता तो १८ देशों की भाषाओं की कुशल ज्ञाता थी। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में नारी सम्बन्धी कलाओं की सूची उपलब्ध होती है जिसमें ६४ कलाओं का समावेश है। इससे इस आभास की पुष्टि होती है कि नारी के लिए भी आगमकाल में कला-शिक्षा का प्रावधान था। यह कला शिक्षा कलाचार्यों द्वारा ही प्रदान की जाती रही होगी—यह भी निश्चित रूप से माना जा सकता है, किन्तु कलाचार्यों का सान्निध्य कन्याओं को उनके अपने परिवार में ही उपलब्ध कराया जाता था। यह भी आभासित होता है कि ऐसी उच्च शिक्षा राजघरानों, अन्य प्रतिष्ठित उच्च कुलों की कन्याओं के लिए ही सुलभ रही होगी। सामान्य परिवारों की कन्याओं के लिए तो समाज और परिवार की पाठशाला में नैतिक और परम्परित शिक्षा-प्राप्ति का ही अवसर प्राप्त था। पुरुषों के लिए एक अलग प्रकार की शिक्षा का विधान था तो कन्या शिक्षा का स्वरूप भिन्न प्रकार था। उसमें भी अभिजात वर्ग और सामान्य वर्ग की कन्याओं की शिक्षा में पर्याप्त अन्तर रहता था।

लोकाचार

लोक में प्रचलित परम्पराओं और व्यवहारों का स्वरूप किसी युग में एक प्रकार का होता है तो अन्य युग में भिन्न ही प्रकार का। एक युग में भली समझे जाने वाली परम्परा अन्य युग में समय-परिवर्तन के साथ-साथ उतनी भली अनुभव नहीं की जाती। कालगत भिन्नता के साथ ही इनमें स्थानगत अन्तर भी आता रहता है। एक क्षेत्र में भली लगने वाली परम्परा या व्यवहार अन्यत्र प्रशंसित नहीं होता या उसका प्रचलन ही नहीं होता। वहाँ अन्य ही परम्पराएँ प्रचलन में रहती हैं। वस्तुस्थिति यह भी है कि इन लोकाचारों से तत्कालीन समाज और देश की पहचान स्थापित होती है, एक युग और अन्य युग के मध्य की सीमा-रेखा बनती है। मोटे रूप में ऐसे लोकाचारों का प्रचलन जैनागम काल में भी था ही और उनका अध्ययन उस युग और उस देश-काल का परिचय भी स्पष्ट करता है। लोकाचार सम्बन्धी तत्कालीन अवस्था को भलीभाँति समझने की दृष्टि से प्रचलित लोकाचार तीन वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—(क) देश सम्बन्धी लोकाचार, जो देश-देश में विभिन्न प्रकार के थे और किसी एक देश की परम्परा अपने ठीक विलोम रूप में भी अन्यत्र प्रचलित मिलती थी, (ख) जाति सम्बन्धी लोकाचार, एवं (ग) कुल सम्बन्धी लोकाचार। आगम साहित्य में इनका परिचय भी प्राप्त होता है।

देश सम्बन्धी कतिपय लोकाचार

आगमकाल में हमारे विशाल देश में दो प्रकार के क्षेत्र थे—आर्य देश और अनार्य देश। दोनों प्रकार के क्षेत्र वेश-भूषा, भाषा, संस्कृति, रहन-सहन और सोच-विचार तथा आदर्श-अनादर्शों की दृष्टि से परस्पर असमानता रखते थे। दोनों ही स्वयं को अन्य की अपेक्षा उत्तम मानते थे, किन्तु तटस्थ बुद्धि से आर्य देश श्रेष्ठतर निर्णीत होते हैं। ज्ञातासूत्र में एक प्रसंग मिलता है कि एक स्वर्णकार जब मल्लीकुमारी के स्वर्ण-कुण्डल जोड़ने में असमर्थ रहा तो उसे राजाज्ञा द्वारा देश से निष्कासित कर दिया गया था। तत्कालीन मिथिला नगरी में इस प्रकार का राजनियम था कि जो व्यक्ति अपने व्यवसाय या कलाक्षेत्र में अक्षम हो—उसे देश निकाला दे दिया जाये। ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। मगध देश का नियम था कि सहभोज के आयोजनकर्त्ता से राज्य द्वारा कर वसूल किया जाये। इसके विपरीत चम्पानगरी में ऐसा कोई नियम न था। आज की परिस्थितियों में यह विचित्र लग सकता है, किन्तु आगमकाल में चम्पा नगरी में गणिका के साथ नगर-परिभ्रमण करना सम्मानजनक माना जाता था। प्रतिष्ठित और संभ्रान्त जन भी ऐसा किया करते थे। यहाँ तक कि अपनी इस प्रवृत्ति को लोग अपने माता-पिता से भी गोपनीय रखना आवश्यक नहीं मानते थे। कला, विद्या, शिल्पादि की शिक्षा प्राप्त करने के लिए बालक को कलाचार्य के पास भेजा जाता था और इस निमित्त कलाचार्य को कुछ धन अर्पित किया जाता था। ऐसा करने में असमर्थ शिष्यों के लिए भी आचार्य सहायतापूर्ण दृष्टिकोण रखते थे। उन्हें शिक्षा देते और ऐसे शिष्यों को शिक्षा-समाप्ति पर अपने आचार्य के केन्द्र पर कुछ समय तक शिक्षक के रूप में अपनी सेवाएँ देनी होती थीं।

अनार्य देशों की स्त्रियाँ चरित्र बल से सुदृढ़ नहीं थीं। आगमों में उल्लेख मिलता है कि भगवान महावीर साधनाकाल में जब इस क्षेत्र के भ्रमण पर थे, उनके पास भोग की यातना के साथ अनेक अनार्य स्त्रियाँ पहुँचा करती थीं। कल्पसूत्र की साक्षी के साथ कहा जा सकता है कि भगवान महावीर जब रात्रि में एकान्त-सेवन करते, तब अनेक पुरुष स्त्रियों के साथ भोग भोगने की कामना से आते थे। अनेक स्त्रियों ने तो अतृप्त वासना के साथ अपनी जीवन-लीला ही समाप्त कर दी थी। ऐसा कुरु देश के उत्तरी भाग में हुआ।[१]

समान अपराध के लिए अलग-अलग वर्गों के अपराधियों के लिए दण्ड-विधान भी भिन्न प्रकार के होते थे। क्षत्रियों को कठोर दण्ड दिया जाता था तो

१. प्रश्नव्याकरणसूत्रम् १/१४

ब्राह्मणों के लिए देश-निकाला का विधान था, ऋषियों के लिए तो अति साधारण दण्ड होता था। युद्ध के भी नियम थे और आदर्श नरेश इनका आस्था के साथ पालन किया करते थे। ऐसे अनेक कुत्सित मनोवृत्ति के नरेश भी थे जो मनमानी ही करते थे, नियमों के अधीन नहीं रहते। ऐसा ही एक राजा चण्डप्रद्योत भी था। उसने तो सामाजिक और राजकीय व्यवस्था को भी तिलांजलि देते हुए एक दासी से विवाह रचा लिया था। चण्डप्रद्योत ने समरभूमि में अनीतिपूर्वक युद्ध किया और अन्त में जब वह पराजित हुआ तो विजयी नरेशों ने बन्दी चण्डप्रद्योत के भाल पर—'दासी-पति'—लिखवा दिया। बाद में जब समझौता हुआ और उदयन द्वारा अपनी कन्या और जीता हुआ राज्य प्रदान किया गया, तब चण्ड को पट-पगड़ी भी प्रदान की गयी जिससे उसके भाल का लेख आवृत्त हो जाता था। माना जाता है कि यहीं से राजाओं के लिए पगड़ी की परम्परा आरम्भ हुई, तब तक केवल किरीट ही धारण किया जाता रहा था।

अनार्य देशों की स्त्रियाँ अपनी भाषा और संस्कृति की निपुण मर्मज्ञ थीं। दासी रूप में इन स्त्रियों की माँग आर्य देशों में बड़ी विपुल रूप में थी। कुछ देशों में मामा के पुत्र से विवाह मान्य था, किन्तु मौसी के पुत्र के साथ नहीं।[१] अनेक अन्य गणराज्यों में भी ऐसा प्रचलन था, किन्तु अन्य ऐसे राज्य भी रहे जहाँ इस प्रथा को अमान्य समझा जाता था।

जातिगत आचार

आगमकाल के जातिगत आचार-व्यवहारों का अध्ययन करने पर निष्कर्षतः यह तथ्य हमारे समक्ष उभर आता है कि उस काल में 'जातिवाद' की प्रबलता थी। ब्राह्मण अन्य वर्गों की अपेक्षा स्वयं को अधिक पावन और श्रेष्ठ समझते थे। वे किसी अन्य जातीय व्यक्ति के हाथ का भोजन ग्रहण नहीं करते थे। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन में लगे रहते थे। यदि कोई ब्राह्मण-पुत्र शिक्षा-प्राप्ति हेतु ब्राह्मण आचार्य के पास आता और वह साधनहीन होता तो आचार्य ऐसे शिष्य के लिए किसी धनाढ्य से सहायता उपलब्ध करा देता था। बड़े-बड़े यज्ञायोजन का प्रचलन भी था। ब्राह्मणों को अत्यधिक ज्ञानाभिमान भी था, किन्तु यदि कोई पण्डित शास्त्रार्थ में पराजित हो जाता तो वह श्रमण बन जाता था। स्वयं को सर्वोच्च मानने वाले ये ब्राह्मण भोजनशाला में तैयार भोजन पर अपना सर्वाग्र अधिकार मानते थे। इस सम्बन्ध में उत्तराध्ययन के हरिकेश बल अध्ययन में उल्लेख प्राप्त होता है। यज्ञशालाओं से भी ब्राह्मणों को ही भोजन दिया जाता था,

१. निशीथ : एक अध्ययन, पृ. ७५

श्रमणों को नहीं। ब्राह्मण किसी से कुपित हो जाते थे तो स्वयं प्रतिशोध न लेकर अपने क्षत्रिय शिष्यों को तदर्थ उत्प्रेरित कर देते थे। ब्राह्मणों-श्रमणों के मध्य कटु और अप्रिय सम्बन्ध थे। अविरोध की और समन्वय की स्थिति नहीं थी। ज्ञाताधर्मकथांग में कहा गया है कि ब्राह्मणी मागधी द्वारा मुनि को कड़वा भोजन दिया गया था।

क्षत्रिय और वैश्य परिवारों में धार्मिक औदार्य था। पति-पत्नी भी भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी हो सकते थे। चालुक्य जाति की नारियाँ प्रेमविहीन जीवन-यापन करतीं और पति के मरण पर वे अपनी जीवन-लीला भी समाप्त कर लेती थीं। क्षत्रियों के अपने आदर्श थे। वे शरणागत की रक्षा करते थे। अपहृत नारी के साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार करते और उसकी सहमति के बिना शील-भंग नहीं करते थे। विदेश-व्यापार में संलग्न वैश्य-सार्थवाह लम्बी-लम्बी अवधि तक घर-परिवार से दूर रहते थे, किन्तु उनकी पत्नियाँ घर में ही सादा जीवन बिताती रहती थीं। पूर्व वर्णित तथ्यानुरूपता में यहाँ यह संकेतित किया जा सकता है कि पृथक्-पृथक् जातियों में विवाह, शिक्षा आदि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न परम्पराएँ प्रचलित रहीं।

कुलगत आचार

आगमकालीन समाज में विभिन्न कुलों की अपनी-अपनी परम्पराएँ, अपने-अपने व्यवहार थे। इनसे ही कुल की पहचान भी बनती थी। योग रूप में इनसे तत्कालीन समाज के स्वरूप का आभास हो जाता है। कतिपय प्रमुख कुलाचार इस प्रकार थे—

- अधिकतर क्षत्रिय कुलों में बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन रहा, किन्तु कल्पसूत्र के सन्दर्भ से कहा जा सकता है कि महावीर का कुल इसका अपवाद था।
- कश्यप कुल की एक परम्परा थी कि पुत्र और पुत्री दोनों के नाम एक से अधिक रहा करते थे।
- चक्रवर्ती का भोजन विशिष्ट कोटि का हुआ करता था जो साधारण कुलों के लिए अग्राह्य होता था। एक ब्राह्मण ने जब यह भोजन कर लिया तो उसका जीवन अनैतिकताओं का कोष हो गया—वह कामांध हो गया।
- श्मशान-रक्षा का कार्य चाण्डाल कुल को गौरव प्रदान करता था।

- दासी का अपहरण करने की परम्परा क्षत्रिय कुलों में नहीं थी। राजा चण्डप्रद्योत ने परम्परा-विरोधी आचरण किया था। राजा उदयन ने इस नीति का विरोध किया। युद्ध हुआ। अन्य कुछ राजाओं ने उदयन का साथ दिया। चण्डप्रद्योत की पराजय हुई।
- विजयी राजा पराजित राजा के कुल में विवाह सम्बन्ध स्थापित करते और जीता हुआ राज्य पराजित राजा को लौटा देते थे। उत्तराध्ययन इसका साक्षी है।
- विवाह-पूर्व के लोकाचार विभिन्न कुलों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हुआ करते थे और सभी कुल इनका निर्वाह करते थे।
- क्षत्रिय कुल की कन्या का पुनर्विवाह नहीं होता था।
- पुत्री के जन्म पर वैसे उत्साहपूर्ण आयोजन नहीं होते थे, जैसे पुत्र-जन्म पर होते थे। पुत्र-प्राप्ति का शुभ सन्देश देने वाली दासी को पुरस्कृत किया जाता, उसका दासत्व समाप्त कर दिया जाता, आवश्यक वस्तुओं के मूल्य घटा दिये जाते, दस दिन तक कर नहीं लिए जाते, कई-कई दिन तक समारोह मनाये जाते थे। दस दिन तक निर्धनों को राजा ऋण देता और उसका पुनर्भुगतान नहीं किया जाता था। अधीनस्थ राजागण भेंट भेजते, बन्दियों को कारा-मुक्त कर दिया जाता था। पुत्री-जन्म पर यह सब कुछ नहीं होता था।
- राज कुलों—उच्च कुलों में जन्मे पुत्र-पुत्रियों के पालन-पोषण के लिए धायें नियुक्त की जाती थीं।
- गर्भवती स्त्री की इच्छा—'दोहद' को पूर्ण करना पति के लिए एक आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता था।

इन विभिन्न कुलाचारों के माध्यम से तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति का ज्ञान भी हो जाता है। बहुपत्नीत्व प्रथा तो उस काल में थी, किन्तु विधवा के पुनर्विवाह का प्रचलन न होना, दासी का भी सम्मान होना, पुत्र-जन्म को पुत्री-जन्म की अपेक्षा अधिक हर्षप्रद माना जाना, पालन-पोषण में दोनों के लिए समान रूप से ध्यान दिया जाना, पत्नी-अभिलाषाओं का आदर किया जाना आदि विभिन्न ऐसे तथ्य प्रकाश में आते हैं जिनसे तत्कालीन नारी के प्रति समाज का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

आगमकालीन नारी : मनोवृत्तियाँ रहन-सहन की

आगमों की साक्षी से ऐसा कहा जा सकता है कि तत्कालीन नारी की अभिरुचियाँ कलात्मक और कमनीय थीं। सौन्दर्यप्रियता, शृंगारप्रियता, आकर्षक दिखायी देने की अभिलाषा नारी की उल्लेखनीय विशेषताएँ थीं। जीवन सुन्दर और सुखी था। उसे और भी सरस और आनन्दमय बनाने के प्रयासों में सभी रुचि लेते थे। ऐसे में नारी की अपने रूप-रंग के प्रति आसक्ति भी स्वाभाविक ही कही जा सकती है। अपने रूप-सौन्दर्य को शृंगार और आभूषण-प्रयोग द्वारा और भी मोहक बनाने में वह निरन्तर प्रवृत्त रहती थी। इसी प्रयोजन से वह अपने परिधान और शृंगार-प्रसाधनों को भी बड़ा महत्त्वपूर्ण मानती थी।

वेश-भूषा भी सौन्दर्य-वृद्धि में सार्थक योगदान करती है, उस काल की नारी आकर्षक रूप में इस रहस्य से परिचित थी। नारियाँ सज्जित, सुन्दर वस्त्रों का उपयोग कर स्वयं शोभित होती थीं और इस दृष्टि से उनका सौन्दर्य-बोध बहुत बढ़ा-चढ़ा था। सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त भी उस काल में वृक्ष की छालों और चर्म से बने वस्त्रों का प्रचलन था। उच्च स्तरीय और साधारण दोनों प्रकार के वस्त्र निर्मित होते थे। सभी वित्तीय स्थिति के वर्गों के लिए सुन्दर वस्त्रों से अपना सौन्दर्य बढ़ाना संभाव्य था। स्वदेशी वस्त्रों के साथ-साथ आयातित मूल्यवान और आकर्षक वस्त्र भी सौन्दर्योन्नयन में अपनी भूमिका निभाते थे। उस काल में भी चीन से वस्त्रों का आयात होता था। मलय और मशरूक आदि देशों से भी हमारे देश को वस्त्रों का निर्यात किया जाता था।

राजघरानों और उच्च कुलों की स्त्रियाँ कोमल, महीन साड़ियों में सजी रहती थीं, जिन पर स्वर्ण-रजत के तारों का लुभावना काम भी होता था।[१] वस्त्रों को रंगे जाने का प्रचलन भी था और स्त्रियों को रंगों के समन्वय और संयोजन की सुरुचि भी थी। नीले रंग के वस्त्र सामान्यत: अधिक रुचिकर थे, किन्तु श्वेत रंग शुभ माना जाता था। कृष्ण, लाल, पीले आदि रंगों का भी पर्याप्त प्रचलन था। साड़ी ही नारी का परिधान हुआ करता था और रेशम अधिक रुचिकर लगता था।

सुन्दर आकर्षक वस्त्रों के चयन से ही तत्कालीन नारी की सौन्दर्यप्रियता का आभास हो जाता है, फिर वे इन वस्त्रों को कलात्मक रूप से सजा लेती थीं। उन पर वे कशीदाकारी, जरी आदि का काम भी स्वयं कर लेती थीं और वस्त्रों

---

१. ज्ञाताधर्मकथांग १/२/५

की शोभा को चार चाँद लग जाते थे।[१] स्त्रियाँ बुनाई-सिलाई की कला में भी निपुण थीं और सुन्दर परिधान निर्मित करने में स्वयं भी सक्षम थीं। आगमों में स्त्रियों की ६४ कलाओं की सूची में भी बुनाई को स्थान प्राप्त है।

आभूषणप्रियता भी आगमकालीन नारी की एक प्रमुख विशेषता थी। सूत्रकृतांग के उल्लेखानुसार स्त्रियाँ पुरुषों से आभूषणों की माँग किया करती थीं और पुरुष इस माँग की पूर्ति में पीछे भी नहीं रहा करते थे। रानी पद्मावती देव-समर्पित हार की अभिलाषा रखती थी जो कोणिक के भाइयों के पास थे जो आधा राज्य लेकर ही देने को तत्पर हुए थे। कोणिक को १८ गणराज्यों के साथ महा शिलाकंटक का युद्ध करना पड़ा, जिसकी भीषणता का अनुमान इससे हो सकता है कि इस युद्ध में ८४ लाख योद्धा मारे गये। अन्ततः कोणिक रानी पद्मावती की कामनापूर्ण कर सका।[२] राजा श्रेणिक ने भी रानी को कुण्डल और हार दिया। उववाइय के अनुसार आगमकालीन स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषणों को धारण किया करते थे। नारियों के प्रमुख आभूषण थे—पाँवों में नूपुर, हाथों में कंकण, कमर में कटिमेखला, कानों में कुण्डल, उँगलियों में मुद्रिकाएँ आदि। कंकण सौभाग्य का चिह्न माना जाता था। सम्पन्न परिवारों में मणि, मोतीजटित स्वर्ण-रजत के बहुमूल्य आभूषणों का प्रचलन था तो साधारण परिवारों में कथीर के आभूषण ही प्रयुक्त होते, किन्तु स्त्रियाँ अपनी आभूषणप्रियता का परित्याग नहीं कर पाती थीं।

शृंगार और प्रसाधन-प्रयोग द्वारा नैसर्गिक सौन्दर्य को उद्दीप्त करने की प्रवृत्ति भी तत्कालीन नारियों में अति सामान्य रूप से पायी जाती थी। यह वह युग था जब परिवार चलाने का आर्थिक दायित्व पुरुषों पर रहता था। नारियाँ अतिरिक्त समय का उपयोग करती थीं और शृंगार आदि की सुविधा रहती थी। उस युग में सुन्दर कन्याओं को ही श्रेष्ठ और सुयोग्य वर की प्राप्ति होती थी। अतः आरम्भ से ही स्त्रियाँ शृंगारप्रिय होती थीं। विवाहोपरान्त भी पति की अनुरक्ति अन्य सुन्दरियों के प्रति न हो जाये—इस आशंका से वे स्वयं को आकर्षक बनाये रखती थीं। वे स्नान-पूर्व मालिश, उबटन किया करतीं, स्नान का जल सुगंधित कर लिया करती थीं। केसर, कस्तूरी, गुलाब के इत्र का प्रयोग कर स्नानोपरान्त तन को सुवासित करतीं। चन्दन, गोरोचन, कुमकुम आदि का विलेपन भी उस युग में प्रचलित था। स्नान-पूर्व उबटन में भी चन्दन प्रयुक्त होता था और

१. समवायांग ७२
२. भगवतीसूत्र ११

स्नानान्तर विलेप के रूप में भी। आँखों में अंजन का तो अधरों की लालिमा के लिए नन्दीचूर्ण का प्रयोग करती थीं। कुदृष्टि से रक्षा के लिए स्त्रियाँ शृंगारोपरान्त काजल का एक चिह्न मुख-मण्डल पर अंकित कर लिया करती थीं जो 'कौतुक मंगल' कहलाता था। कौतुक मंगल भी सौन्दर्य को और अधिक वर्धित कर देता था। कंघी, अंजन, दर्पण, दातौन आदि का प्रयोग भी सर्व सामान्य था। यौवन रक्षार्थ औषधियों का सेवन इस दृष्टि से भी किया जाता था कि रूप-सौन्दर्य में ह्रास न आ पाये। नारियों में रूप सौन्दर्य बढ़ाने की दिशा में प्रयत्नशील रहने के प्रयोजन से प्रसाधन-कला सीखने का प्रचलन भी था। स्थान-स्थान पर उद्यानों में इस हेतु 'सौन्दर्य गृहों' का संचालन होता था जहाँ सुन्दरियाँ अपना रूप भी सँवारती थीं और इस कला का प्रशिक्षण भी प्राप्त करती थीं।

केश-सज्जा को भी नारी सौन्दर्य का एक अभिन्न अंग माना जाता था, अपितु अलंकार की भाँति सुन्दर केश-सज्जा से नारी की सुन्दरता और अधिक विकसित हो जाया करती थी। काले केश सौन्दर्य के प्रतीक माने जाते थे और इनके रख-रखाव पर नारियाँ बहुत ध्यान देती थीं। पुष्पों से केशों को सज्जित करना भी उस काल में प्रचलित था। आगमकालीन स्त्री-पुरुष पुष्पों का उपयोग स्वयं को सजाने-सँवारने में भी करते थे और देवार्चना के लिए भी। राजकुलों में शय्याओं को पुष्पों से सजाया जाता था। पुष्पहारों का प्रयोग भी बहुप्रचलित था। क्या राजा-रानी और क्या साधारण गृहस्थ-सभी पुष्पहार पहना करते थे।

आगमकालीन नारी की मनोवृत्ति इस प्रकार सौन्दर्य-प्रधान थी। नारी का जीवन और व्यक्तित्व कलामय हो गया था। रूप सौन्दर्य की आराधिका ही नहीं वह उसकी साधिका भी थी। उसकी मनोवृत्ति सुन्दर और आकर्षक बने रहने की रहा करती थी। इसके लिए वह वेश-भूषा, अलंकरण, शृंगार आदि सभी दिशाओं से प्रयत्नशील रहा करती थी। सौन्दर्यप्रियता की नारीगत विशेषता तो इसका आधारभूत कारण था ही; इसके पीछे यह मनोवृत्ति भी रही कि सुन्दरी के रूप में ख्यात नाम होकर वह उच्च कुल की वधू बन सकेगी। पुरुष अनेक विवाहों के लिए स्वतंत्र थे। अत: पति को अपनी ओर एकाग्र बनाये रखने की दृष्टि से भी यह प्रयत्न उन्हें सार्थक प्रतीत होता था। सौन्दर्य-बोध से विभूषित आगमकालीन नारी सौन्दर्याभिमुख भी रहती थी और सौन्दर्य-साधना में भी रत रहती थी।

●●

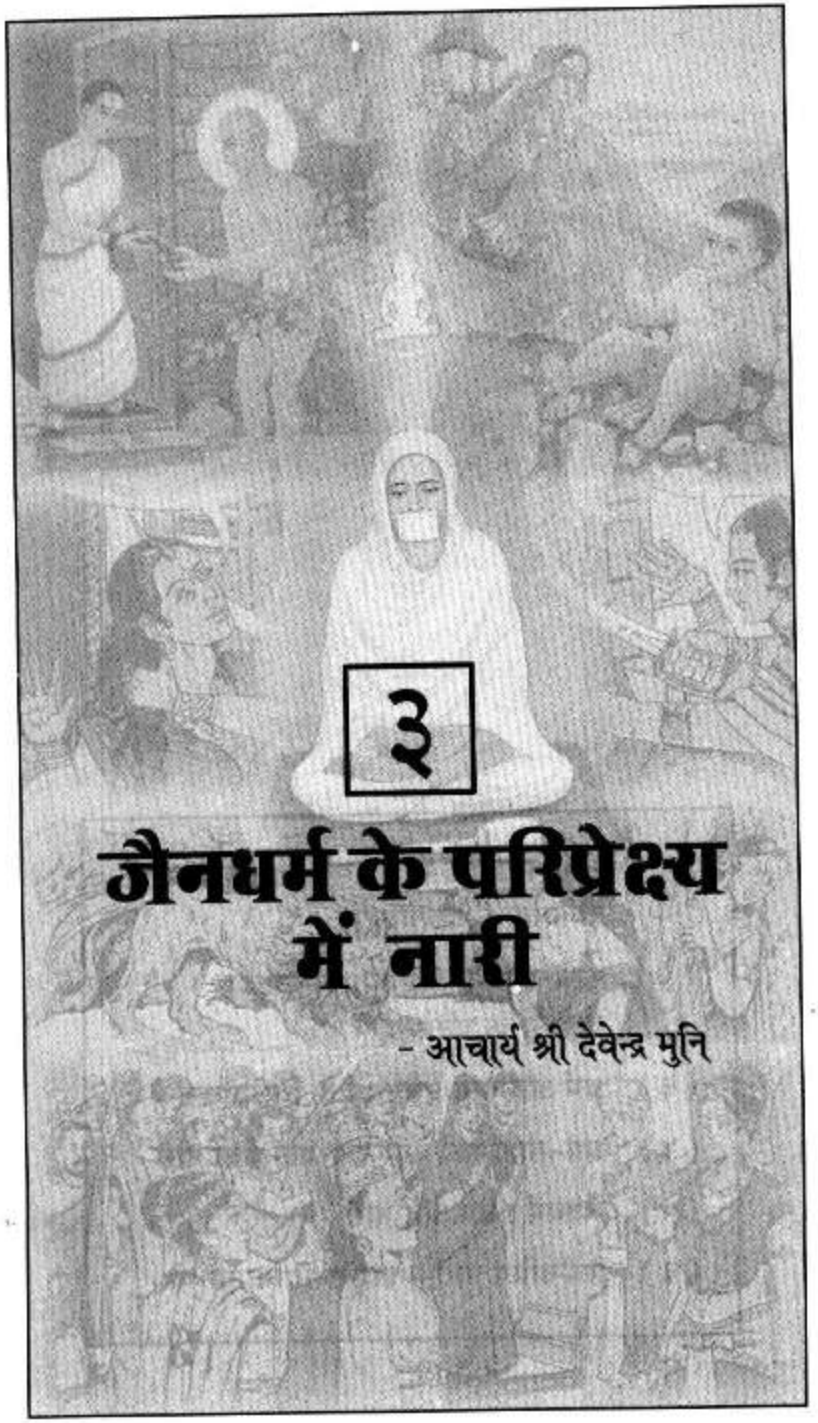

३

जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में नारी

- आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

(१) नारी-विषयक सद्-असद् दृष्टिकोण :
जैनागम के आलोक में

(२) नारी की उदात्तता और निंद्यता :
जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में

(३) धर्म और नारी : जैनधर्म के विशेष सन्दर्भ में

(४) धर्म-सहायिका और पथ-प्रदर्शिका नारी

(५) जैनधर्म : तप और नारी

(६) शान्तिप्रिय नारी—शान्ति-विधायक भी

१

नारी-विषयक सद्-असद् दृष्टिकोण : जैनागम के आलोक में

आगम ग्रन्थों में नारी की सदसद-द्विविध रूपरेखा मिलती है। एक स्वरूप धर्म की बाधा के रूप में नारी का है तो दूसरा स्वरूप नारी का ऐसा है जिसमें वह साधना और तपश्चर्या द्वारा आत्म-कल्याण में रत है। एक स्वरूप पुरुषों को पाप-पंक में लिप्त करने वाली का है, तो दूसरा स्वरूप पुण्य भावी, सदाचारयुक्त साधिका का है। एक रूप मलिन, अबला, कामवासना की प्रतिमूर्ति का है तो दूसरा पावन, सबल, आत्म-विश्वासपूर्ण और पुरुषोद्धारिका नारी का है। इन दो स्वरूपों में विरोधाभास दीखता है। ये दोनों स्वरूप वास्तव में भिन्न-भिन्न कोणों से दृष्टिपात के परिणाम हैं। पहला स्ह्वरूप नारी का अपना स्वतंत्र स्वरूप न होकर—पुरुष-सापेक्ष रूप है। पुरुषों के संदर्भ में यह नारी-स्वरूप का चिन्तन है जबकि दूसरा पक्ष स्वतंत्र चेता नारी का अन्तरंग चित्र प्रस्तुत करता है जो उसकी अपनी व्यक्तित्व-छवि है जिसमें विशिष्ट निर्माता भगवान महावीर स्वामी के चिन्तन की छवि है। यहाँ विवेच्य विषय यह है कि आगमों की नारी सम्बन्धी धारणाएँ कैसी हैं? क्या हैं?

सत्य ही आगमों में नारी को धर्म विरोधी माना गया, उसे पुरुषों को धर्म विमुख बनाने की प्रेरिकावत् चित्रित किया गया है। जैनधर्म का बीज मंत्र है—अहिंसा। जैनदर्शन अहिंसा को परम धर्म स्वीकार करता है। पंचमहाव्रतों में अहिंसा को भी एक व्रत माना गया है, किन्तु अहिंसा का भाव इतना व्यापक, सघन और गहन है कि वास्तव में वह शेष चार महाव्रतों का भी आधार हो गया है। इनका परिपालन अहिंसा के बिना किया नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, आगम ग्रन्थों में उल्लेख है कि काने, नपुंसक, रोगी और चोर को अपने यथार्थ रूप में सम्बोधित करना सत्य तो हो सकता है, किन्तु ऐसा सत्याचरण वांछनीय नहीं है, क्योंकि ऐसे सम्बोधन सम्बन्धित व्यक्ति के मन के लिए पीड़ादायक हो जाते हैं और यह हिंसा का ही एक रूप है। ऐसा पीडोत्पादक सत्य-सत्य नहीं रह जाता।

परिग्रह अन्य जनों के अधिकार हनन का काम करता है। परिग्रही व्यक्ति अन्य जनों को सुख-सुविधाहीन बनाकर स्व-सुख की साधना में लगा रहता है। यह भी हिंसा है। अहिंसा के बिना अपरिग्रह महाव्रत का पालन सम्भव नहीं। अनेक वस्तुएँ संग्रह करने की कामना उसे अतृप्त रखती हैं, उसकी इच्छाएँ बढ़ती चली जाती हैं और वह परिवार, समाज और राष्ट्र में विग्रह एवं संघर्ष का कारण बन जाता है जो हिंसा का ही रूप है। स्त्रियाँ परिग्रह-प्रिय होती है, परिवार के प्रति उनमें पुरुषापेक्षा अधिक आसक्ति होती है। उनमें इस प्रकार अहिंसा का उतना ही अभाव रहता है। हिंसा का तो जैनशास्त्रों में मन-वचन-कर्म से भी निषेध किया गया है।[१] अस्तेय या अचौर्य के विषय में विधान है कि अन्य जन की वस्तु को बिना उसकी आज्ञा के ग्रहण नहीं करना चाहिए। दूसरों की निन्दा चुगली न करना भी अस्तेय के अन्तर्गत आता है। दूसरे के अधिकार का हनन, दूसरों की निन्दा उन्हें मानसिक पीड़ाग्रस्त बना देता है, संघर्ष होता है—यह हिंसा है। अहिंसा से ही अस्तेय का पालन सम्भव है। ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन भी अहिंसा की ही आराधना है। अब्रह्मचर्य समस्त पापों का जनक है। पुरुषों को कामवासना-लिप्त कर पाप के बोझ से उसे लाद देने वाली नारी ही है। यह भी हिंसा का मूल है। उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित है कि स्त्री परिग्रह का रूप है, उससे दूर रहने का निर्देश दिया गया है। स्त्री को त्यागने की बात कही गयी है। वासनोत्पत्ति की मूल भी नारी है। काम की उद्‌गम भी नारी है। अतः उससे दूर रहना ही श्रेयस्कर है। अहिंसा की दृष्टि से यह प्रतिपादन नारी के प्रति तिरस्कार नहीं; अपितु उसके चरित्र को निष्कलंक रखने का ही प्रयास है।

ज्ञाताधर्मकथांग में व्यभिचारिणी स्त्रियों को 'मायाचारिणी' कहा गया है। जो नवागत पुरुष पाकर पूर्वपुरुष का परित्याग कर देती थीं। मन, वचन-कर्म की भिन्नता वाली ऐसी महिलाओं से श्रद्धा न रखने का निर्देश मुनियों को दिया गया है। कहा गया है कि साधु स्त्री को विष में लिप्त और कंटक-तुल्य समझे और उपदेश करने को अकेले स्त्री के घर न जाय।[२] निशीथ सूत्र में तो यह भी कहा गया है कि माता, पुत्री, बहन के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए। राग-द्वेष विहीन साधु को स्त्री-संग से दूर ही रहना चाहिए। अन्यथा उसे सन्देह की

---

१. तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं तं वयं बूम माहणं॥ —उत्तराध्ययन

२. तुम्हा उ वज्जए इत्थी विसलित्तं व कंटगं णच्चा।
ओए कुलाणी वसक्ती आधाए णं सं वि णिग्गंथे। —सूत्र. ४/१/११

दृष्टि से ही देखा जायेगा। स्त्री-संग से चरित्र-मलिनता और संघर्ष का जन्म होता है और अहिंसा अर्थात् धर्म विलोम रूप में प्रभावित होता है। आगमों में कतिपय ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें नारी द्वारा साधु को पथ भ्रष्ट किये जाने का उल्लेख हुआ है।

दीक्षा प्राप्त आर्द्रक मुनि के मन में एक कन्या के प्रति आसक्ति उभरी और उन्होंने साधुत्व का परित्याग कर दिया था। पुनर्दीक्षा से पूर्व गृह त्याग के समय आर्द्रक को मोह-जाल में जकड़ने के प्रयोजन से उनकी पत्नी ने पुत्र से उन्मुख होते हुए कहा था कि अब मुझे सूत कातकर तेरा पालन-पोषण करना होगा, तेरे पिता तो दीक्षा ग्रहण करने वाले हैं और इस प्रकार वह स्त्री आर्द्रक के साधुत्व के मार्ग में बाधक बनी। आर्द्रक मुनि न बन सके। स्त्री माया और परिग्रह का आधारभूत कारण मानी जाती थी—जो हिंसा का ही एक रूप थी।[1]

इसी प्रकार वेश्याओं के निवास क्षेत्र में प्रवेश करना भी साधुओं के लिए वर्जित माना गया था, इससे ब्रह्मचर्य में दोष आता है। स्थूलभद्र तो १२ वर्षों तक वेश्या के मोहजाल से मुक्त न हो सके और अन्त में पिता के देहावसान पर ही स्वगृह को लौट सके। वेश्याएँ रूप जाल में पुरुषों को ऐसा फँसा लेती थीं कि वे विवेकहीन हो जाते थे, मदांध हो जाते थे, फिर तो वह राग-द्वेष से कर्मफलों का संचय करता रहता है।[2] यह भी कहा गया है कि नारी पर दृष्टि पड़ने मात्र से ही आसक्ति की आवृत्ति होती है।

काम स्त्रियों से ही आरम्भ होता है और महाविनाश करता है। अतः स्त्री परित्याग किये जाने के ही योग्य है। नारी के कामजाल में फँसे व्यक्ति की दुर्गति का विवेचन भी आगम ग्रन्थों में हुआ है। पुरुष बेचारा मोहजाल में ऐसा उलझ जाता है कि स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता। दूसरी अवस्था में वह उस नारी को बार-बार देखने की इच्छा करता है। तीसरी अवस्था में वह दीर्घ निश्वास लेने लगता है तो चौथी अवस्था में वह ज्वरग्रस्त-सा हो जाता है, तो पाँचवीं अवस्था में तन-मन में दाह होने लगता है। छठी अवस्था में अन्न-जल से भी अरुचि हो जाती है तो सातवीं अवस्था में प्रकम्प होने लगता है और आठवीं अवस्था में उसे उन्माद हो जाता है। नौवीं अवस्था में वह प्राणों के भय से ग्रस्त हो जाता है और दसवीं अवस्था में वह मृत्यु को ही प्राप्त हो जाता है। नारी-आसक्ति का

---

१. कथांगसूत्र।

२. कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहाओ मलं संचिणइ सिसुणागुव्व मट्टियं॥ —उत्तराध्ययन सूत्र ५/१०

वरण इस प्रकार साक्षात् मरण का ही वरण माना गया है। काम-भोग में आसक्ति को भी एक प्रकार से हिंसा ही कारण कहा गया है। साथ ही काम व्यक्ति को संसार में भटकाने वाला भी है। रूपासक्त व्यक्ति मूर्च्छाग्रस्त रहता है। कहा गया है कि काम की अभिलाषा से दु:ख की उत्पत्ति होती है—

कामाणु गिद्धिप्पभवं खु दुक्खं सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइं माणसियं च किंचि तस्संतगं गच्छइ वीयरागो॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ३२/१९

स्त्रियाँ ही काम की उद्‌गम मानी गयी हैं। अत: वे परित्याग किये जाने योग्य कही गयी हैं—

एवं खु तासु विण्णप्पं संथवं संवासं च वज्जेज्जा।
तज्जातिया इमे कामा वज्जकरा एवमक्खाया॥

—सूत्रकृतांग ४/२/१९

यही काम मनुष्य को हिंसा में प्रवृत्त करता है। स्त्री भोग-लिप्सा का कारण है। वही प्रमाद का कारण है, वही पुरुष के मनसा-वाचा-कर्मणा उत्थान पर विराम लगा देती है। आगम ग्रन्थों में नारी का चित्रण हिंसा के प्रति रूपवत् किया गया है। जैनधर्मानुसार स्त्री-पुरुष को कामाचार पाप माना गया है। पति-पत्नी का कामाचार भी इसका अपवाद नहीं है। दशवैकालिक सूत्र में उल्लेख है कि विषय-भोग इच्छा ही अनर्थकारिणी होती है—इसका सेवन तो महापाप ही है। हिंसा का परित्याग नारी त्याग से ही सम्भव बताया गया है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि नारी साक्षात् हिंसा की प्रतीक है। वह अपनी भंगिमाओं से पुरुष हेतु नरक के द्वारा उन्मुक्त कर देती है। स्त्री-त्यागी व्यक्ति संसार-सागर से पार उतर जाता है।[१] किन्तु उत्तराध्ययन में यह भी कहा गया है कि मुमुक्षुजनों के लिए संसार में कोई कार्य उतना कठिन नहीं होता, जितना कठिन स्त्रियों का त्याग करना होता है। साधुओं के लिए कहा गया है कि उन्हें स्त्रियों के मधुर वचन, विरह-विलाप, गीत, हास्य, सिसकारी, प्रेमालाप आदि पर्दे की ओट से भी नहीं देखना चाहिए। यह निर्देश भी है कि साधु को किसी एकाकी स्त्री से वार्त्तालाप नहीं करना चाहिए। ऐसे भी अनेक उदाहरण आगम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं कि नारी के आकर्षण से ग्रस्त मुनि साधु जीवन त्यागकर गृहस्थ के प्रति आकृष्ट हो

---

१. जे पमत्ते गुणट्ठिए से हु दण्डे पवुच्चइ, तं परिन्नाए।
मेहावी इयाणि नो जमह पुव्वमकासी पमाएणं॥ —आचारांग टीका

२. सूत्रकृतांग

गये। आर्द्रक, रथनेमि आदि मुनियों के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। स्त्री को हिंसा का मूल माना गया है। वे कामोत्तेजक अंग-प्रदर्शन, हाव-भाव और वेश-भूषा से साधु को आकर्षित कर उसे पथच्युत कर देती थीं। यह हिंसा का ही एक रूप माना गया।

आगमकालीन नारी का आगम ग्रन्थों के आधार पर ही यह वह पक्ष है जो नारी-निन्दा से सम्बन्धित है। नारी को हिंसा का मूल, काम का उद्गम, पुरुषोत्थान में बाधा, साधुत्व भ्रष्टकारिणी, अधर्म का कारण कहा गया है।

आगम ग्रन्थों में ही, तथापि नारी सम्बन्धी श्लाघा या प्रशंसा की टिप्पणियाँ भी सुलभ होती हैं। नारी को पुरुष की समृद्धि और उत्थान का कारण भी बताया गया है। उन्होंने पथच्युत होते पुरुषों को सन्मार्ग पर आरूढ़ किया। श्रावकों की अपेक्षा श्राविकाओं की संख्या हर युग में अधिक रही, श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियों की संख्या भी अधिक रही थी। इस तथ्य के पीछे क्या रहस्य रहा—इसकी खोज करने पर ज्ञात होता है कि नारी मूलतः करुणा-प्रधान और कोमल मनस्का होती है। उसमें अहिंसा के प्रति श्रद्धा पुरुषापेक्षा कहीं अधिक होती है। अतः उसका धर्मचेता होना भी स्वाभाविक ही है। मल्ली, चन्दना, राजुल, सुभद्रा आदि अपनी धर्मप्रियता के लिए आगमों में भी और लोक में भी यशवती रहीं। अहिंसा के प्रति दृढ़ आस्था का प्रमाण ऐसे उदाहरणों से भी मिलता है कि नारी ने लोक निन्दा की आशंका के कारण भी कायरतापूर्वक हिंसा का मार्ग नहीं अपनाया। विद्याधर ने अपनी विद्या के कौशल से एक साध्वी को गर्भधारण करवा दिया। साध्वी ने पुत्र को जन्म दिया—गर्भपात कर हिंसा का मार्ग नहीं अपनाया। गर्भवती होते ही एक रानी ने दीक्षा ग्रहण कर ली। प्रवर्तिनी ने शय्यातर से कहकर प्रसवादि की व्यवस्था करवायी। साध्वी ने पुत्र को जन्म दिया। वास्तव में नारी अहिंसा-पालन में पुरुषों से कहीं अधिक आगे थीं।

सत्य है कि जैनागमों में नारी को हिंसा का रूप माना, किन्तु यह भी तथ्य है कि आगमों द्वारा यह निर्देश दिया गया कि स्त्री को अदण्डनीय, अवध्य माना जाय। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि नारी-हत्या करने वालों की दुर्गति होती है। यहाँ तक कि नारी के लिए अपशब्दों का प्रयोग भी वर्जित माना गया। इससे द्वेष उत्पन्न होता है, नारी-मन पीड़ित हो उठता है जो एक हिंसा है।[1] नारी पर चरित्र सम्बन्धी आरोप लगाना भी हिंसा है।[2] व्यक्ति को विवेकपूर्वक इससे

१. दशवैकालिक सूत्र ७/१६ की टीका
२. प्रश्नव्याकरण सूत्र १/२/८

बचना चाहिए। न गर्भवती नारी का अपमान किया जाना चाहिए और न ही किसी नारी को दण्डित किया जाना चाहिए, वह चाहे कितने ही गम्भीर अपराध की दोषी ही क्यों न हो। नारी को सदा सद्व्यवहार की पात्र माना जाता था। अपवाद रूप में आगम साहित्य में एक प्रसंग मिलता है। महाशतक भगवान का प्रमुख श्रावक था। बारह व्रतधारी हो जाने पर वह धर्माचरण में प्रवृत्त हो गया। पत्नी के प्रति उपेक्षा स्वाभाविक ही थी। पत्नी रेवती मदिरा-पान करने लग गयी और पति को काम-भोग हेतु उत्तेजित करने का प्रयास करने लगी। रोषपूर्वक महाशतक ने पत्नी को कहा कि तू अलस रोग से पीड़ित होकर सात दिन में मृत्यु को प्राप्त हो जायेगी। वचन सत्य सिद्ध हुए। रेवती का देहान्त हो गया। भगवान महावीर ने गौतम के साथ श्रावक को सन्देश भेजा कि स्त्री के लिए ऐसे कटु वचनों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। ऐसी वाणी शास्त्रसम्मत नहीं, जो अन्य जनों को प्रियकर न हो। दण्डस्वरूप श्रावक ने प्रायश्चित्त स्वीकारा। पत्नी यदि दुष्ट हो तो उसे भी कटु वचनों से मानसिक आघात नहीं पहुँचाया जा सकता—दण्ड देना तो और भी दूर की बात है। राजप्रश्नीयसूत्र में एक अन्य प्रसंग आता है। राजा प्रदेशी विद्वान्, किन्तु अतिशय क्रूर था। केशी श्रमण के प्रभाव से राजा ने जैनधर्म अंगीकार कर लिया था। रानी ने उसे विषयों से तटस्थ पाकर-विष सेवन करा दिया। उसकी सारी देह में दाह उत्पन्न हो गया। मेरी रानी सूर्यकान्ता ही मेरी वेदना की कारण है—यह जानकर भी रानी के प्रति राजा के मन में रोष या कोई कुभाव न उठा। उसने विशाल हृदयता और क्षमाशीलता का परिचय दिया। राजा ने पौषधशाला में पहुँचकर संथारा लेकर मरण का वरण कर लिया।[१]

आगम ग्रन्थों में नारी के इस प्रकार पार्श्वीय व्यक्तित्व में एक झलक उसकी दोषमयता की है तो अन्य पक्ष में उसके साथ जो आदरपूर्ण, कोमल व्यवहार का निर्देश हुआ है—उससे उसकी मर्यादा में एक उच्चता का समावेश हो गया है। उसकी अन्तर्निहित गरिमा का आभास सजीव हो उठा है। पुरुष वर्ग की श्रद्धा से नारी की क्षमता, प्रतिभा और पावनता प्रतिभासित होती है। नारी-सम्मान का तत्त्व हमारी संस्कृति का प्रतीक है और आगमकाल में भी वह विद्यमान रहा। जैनधर्म तो साधनापरक है। नर-नारी दोनों के साफल्य की कसौटी साधना में निहित रही

---

१. सूरियकंताए—देविए अताणं संपलइं जाणित्ता सूरियकंताए देविए
मणसा वि अपदुस्समाणे।
जेणेव पोसहसाल तेणेव उवागच्छइ। —राजप्रश्नीय सूत्र

और आगमकालीन नारी इस कसौटी पर सदा खरी उतरी। उसने यदा-कदा साधनाच्युत होते पुरुषों को भी सहारा देकर उनके मार्ग में स्थिर किया। इन्द्रिय निग्रह, अपरिग्रह तपस्या आदि विभिन्न आयामों के साथ नारी भी पुरुषों के समान दीक्षा में सफल रही है, वरन् कुछ अग्रगामी ही रही है।

नारी को प्रतिबन्धों से मुक्त करने का सफल अभियान संचालित करने का परम श्रेय भगवान महावीर स्वामी को ही प्रमुख रूप से प्राप्त है। उनके सद्प्रयासों से नारी को समाज और धर्मक्षेत्र में एक स्वतंत्र इकाई का गौरव प्राप्त हुआ। उसे आत्म-विकास का स्वतंत्र अवसर प्राप्त हुआ। इस प्रतिबन्ध-मुक्त अवस्था में साँस लेकर नारी ने भी अपनी प्रतिभा, क्षमता और शक्ति का पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया। उसकी उपलब्धियाँ पुरुषों की अपेक्षा कुछ अधिक भव्य ही सिद्ध हुईं। तत्कालीन नारी आत्म-विश्वास से परिपूर्ण और आत्म-निर्भर थी। उसे इस अवस्था तक लाने के लिए शिक्षा और संस्कार भी दिये गये। तत्कालीन धर्म-व्यवस्था ने उसे दीक्षा के कठिनतर क्षेत्र में भी सक्रिय किया। वह स्वाध्यायशील, चिन्तक और मर्मज्ञ हो गयी। आगमकाल को नारी उन्नयन का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

नारी की उदात्तता और निंद्यता : जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में

जैन अथवा जैनेतर धर्म-ग्रन्थों में, नारी की सामाजिक और चारित्रिक स्थिति का मूल्यांकन चाहे कितने ही वैभिन्न्य और वैविध्य के साथ क्यों न किया गया हो, किन्तु एक सुखद साम्य यह अवश्य मिलता है कि नारी को उदार और उदात्त रूप में चित्रित कर उसे आदरास्पद स्वीकार किया गया है। वस्तुत: नारी स्वाभाविक रूप से कोमल भावना की स्वामिनी, करुणा की देवी, सरलता की प्रतिमा, माधुर्य की मूर्ति रही है। उसके ऐसे ही सद्गुण उसमें औदार्य का निर्माण कर देते हैं और उसकी स्वरूपगत उदात्तता की संरचन भी। जैन परम्परा में नारी अपनी वैचारिक एवं आचारगत विशेषताओं के आधार पर अतीत से ही शीर्षस्थ बनी रही है।

वह न केवल सारंगलोचना है, वह रत्नकुक्षिधारिणी भी है। नारी ने ही इस जगत् को २४ तीर्थंकर और ६३ शलाकापुरुष जैसी महान् विभूतियाँ प्रदान की हैं। इस महती भूमिका ने नारी को यशस्विनी, महिमामयी और उदात्त स्वरूप प्रदान कर दिया है। रत्नकुक्षिधारिणी तीर्थंकर-जननी को जगज्जननी का गौरव प्राप्त हुआ है। ऐसे महान् पुत्र के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने को देवेश इन्द्र स्वयं आते हैं और सर्वाग्र रूप में माता को नमन करते हुए कहते हैं—"हे रत्नाकुक्षि, जगज्जननी माता ! तुम्हें नमस्कार है।" संसारभर के महापुरुष जिनसे धर्म का विकास हुआ, संस्कृति की प्रगति हुई, आदर्शों की स्थापना हुई, जो सच्चरित्रता के उदाहरण बन गये, समाज के गौरव कहलाये, धर्मानुसरण के प्रेरक हुए—वे सभी नारी की ही उत्पत्ति थे। नारी का जीवन धन्य है। धन्य है उसकी जीवन पद्धति और जीवनोद्देश्य। उसकी आचार-शुद्धता और विचार-पावनता का शुभकर प्रभाव अन्यान्य जनों का भी हित करता है और स्वयं अपना भी। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की जननी मरुदेवा इसकी साक्षात् उद्धरण हैं। भगवान ऋषभदेव की जननी होकर ही वह धन्य हो गयी थीं और पुत्र के तीर्थ स्थापन

से पूर्व ही, अन्तश्चेतना की शुद्धि से माता ने केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर आत्म-कल्याण कर लिया था। उन्हें मोक्ष लाभ हो गया। नारी-गौरव ही नहीं, उसके त्वरित क्षमता-विकास का भी यह एक अद्‌भुत दृष्टान्त है। नारी न केवल जागतिक हितैषिणी है, वह आत्मोत्थान के शीर्ष स्तर पर पहुँचने की क्षमता से सम्पन्न भी है। जैन परम्परा में नारी की सक्षमता को इतनी मान्यता प्राप्त है कि वह तीर्थंकरत्व भी प्राप्त कर सकती है। मल्लीकुमारी ने इस गौरवपूर्ण उपलब्धि पर अपना अधिकार स्थापित भी किया। यह बात अन्य है कि दिगम्बर सम्प्रदाय इन्हें पुरुष रूप में स्वीकार करता है।

आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का प्रादुर्भाव मानव सृष्टि के आदि में हुआ—यह सर्वमान्य तथ्य है। इनके पराक्रमी पुत्र भरत के आधार पर ही हमारे देश का नामकरण-भारत हुआ। इनकी विदुषी पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने पिताश्री आदिनाथ भगवान से ही लिपिविज्ञान और गणित का ज्ञान प्राप्त कर उसे समाज में प्रसारित किया था। ऐसी विभूतियों के होते—'नारी नरक का द्वार' जैसी उक्तियाँ स्वतः निस्तेज हो जाती हैं। अपनी पुत्रियों को ज्ञान-दान करते हुए भगवान ने कहा था—इस लोक में विद्यावान पुरुष पण्डितों के द्वारा भी सम्मानित होते हैं और विद्यावती स्त्रियाँ पद प्राप्त करती हैं।[१] ध्वनित होता है कि आदिकाल से ही जैन परम्परा में पुत्र-पुत्री-समकक्षता का व्यवहार भी रहा और स्त्री-शिक्षा को भी प्राथमिकतापूर्वक महत्ता दी जाती रही। इस भूमिका ने नारी-गौरव को उसकी उदात्तता को विकसित करने में उत्युच्च योगदान किया। नारियाँ सशक्त, पुण्यशील, ज्ञानवती, धर्म साधिका और कुशल गृहणी के रूप में स्वयं को सुस्थापित करती रही हैं, उनके नारीत्व की सार्थकता उनके औदार्य में, आचार में, चरित्र में, शीलादर्श में सर्वत्र झलकती रही है। सारा वातावरण ही नारी को आदर्श मार्ग पर लगाये रखने का बना रहा। शील-रक्षा के लिए उसे न केवल उपदेश दिये गये—अपितु उसे प्रेरित भी किया जाता रहा। उसकी उदात्तता को उच्चतर बनाया जाता रहा। जैन ग्रन्थ पद्मपुराण एक राम-कथा काव्य है। इसमें रावण के मुख से भी कहलाया गया कि शील की रक्षा करना सन्नारियों के लिए अनिवार्य है। नलकूबेर की पत्नी उपरम्भा आसक्त हो गयी थी रावण पर और उसने प्रणय-सन्देश भिजवाया। रावण के कोई तत्परता न दिखाने पर विभीषण ने परामर्श दिया कि राजनैतिक हेतुक से यह प्रस्ताव स्वीकार्य है। तब रावण ने

---

१. विद्यावान पुरुषो लोके, सम्मतिं यति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्री सृष्टेरग्रिमं पदम्
—महापुराण : जिनसेनाचार्य

उपरम्भा को निमंत्रित कर लिया, किन्तु उससे जो कथन किया—वह चौंकाने वाला है। उसने कहा—"इस कार्य से मेरी कीर्ति मलिन हो जायेगी, मेरे अनुकरण पर अन्य लोग भी ऐसा कर पतित हो जायेंगे। निर्मल कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम्हें अपने शील की रक्षा करनी चाहिए।"[१] उपरम्भा अपनी भूल स्वीकार कर अपने पतिगृह को लौट गयी।

भगवान महावीर ने स्वयं भी नारी-महत्ता को स्वीकार किया और भविष्य के लिए भी इस मार्ग को प्रशस्त कर दिया था। परिणामतः नारी-गरिमा के निर्वाह की एक परम्परा ही चल पड़ी थी। अपनी प्रथम सुशिष्या चन्दनबाला को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त स्वतन्त्र कराया और उसे अपने धर्म-संघ की श्रमणी शाखा की मुख्य प्रवर्तनी बनाया। चन्दना ने अपनी ज्ञान की गरिमा और धर्म की चेतना के बल पर जिस प्रकार इस पद के दायित्वों का निर्वाह किया, धर्म का प्रसार किया—वह स्वयं में एक उदाहरण है। नारी-समाज की उदात्तता को इससे चार चाँद लग गये। रानी मृगावती ने कौशाम्बी और उज्जयिनी के मध्य के वैमनस्य को शान्त कर मैत्री का जो सार्थक प्रयत्न किया उससे भी इतिहास के पन्ने उज्ज्वल हो उठे हैं। मृगावती कौशाम्बी-नरेश शतानीक की रानी थी। उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत ने अपने लिए शतानीक से मृगावती को निर्लज्जतापूर्वक माँग लिया। यह अनीतिपरक प्रस्ताव भला शतानीक क्योंकर स्वीकार कर लेता। उसने यह स्वीकार न किया। दुर्योग ऐसा था कि चण्डप्रद्योत ने कौशाम्बी पर आक्रमण किया—इसके पूर्व ही राजा शतानीक का निधन हो गया। रानी मृगावती शौर्य भावना के साथ देश रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गयी। उसने नगर के सभी द्वार बन्द करवा दिये। संयोगवशात् इसी मध्य भगवान महावीर का आगमन हुआ। भगवान की उपदेश-सभा में रानी मृगावती भी उपस्थित हुई और राजा चण्डप्रद्योत भी। भगवान से निवेदन करते हुए मृगावती ने कहा कि मैं दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा रखती हूँ यदि राजा चण्डप्रद्योत मुझे तदर्थ स्वीकृति दें और मेरे अवयस्क पुत्र उदयन की रक्षा का दायित्व ग्रहण कर लें। विचारपूर्वक राजा चण्ड ने अपनी स्वीकृति दे दी। दो राज्यों के मध्य निरर्थक युद्ध इस प्रकार अस्तित्व में आने के पूर्व ही स्थगित हुआ, दोनों राज्यों और राजपरिवारों में मधुर और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का समारंभ हुआ। मृगावती की कितनी उदारतापूर्ण, मानवीय भूमिका यह थी, जिसने उसकी उदात्तता को प्रतिभासित कर दिया था।

---

१. मलीमसा च मे कीर्तिः कर्मेदम् कुर्वते भुवि
अपरोऽपि जनः कर्म कुर्वीतेदं मया कृतम्॥ —पद्मपुराण

रानी मृगावती का चरम लक्ष्य शील रक्षा का भी था जिसे उसने बड़े कौशल के साथ पूर्ण किया और आत्म-कल्याणा पथगामिनी हो गयी।

मैनासुन्दरी की शील मर्यादा एवं धर्मशीलता की कथा भी कम उल्लेखनीय नहीं है। राजा की दो कन्याओं में से यह एक थी। राजा ने अपनी कन्याओं से प्रश्न किया कि राजा और कर्म में कौन बड़ा है ? मैनासुन्दरी ने कर्म को राजा से जब बड़ा बताया तो पिता राजा अपनी उपेक्षा और निरादर-भाव से बड़ा कुपित हुआ और रोषपूर्वक एक कोढ़ी के साथ उसका विवाह कर दिया। पितृ आज्ञा को शिरोधार्य मानकर वह इस विवाह-बंधन में बँध भी गयी। कर्मसिद्धान्त की यह अगाध विश्वासी कन्या अपने कोढ़ी कुरूप पति की सेवा में दत्तचित्त होकर लगी रही। उसकी सतीत्व भावना अचल थी। परिणामत: शीघ्र ही उसका पति सुरूप और स्वस्थ हो गया। दक्षिण भारत की एक कथा है जो शीलवती नारियों की उदात्तता को अभिवर्धित करके प्रस्तुत करती है। यह कथा महासती अत्तिमब्बे से सम्बन्धित है जो सम्राट् तेलपदेव के महादण्डनायक नागदेव की धर्मपत्नी थी, अत्यन्त शीलवती थी। परमार राजा मुंज ने एक बार तेलपदेव पर आक्रमण किया। नागदेव ने सदल-बल मुंज की सेना का सामना किया और उन्हें गोदावरी पार मालव देश तक खदेड़ दिया। दुर्योग ऐसा हुआ कि गोदावरी में प्रबल बाढ़ आ गयी। नागदेव का लौटना सम्भव न रहा। पीछे से इस परिस्थिति का लाभ उठाकर मुंज ने पुन: आक्रमण कर दिया। नागदेव फँस गया बाढ़ और शत्रु सेना के मध्य। इसी समय अत्तिमब्बे ने घोषणा की कि, यदि मेरा सतीत्व अखण्ड है तो गोदावरी, मैं तुझे आज्ञा देती हूँ, कि तू तब तक के लिए अपने सामान्य स्तर पर आ जा जब तक मेरे प्रियजन इस पार न आ जायें। और उफनती गोदावरी नदी ने मार्ग दे दिया। शील का माहात्म्य ऐसा ही है, दुष्कर कार्य भी सुकर होकर संभाव्य हो जाते हैं और शीलवती नारी के गौरव को बढ़ा देते हैं।

नारी में चाहे अन्य गुण अल्प ही हों, पर यदि शील धर्म में सुदृढ़ता है तो नारी का औदात्य उच्चतम हो जाने में कोई आशंका नहीं। शीलव्रत पर सुदृढ़ नारियों की आत्म-शक्ति इतनी प्रबल हो जाती थी कि उनकी कल्पना भी घटित होकर साकार हो जाया करती थी। वे वाचासिद्ध हो जाती थीं। उनके वचन कार्यरूप में परिणत हो जाते थे। उनका दिया गया अभिशाप त्रस्त कर देता था सम्बन्धित व्यक्ति को और उनका अनुग्रह भी सुखद हो जाया करता था। उनके कार्य-कलापों में विचित्रता होती थी—उनकी अनूठी पवित्रता की जो चमत्कार रूप में अनुभूत होते थे। 'भगवती आराधना' में वर्णित है कि ऐसी शीलवती महिलाएँ भी

होती हैं, जिन्हें चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसी महिलाओं को मोक्षगामी पुत्र उत्पन्न करने का गौरव भी प्राप्त रहा है। शीलवती महिलाओं को न जल प्रवाहित कर सकता है, न अग्नि दग्ध कर सकती है, विष-सर्पादि भी अपना घातक प्रभाव उन पर नहीं रख सकते। वे इस वसुन्धरा का भूषण होती हैं।

परिणयोपरान्त सन्नारी पतिगृह की हो जाती है, उसी परिवार की होकर रह जाती है—उसी के सुख-दु:ख की सह भागिनी हो जाती है। अपना स्वतंत्र अस्तित्व वह इस परिवार में विलीन कर उसमें एकाकार हो जाती है। पति ही उसका देवता रह जाता है। वही उसका प्रीतिपात्र भी है और वही सेवा-प्राप्ति का अधिकारी। पति और पत्नी का सम्बन्ध काया और छाया जैसा होता है। पति-जलराशि ही उस मीनवत् नारी का प्राणाधार है। शास्त्रों में शीलवती पत्नी को 'भार्या-धर्मानुकूला' कहा गया है। हमारा अतीत भरा पड़ा है। सीता, दमयन्ती, द्रौपदी जैसी सतियों के आदर्श से जिन्होंने कष्ट की घड़ियों में भी पति के सान्निध्य का त्याग न कर सच्ची अर्द्धांगिनी का अपना स्वरूप सार्थक कर दिया। आदर्श पत्नी स्वयं भी धर्माचरण में श्रद्धा रखती है और पति को भी धर्म में स्थिर करती है। महासती मदनरेखा का सुवृत्त इस दृष्टि से विशेषत: ध्यातव्य है। मदनरेखा के पति युगबाहु पर जब उसके अग्रज मणिरथ ने घातक प्रहार किया और युगबाहु मरमासन्न स्थिति को पहुँच गया तो धर्मपत्नी मदनरेखा प्रयत्नपूर्वक उसे धर्म की शरण में ले आयी। पति के मन को क्रोध-द्वेषादि कुभावों से शून्य कर उसे शुभ भावों में स्थिर किया और उसकी सद्गति का सफल उपक्रम किया। अपनी दीनावस्था और संकट की घड़ी में भी पतिहिताय बनी रही और अपने दायित्व को विस्मृत नहीं कर पायी। ऐसे नारी चरित अपनी उदात्तता से समग्र नारी समाज के गौरव हो गये हैं। वह पति की 'धर्म-सहायिका' होकर यशस्विनी हो गयी, शाश्वत कीर्ति की स्वामिनी हो गयी। ऐसी धर्म-सहायिका स्वरूप वाली महिलाएँ जैन परम्परा में अनेकानेक हो गयी हैं; यथा रानी चेलना ने अपने स्वामी मगध नरेश राजा श्रेणिक को बौद्ध धर्मानुनयन से मुक्त कर स्वधर्म और सद्धर्म में स्थिर किया, वीतराग वाणी में उनकी आस्था को जागृत कर उसे प्रबल बनाया। सती सुभद्रा का वृत्तान्त भी उल्लेखनीय है जिसने पति-परिवार के सभी स्वजनों को वीतराग वाणी का श्रद्धालु बनाकर श्रमण धर्मोपासक बना दिया। जन-जन को सन्मार्ग पर आरूढ़ करने वाली नारी क्यों न उज्ज्वल औदात्य की स्वामिनी हो !

ऐसे शील-रत्न की रक्षार्थ जैन-परम्परा में प्राणों का उत्सर्ग करने में भी पीछे नहीं रही हैं नारियाँ। चन्दनबाला की जननी धारिणी रानी पर जब शील का संकट

आया तो उसने अपने हाथों से अपनी जिह्वा को बाहर खींचकर प्राण त्याग दिया, किन्तु अपने शीलत्व को हानि न पहुँचने दी। राजीमती का वृत्तान्त तो और भी अनूठा है। राजकन्या राजीमती सोलह शृंगार से तन और प्रीति-प्रणय के मंदिर भावों से मन को सजाये अपने वर अरिष्टनेमि के मुखदर्शन को उल्लसित बैठी थी, बारात द्वार पर आ गयी थी, तभी पशुवध के प्रसंग से परिचित होकर वर ने वधू का त्याग कर दिया और द्वार से लौट गया। राजीमती ने मात्र भाव से अरिष्टनेमि को पति स्वीकारा था, तथापि वह उस पर दृढ़ रही। अन्य किसी पुरुष को अपनी कल्पना में भी उसने नहीं आने दिया, वह तो उसी वर के प्रति समर्पित रही। कालान्तर में पति अनुगामिनी बनकर उसने भी संयम ग्रहण कर लिया और शेष जीवन धर्माचार और आत्मोत्थान में लगा दिया।

जैनागमों की साक्षी से कहा जा सकता है कि शीलवती नारियों ने न केवल अपने शीलव्रत की रक्षा की, अपितु इसमें बाधक बनने वाले पुरुषों की भी पतन से रक्षा करने में वे सफल रहीं और उन्हें सन्मार्गी बना दिया। उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिकसूत्र में ऐसी कतिपय सन्नारियों के उल्लेख मिलते हैं जिनमें रथनेमि-राजीमती का प्रसंग प्रमुख है। श्रमणियों के अतिरिक्त श्राविकाओं/उपासिकाओं ने भी पुरुषों को सन्मार्ग का निर्देश किया था। रानी कमलावती राजा इषुकार को, तो कोशा वेश्या ने अपने आवास में स्थित मुनि को भी सन्मार्ग दिखाया। नारी चरित्र की ऐसी-ऐसी उदात्तताओं के परिणामस्वरूप भगवान महावीर ने स्त्रियों को धर्म स्वातंत्र्य से युक्त भी किया, उन्हें पुरुष समकक्ष भी माना और श्रमणी-संघ के संचालन का औचित्य भी स्वीकारा। यही नहीं श्रमणों और श्रमणियों की अपेक्षा श्रावक और श्राविकाओं की संख्या भी सदा अधिक ही रही। भगवान ने चन्दना को श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त किया और जिस कौशल और निपुणता से उसने संघ संचालन किया—उससे समस्त नारी-समाज का गौरव उच्चतर हो गया।

बौद्ध परम्परा और जैन परम्परा—दोनों ही श्रमण-धारा की ही हैं, तथापि नारी की उदारता के सम्बन्ध में जैन परम्परा कुछ अग्रगामी ही रही है। जैन नारी बड़ी ही करुणाशील, अहिंसा-पालक और संवेदनायुक्त रही है। इस औदार्य ने भी नारी की उदात्तता का रंग अधिक गहराया है। नारी स्वाभाविक रूप से, प्रकृति से ही अत्यन्त मृदुल होती है, कोमल और माधुरीपूर्ण होती है। पुष्पोपम सुन्दर और कमनीय नारी में औदार्य-सौरभ का होना भी अति स्वाभाविक ही है। नारी की कोमलतम भावनाएँ उसके मातृरूप को विभूषित कर देती हैं। माँ के हृदय-

सागर में ममता और वात्सल्य की हिलोरें हर समय बनी रहती हैं, जो नारीत्व को परिपूर्णता प्रदान करती हैं।

आगमों में वर्णित-नारी का दूषित पक्ष

जैन आगम ग्रन्थों में नारी के सद्गुणों के आधार पर उसका महिमामय मूल्यांकन हुआ है—यह तो सत्य है; किन्तु उसके दूषित, श्यामपार्श्व का चित्रण भी यथास्थान पर्याप्त रूप में हुआ है—यह भी एक तथ्य है। 'स्त्री' शब्द की व्याख्या ही ऐसे रूप में आगम साहित्य में उपलब्ध होती है जिससे नारी जाति घृणा और निन्दा की पात्र निर्णीत होती है। नारी मिथ्यात्व आदि दोषों से अपनी यथार्थ स्थिति को आवृत-आच्छादित रखती है। कृत्रिम, अभिनयपूर्ण मधुर वार्त्तालाप से अन्य जनों को दूषित करती है। इस आच्छादन-स्वभाव के कारण ही नारी को 'स्त्री' संज्ञा से जाना जाता है। वासना-दोष को इंगित करते हुए 'गोम्मट सार' ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि पुरुष की अभिलाषा-आकांक्षा रखने के कारण ही नारी को स्त्री कहा जाता है। केवल 'स्त्री' ही नहीं इस शब्द के पर्यायवाची शब्दों या नारी के लिए प्रयुक्त अन्य संज्ञाओं की दशा भी इससे कुछ अच्छी नहीं। भगवती आराधना में वर्णित है कि स्त्री पुरुष के लिए वध-कर्त्री होने के कारण 'वधू' कहलाती है, वह पुरुषों में दोष उत्पन्न करने वाली होने के कारण 'स्त्री' है तो उसके समकक्ष अन्य किसी शत्रु के न होने के कारण वह—न + अरि = 'नारी' नारी कहलाती है। पुरुष को देखकर वह उसमें विलीन हो जाती है; पुरुष के गले में अनर्थों को बाँध देती है; अत: उसे 'विलया' भी कहा जाता है, तो उसके हृदय में धीरज का बल न होने के कारण वह 'अबला' कही जाती है। पुरुष के लिए कुमृत्यु का कारण बनती है। अत: उसे 'कुमारी' कहा जाता है, तो पर-पुरुष पर मिथ्या दोषारोपण का स्वभाव होने के कारण उसे महिला भी कहा जाता है। इन विभिन्न नामों की व्याख्या से आभासित होता है कि नारी को सत्पुरुषता के मार्ग का व्यवधान बताने, उसे पुरुष-विरोधी सिद्ध करने का पूर्वाग्रहपूर्वक प्रयत्न रहा है। हो सकता है, इसके पीछे नारी निन्दा का भाव अत्यल्प किन्तु नारी से पुरुष को विरक्त करने का ही भाव प्रमुख रहा हो। अत: ऐसी व्याख्याओं का प्रतीकार्थ समझ लेना चाहिए।

'भगवती आराधना' में एक स्थल पर उल्लेख मिलता है कि जो पुरुष स्त्रियों पर विश्वास करता है—वह वाद्य, विष, चोर, आग, जलधारा, उन्मत्त हाथी, काले साँप और घोर शत्रु पर विश्वास करता है। स्त्री समाज में आदर्शों और शीलव्रत का पालन करने वाली महान् गुणवती नारियाँ भी हुई हैं तो उत्तरपुराण (गुणभद्र

कृत) के साक्ष्य से यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी नारियाँ भी उसी समाज में रही हैं, जिन्होंने कामुकता और विषय-वासना की सभी सीमाओं का उल्लंघन कर लिया। इस प्रतिपाद्य के अनुमोदन में एक कथा भी प्रस्तुत की गयी है। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार का अपहरण कर धूमकेतु नामक देव ने उसे एक शिला के तले दबा दिया था। राज दम्पति राजा कालसंवर और रानी कांचनमाला ने शिशु को उठा लिया और उसका पालन-पोषण पुत्रवत् वात्सल्य भाव के साथ किया। यौवन प्राप्त करने पर इसी प्रद्युम्नकुमार पर रानी कांचनमाला आसक्त हो गयी, किन्तु प्रद्युम्न ने जब रानी की अभिलाषा पूर्ति नहीं की तो रानी ने उसका वध करवाने के अनेक षड्यंत्र किये। गुणभद्राचार्य ने इस आख्यान के निष्कर्ष रूप में कहा कि जिस प्रकार कमल के पत्तों पर जल अस्थिर बना रहता है, वैसे ही स्त्रियों का चित्त भी अस्थिर होता है। स्त्रियों के भाव दूषित भी होते हैं और उन्हें ठीक से जाना भी नहीं जा सकता। उनके भाव सन्निपात के समान दुस्साध्य और घनीभूत मोह के जनक होते हैं।[१]

अधिक स्त्री सम्पर्क तो साधुओं की साधना में घोर व्यवधान उपस्थित कर ही देता है; इस विषय की मात्र आशंका या अनुमान की स्थिति को भी आगमीय ग्रन्थों में उपयुक्त नहीं माना गया है। सम्पर्क आपत्तिजन स्थिति की सीमा को पार करे—तभी वह निषिद्ध मानी जाय—ऐसा विधान ही नहीं है—नाम मात्र का सम्पर्क या अनापत्तिपूर्ण सम्पर्क भी हानिकारक ही माना गया है। पद्मपुराण के एक वृत्तान्त से प्रकट किया गया है कि मात्र संशय के कारण भी मुनि चरित्र कलंकित हो जाता है। कथा इस प्रकार से है कि किसी ग्राम में मुनि सुदर्शन का आगमन हुआ। धर्मसभा के समापन पर श्रद्धालु श्रोता सभी विसर्जित हो गये, किन्तु एक साध्वी वहीं अकेली रुकी रही। मुनि जी ने उसे भी उपदेश दिया। ग्राम में किसी अन्य स्त्री ने यह कह दिया कि मैंने मुनि जी को एक सुन्दरी के संग वार्त्तालाप करते देखा है। इससे उनका बड़ा अपयश हुआ, निन्दा हुई। कोई नहीं जानता था कि साध्वी मुनि जी की बहन थी। लोकापवाद से स्वयं को सुरक्षित रखना भी श्रमण जनोचित अनिवार्यता है। साधु के लिए किसी स्त्री से एकाकी स्थिति में, एकान्त में भेंट करना आगमों में निषिद्ध माना गया है। यही

---

१. अम्भो वाग्भोजपत्रेषु चित्तं तासां न केषुचित्।
तासु तिष्ठदपि स्पृष्टवाप्य स्पृष्ठवदतः पृथक्।
सर्वदोषमयो भावी दुर्लक्षः सर्वयोषिताम्।
दुःसाध्यश्च महामोहावहोऽसौ सन्निपातवत्॥

नहीं, साध्वियों के लिए भी निषिद्ध माना गया है कि किसी पुरुष से वे एकान्त भेंट करें। साधु के सामने पड़ने पर वह उसका वन्दन तो करे, किन्तु छह हाथ दूर रहकर। साधु का परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा भी उसके मन में नहीं आये। विषयों में प्रवृत्त होने से स्वयं को रक्षित रखने के लिए युवकों से भी साधु को घनिष्ठता नहीं रखने की व्यवस्था दी गयी है। संगति का प्रभाव मुनि-मन को चंचल कर सकता है। उसे विकथा-श्रवण भी नहीं करनी चाहिए जिसका सम्बन्ध किसी स्त्री से हो। 'भगवती आराधना' (जिसका अन्य नाम मूलाचार भी है) में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

जैनाचार्यों ने स्त्री-चरित और स्त्री-स्वभाव का सूक्ष्मता के साथ विवेचन-विश्लेषण किया था। आगम ग्रन्थ 'तन्दुल वैचारिक प्रकीर्णक' में नारी की स्वभावगत ९४ विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। इनसे स्त्री के अभावों, दोषों और अवगुणों की झलक मिलती है।

'उत्तराध्ययन चूर्णि' में भी नारी को समुद्र की तरंगों के समान चपल स्वभाव वाली बताया गया है। उसे संध्याकाल की लालिमा के समान क्षणिक् प्रेम वाली भी कहा गया और बताया गया कि वह स्वार्थ सिद्ध हो चुकने पर पुरुष का परित्याग कर देती है।[१]

'आवश्यक भाष्य' और 'निशीथचूर्णि' में भी स्त्री सुलभ चांचल्य और शिथिल चरित्र अवगुणों का उल्लेख मिलता है।[२] यह भी उल्लिखित है कि थोड़े से उपहारों से स्त्रियों को वशीभूत किया जा सकता है और वे पुरुषों को विचलित करने में सक्षम होती है।[३] आचारांगचूर्णि में उसे 'शीत परीषह' कहा गया है। अर्थात् वह अनुकूल प्रतीत होती हुई भी त्रासदायी होती हैं। यह भी वर्णित है कि स्त्रियाँ पापकर्म से पृथक् रहने का वचन देकर भी पुनः अपकर्मरत हो जाती हैं।[४] दर्पण की छाया की भाँति स्त्रियों के हृदय भी दुर्ग्राह्य होते हैं। पर्वतीय मार्ग की दुर्गमता की भाँति ही उनका मनोभाव भी सहसा ज्ञात नहीं हो पाता। नारी चरित्र का विवेचन करते हुए सूत्रकृतांग में यह भी कहा गया है कि अच्छी तरह

---

१. समुद्रवीचिचपल स्वभावाः संध्याभ्रमरेखा व मुहूर्तरागाः।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं निषीडितालक्तकवद् त्यजन्ति॥

२. पगइत्ति समाओ। स्वभावेन च इत्थी अल्पसत्वा भवति। —निशीथचूर्णि

३. सा य अप्पसत्तत्तणओ जेण वातेण वत्थमादिणा।
अप्पेणावि लोभिज्जति, दाणलोभिया य अकज्जं पि करोति॥

४. एवं पि ता विदित्तावि अदुवा कम्मुणा अवकरेंति। —सूत्रकृतांग

जीती हुई, अच्छी तरह से प्रसन्न की हुई और अच्छी तरह से परिचित अच्छी अटवी और स्त्री का विश्वास नहीं किया जा सकता। इस समस्त जीव लोक में कोई एक भी ऐसा नहीं है जिसने स्त्री की कामना की हो और दु:ख न पाया हो।[१] स्त्री मन में कुछ सोचती है, वचन से कुछ और ही कहती है तथा कर्म से और ही कुछ कर बैठती है।

सूत्रकृतांग में यह भी दिखाया गया है कि स्त्रियाँ किस प्रकार पुरुष को अपने प्रेम-जाल में फाँसकर उसकी दुर्गति करती हैं। वे उस पर अपना आधिपत्य जमा लेती हैं और अधिकारपूर्वक आदेश देती हैं, उससे सेवाएँ लेती हैं और नाना प्रकार की अभिलाषाएँ पूर्ण कराती हैं। पुरुष बेचारा क्रीत दास-सा होकर रह जाता है।

नारी-निन्दा और उसके अवगुण-निर्देश के प्रसंग सविस्तार जैनागमों में स्थल-स्थल पर वर्णित अवश्य हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि आचार्यों का दृष्टिकोण दुराग्रहपूर्ण और अनुदार रहा हो। वस्तुस्थिति यह है कि जैनधर्म विरक्ति-प्रधान रहा है और नारी की वृत्तियाँ रागात्मक रही हैं। पुरुषचरित्र को निवृत्तिपरक स्वरूप में ढालने के प्रयोजन से यह आवश्यक हो गया था कि नारी चरित्र की निन्दा कर उसमें प्रति पुरुषों के अन्त:करण में घृणा और वितृष्णा का भाव प्रबलतर कर दिया जाये। नारी आकर्षण को दुर्बलतम स्थिति में ले आने का प्रयास ही इस रूप में हुआ था। 'भगवती आराधना' में नारी की घोर निन्दा की गयी है और उसी ग्रन्थ में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह निन्दात्मक पक्ष केवल कुछ अधम स्त्रियों से ही सम्बन्ध रखता है, अन्यथा शीलवती और सच्चरित्र सन्नारियाँ तो स्तुत्य आचार-व्यवहार के कारण परम यशस्विनी हुई हैं। शास्त्रों में जहाँ पुरुषों को नारी-निन्दा द्वारा सावधान किया गया है, वहाँ पुरुष निन्दा करके नारी को भी अपनी शील-रक्षा के लिए प्रेरित किया गया है। नारी निन्दा एक पावन प्रयोजन से ही की गयी है और इस निन्दा का सम्बन्ध सम्पूर्ण नारी-जाति से नहीं रहा है। अन्यथा नारियाँ तो अपने शील और चरित्र से, सद्गुणों से देवत्व के समीप पहुँची हुई थीं। उच्चतर धार्मिक और आध्यात्मिक उपलब्धियाँ उनके पक्ष में रही हैं। वे पावनता की प्रतिमा और शील धर्म की साकार स्वरूप रही हैं। वे इस धराधाम की भूषण रही हैं। उनका औदार्य और औदात्य जगत् वंदनीय रहा है।

●●

१. उब्भेउ अंगुली सो पुरिसो सयलंमि जीवलोयम्मि।
कामं ताणं नारी जेण न सक्कं वसीकाउं॥

धर्म और नारी : जैनधर्म के विशेष सन्दर्भ में

धर्म प्रत्येक संस्कृति का प्राणभूत तत्त्व रहेगा। कोई भी युग धर्मविहीन नहीं रहा। प्रत्येक धर्म मनुष्य की सुखमयता और शिवम् का चरम एवं परम लक्ष्य रखता है और तदर्थ उसे समाज-सापेक्ष भी होना ही पड़ता है। समाज के विभिन्न अंग-उपांगों के साथ नारी की अवधारणा भी उसमें समुचित महत्ता के साथ स्थान प्राप्त कर लेती है। विश्व की सभी संस्कृतियों में एवं धर्मों में नारी को गरिमा और गौरव प्राप्त हुआ है; उसके सद्गुणों के आधार पर। यह अन्य बात है कि किसी में ऐसा अधिक हुआ है तो किसी में कम, अथवा किसी-किसी में इसके साथ-साथ नारी की अवमानना के सूत्र भी दृष्टिगत होते हों। तथापि—यह सर्व सामान्य मान्यता रही है कि स्त्री और पुरुष दोनों संयुक्त रूप में समाज के सृष्टा हैं—दोनों ही समान रूप से समाज के अभिन्न अंग हैं। स्त्री और पुरुष-पुरुष और स्त्री—ये दोनों ही मिलकर एक सचेष्ट इकाई का रूप लेते हैं। किसी एक के अभाव में अन्य का अस्तित्व इस दृष्टि से अपूर्ण रह जाता है। वस्तुत: ये दोनों एक-दूसरे के परिपूरक हैं और दोनों का योग ही परिपूर्णता ला पाता है। मनुष्य मनस्वी है—इसी आधार पर वह सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी माना जाता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इस श्रेष्ठत्व के धारक स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप में हैं अथवा संयुक्त रूप में हैं।

पुरुष-प्राधान्य : कारण और परिणाम

समाज में आज भी है पुरुष का प्राधान्य, कल भी किसी न किसी रूप में रहेगा और दूर अतीत से ही यह अपने प्रबल रूप में चलता चला आ रहा है। कुटुम्ब-परिवार, समाज, आर्थिक पक्ष, धर्मादि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पुरुष-वर्चस्व का ही बोलबाला रहा है। इस सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक पुरुष-प्राधान्य का सभारंभ कदाचित् इसी कारण से हुआ कि शरीर-सौष्ठव से पुरुष नारी की अपेक्षा अधिक बलशाली, अधिक सक्षम सिद्ध हुआ। कायिक संरचना

की यह विशेषता अपने श्रेष्ठत्व का आभास ही पुरुष को नहीं कराती रही, इससे उसके मन में एक विशेष प्रकार का अहं और आत्म-विश्वास दृढ़ से दृढ़तर होता चला गया और प्रतिक्रियास्वरूप स्त्री का दौर्बल्य उसकी कायिक अक्षमता का आभास भी उसे स्वयं अपने अन्तर में स्पष्टता के साथ होता रहा। पुरुष का दंभ, उसका श्रेष्ठत्व नारी के मन में हीन भावना को द्रुतगति से विकसित करता चला गया और वह बेचारी पुरुष के प्रति समर्पित हो गयी, उसके चरणों में आश्रय पाकर स्वयं को अनुगृहीत अनुभव करने लगी। यों स्त्री ने पुरुष के वर्चस्व, उसके प्रभुत्व, उसके प्राधान्य को स्वीकार कर लिया और यह अनुभव भी उसे सुखद प्रतीत होने लगा कि वह सबल पुरुष की संरक्षिता है, पोषिता है, उसकी प्रजावत् है। यों स्त्री-पुरुष-समकक्षता का सिद्धान्त-शिखर ध्वस्त होकर धूल धूसरित हो गया। पुरुष का दायित्व-क्षेत्र भी बढ़ा, आत्म-विश्वास में और उसकी कार्यक्षमता में भी अभिवृद्धि हुई। नारी का कार्य परिवार-वृद्धि और घर की सीमाओं तक मर्यादित रहकर परिजनों की सेवा-टहल करना मात्र रह गया। उसकी स्वाधीनता भी अतीत का विषय रह गयी। पुरुषगत स्वामित्व का दंभ भी नारी के दलन-शोषण और उस पर मनमाने अत्याचारों से तथा अपमानपूर्ण व्यवहारों से तुष्ट और पल्लवित-पुष्पित होने लगा। दोनों ही यह स्वीकारने लगे कि नारी पुरुष की आश्रिता है, उसके अधीन एवं उस पर अवलम्बित है। पुरुष ही नारी का पोषक है, वही उसका रक्षक है। पुरुष की स्थिति एक आदेश कर्त्ता जैसी है और नारी पुरुष की सेवा करे—यह पुरुष अपना अधिकार मानने लगा और नारी भी इसे अपना कर्त्तव्य; अपितु धर्म मानने लगी। यह धारणा समाज में बहुमूल्य हो गयी कि नारी स्वायत्त नहीं, उसका अपना कोई पृथक् अस्तित्व, स्वाधीन वर्चस्व नहीं। पुरुष के व्यक्तित्व में विलीन रहना ही उसकी नियति हो गयी। जीवनभर वह पति की अनुगामिनी रहती, जीवन के अन्त में वह उसकी सहगामिनी भी हो जाती। नारी पुरुष की विषय-भोग सामग्री बनकर ही रह गयी। उसकी दैहिक तृप्ति और ऐहिक सुखों की वह साधन मात्र रह गयी। नारी-दशा दीन से दीनतर होती चली गयी, उसका अपना न कोई बोल था और न ही कोई मोल।

पुरुष के ऐसे अनुचित और अनीतिपरक वर्चस्व के लिए भी और नारी की ऐसी हीनावस्था के लिए भी धर्म की सहाय उपलब्ध रही। धर्म को रूपायित करने, शासन रचने और व्यवस्थाएँ देने का गौरवपूर्ण दायित्व पुरुषों के पास रहा है जो कभी संहिताकार तो कभी धर्मगुरु के रूप में सक्रिय रहा। पुरुष जब स्वयं नियामक हो, तो अपने लिए वह सुविधाएँ आरक्षित कर ले, इसमें भी

अस्वाभाविकता नहीं लगती और स्त्रियों के लिए वह बन्धनों को दृढ़तर करता चले इसमें भी नहीं। क्रमशः नारी स्वयं अपनी स्थिति को आदर्श स्थिति मानने लगी, समाज में उसकी यही अवस्था सम्भव भी है और व्यावहारिक भी—वह इसे स्वीकार करने लगी। वह पुरुष के स्वार्थपरक और अनीतियुक्त व्यवहार में भी अनौचित्य और अनुदारता की झलक नहीं पाती। उसने पुरुष से हीन, अपनी द्वितीय श्रेणी की अवस्था को, अनापत्तिपूर्वक स्वीकार कर लिया कि इससे इतर और कुछ हो भी क्या सकता है। विश्वभर में सर्वत्र इसे नारी की 'हीन भावना' के रूप में स्वीकारा गया और इसके पीछे आधारभूत कारण यह था कि नारी बेचारी निरीह है, अतिशय भावुक है, उसके बुद्धि वैभव भी स्वतंत्र नहीं, अपितु धर्म और समाज परम्परा की छाया में ही विकसित हुआ है। यही कारण है कि धर्म के नाम पर तथाकथित धर्मगुरुओं के आदेश-निर्देशों को उसने बिना किसी तर्क-वितर्क के स्वागतपूर्वक स्वीकार किया; चाहे ये प्रदत्त व्यवस्थाएँ स्वयं के लिए कितनी ही उत्पीड़क, कष्टकर, अपमानजनक और सामान्यतः अनीतिपरक भी क्यों न हों। इन्हें थोपने में पुरुष को चाहे कभी विरोध का भय रहा भी हो, किन्तु इनके अनुसरण में नारी का अनुत्साह कभी नहीं रहा। सभी कालों में, सभी देशों में, सभी समाजों में पुरुषों-धर्मगुरुओं ने स्त्रियों के प्रति अनुदार दृष्टिकोण रखा और असहिष्णुता का ही परिचय दिया। यह इतिहास-पुष्ट तथ्य है। धर्मशास्त्र की आड़ लेकर वे नारी के प्रति विद्वेष उगलते रहे हैं, उनके अधिकारों का हनन किया है और नारी वर्ग पर पुरुष जाति के सर्वाधिकारपूर्ण आधिपत्य और प्रभुत्व को प्रबल बनाया है।

स्वाभाविक रूप से प्रशंसनीय नारी की तथाकथित धर्मशास्त्रों में निन्दा की गयी और उनका हीनत्व सुस्थापित किया गया है—इसमें भी कोई अत्युक्ति नहीं है। मसीह जन बड़े उदार हृदय माने जाते हैं। उनका धर्म भी सदाशयतापूर्ण माना जाता है। उनके धर्मशास्त्र 'बाइबल' में नारी को सभी बुराइयों की जड़ और शैतान का दरवाजा कहा गया है। छठी शताब्दी में ईसाई धर्म-संघ ने यह मान्यता भी घोषित कर दी कि स्त्रियों में आत्मा नहीं होती; अतः आत्मोद्धार के प्रयत्न उनके लिए अप्रासंगिक हैं। माना जाता है कि इस परम्परा में भी नारी का आत्मारहित स्वरूप ही स्वीकृत है और उसे पशुवत् समझा गया है। बहुपत्नी-प्रथा उनके लिए धर्मानुमोदित रूप रखती है। पर्दा-प्रथा भी वहीं से आरम्भ हुई मानी जाती है।

वैदिक धर्म में नारी-स्थिति का विवेचन ग्रंथारम्भ में हो चुका है। क्रम निर्वाह के प्रयोजन से उसके मुख्य स्वरूप का पुनर्स्मरण कराना भी अप्रासंगिक न होगा।

वेदकाल में अवश्य ही नारी का गौरव-गरिमापूर्ण स्वरूप रहा, किन्तु तदनन्तर स्मृतिकाल के आते-आते उसकी महिमा का ह्रास होने लगा। मनुस्मृति में तो यह कहा गया कि स्त्रियों की सृष्टि जनने, मानव-सन्तान उत्पन्न करने के लिए हुए है।[१] पत्नी के लिए पति-सेवा का विधान कर दिया गया जो किसी भी स्थिति में अनिवार्य नहीं माना गया—चाहे पत्नी कितनी ही सुयोग्य, सुन्दर और गुणवती हो और पति कितना ही दुश्शील हो, अवगुणी हो, कुरूप और कामांध ही क्यों न हो। पति प्रत्येक स्थिति में पत्नी के लिए देवता-तुल्य है, पूज्य है।[२] सन्त तुलसीदास ने भी इस विचार का समर्थन किया है—

एकहिधर्म एकव्रत नेमा। काय, वचन, मन, पति-पद प्रेमा॥
वृद्ध, रोगबस, जड़, धनहीना। अंध, बधिर, क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पतिकर किये अपमाना। नारि पाव जमपुर दुःख नाना॥

पुरुष का भाग्य और नारी के चरित्र के सम्बन्ध में नीतिकारों की उक्ति है कि दोनों अगम्य हैं, ऐसे दुर्ज्ञेय हैं कि मनुष्य की तो बिसात ही क्या है, स्वयं देवता भी उसका परिचय नहीं पा सकते।[३] क्या ऐसे विचारों द्वारा चरित्रगत दृष्टि से नारी को अकारण ही सन्देह की परिधि में घेर लेने का प्रयास नहीं किया गया? क्या जानबूझकर उसकी गरिमा पर प्रहार नहीं किया गया जो उसके प्रति अवमानना का द्योतक है? क्या इस प्रवृत्ति से नारी के प्रति पुरुष का दुराग्रहपूर्ण व्यवहार नहीं झलकता? नारी को नीचा करके देखने की यह प्रवृत्ति पुरुष की नारी के प्रति अकारण विद्वेष की दुष्प्रवृत्ति की झलक देती है। वेदान्त के समर्थ प्रचारक शंकराचार्य ने नारी को 'नरक का द्वार' माना।[४] बौद्धधर्म में नारी की अवमानना और अधिक हुई है, उसकी और अधिक हीनावस्था प्रतिपादित हुई है। तत्कालीन समाज नारी को पुरुष-समकक्ष मानना तो दूर रहा; उसे दूषित और निम्नतम श्रेणी की मानता था। बौद्धधर्म के व्यवहार से वह भी इसका अनुमोदक

---

१. जननार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
× × ×
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनियबन्धनम्॥

२. विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥

३. स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं, देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः।

४. द्वारं किमेकं नरकस्य?—नारी।

सिद्ध होता है। बौद्धधर्म में आरम्भ में केवल पुरुषों को मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार था। नारी को तो धर्मोपासना का अधिकारी भी नहीं माना गया। नारी का संघ प्रवेश भी वर्जित था। स्वयं भगवान बुद्ध ने अपनी मातृवत् मौसी प्रजापति गौतमी को संघ में प्रविष्ट नहीं होने दिया। अपने प्रिय शिष्य आनन्द के अतिशय अनुरोध और आग्रह पर पाँच वर्ष पश्चात् उन्होंने उसे संघ-प्रवेश की अनुमति प्रदान तो की, किन्तु उनका मन नारी की ओर से तब भी शंकालु ही बना रहा। उन्होंने कहा कि अब नारी के धर्म-प्रवेश के कारण स्वयं बौद्धधर्म की आयु क्षीण होगी, वह दीर्घायु न हो सकेगा। इसी शंका के कारण उन्होंने भिक्षुणियों के लिए नियमों का पृथक् से विधान किया। उन्हें भिक्षुओं की अपेक्षा अधिक कठोर बना दिया गया था। भिक्षुणियों को कठोर अनुशासन में रखा जाना आवश्यक माना गया। इससे भी नारी के प्रति अश्रद्धा और अवमानना का ही परिचय मिलता है। भगवान बुद्ध ने नारी की निन्दा करते हुए पुरुषों को उनसे सावधान और सतर्क रहने को कहा था। नारी के लिए यह अवांछनीय दृष्टिकोण बौद्ध साहित्य में भी यत्र-तत्र व्यक्त हुआ है और इससे नारी-गरिमा को हानि ही पहुँची है। बौद्धधर्म-प्रधान देश चीन और जापान में भी नारी की सामाजिक स्थिति चिन्ताजनक रही है।

जैन साहित्य से यह भलीभाँति आभासित हो जाता है कि यह धर्म नारी के प्रति अति उदार है। तथापि इसमें भी नारी-निन्दा हुई है। इस ग्रन्थ में इस संदर्भ में यत्र-तत्र चर्चा होती रही है। जैनागम ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र में नारी-दूषण का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। एक स्थल पर तो कहा गया है कि—

स्त्रियाँ राक्षसियाँ हैं जिनकी छाती पर दो माँस-पिण्ड उगे हुए हैं, ये अपने विचारों को हमेशा बदलती रहती हैं और ये पुरुषों को फँसाकर उन्हें अपना दास बना लेती हैं।''

दिगम्बर जैन साहित्य में भी नारी-विषयक दृष्टिकोण निन्दापूर्ण रहा है। वे नारियों की उच्चतर धर्मोपासना को उचित और संभाव्य नहीं मानते। मल्लिनाथ ने आध्यात्मिक उत्थान करते-करते तीर्थंकरत्व का गौरव प्राप्त कर लिया था और नारी-गौरव को चार चाँद लगा दिये थे। दिगम्बर साहित्य में इनका स्त्री होना भी स्वीकारा नहीं गया। उन्हें पुरुष ही माना गया है। नारी-निन्दा का अपवाद तो जैनधर्म भी नहीं माना जा सकता, तथापि यह भी वास्तविकता है कि सामान्यत: इस धर्म द्वारा नारी का सम्मान किया गया है। उसके सद्गुणों के लिए उसकी

प्रशंसा की गयी है। नारी को जैनधर्म ने समानता, स्वाधीनता, स्वायत्तता और धर्मोपासना के अधिकारों से विभूषित किया है। नारी-निन्दा और नारी में दोष-दर्शन जो किया भी गया है उसके पीछे एक प्रयोजन विशेष यह रहा है कि पुरुष साधकों-विशेषकर श्रमणों के मन को नारी के अवगुणों से सतर्क कर उसके प्रति विकर्षण उत्पन्न किया जा सके, उनको स्त्री-विमुख किया जा सके। जैनधर्म तो स्त्रियों को भी समानता के साथ धर्मानुसरण कर स्वातंत्र्य देता है, साधना-प्रवृत्ति की अनुमति देता है। स्त्रियों में तीर्थंकर, समर्थ प्रवर्तिनियाँ, साध्वियाँ, धर्म प्रचारिकाएँ हुई हैं। पुरुषों की भाँति स्त्रियों में भी विरक्ति की भावना आवश्यक रही है। ऐसी दशा में जैसे स्त्रियाँ पुरुषों के लिए विरक्ति-बाधक होती हैं, वैसे ही पुरुष भी विरक्ति-व्यवधान बनते हैं स्त्रियों के साधना-मार्ग में। यही कारण है कि नारी-निन्दा की भाँति पुरुषों के अवगुणों, दोषों के आधार पर पुरुष-निन्दा भी की गयी है। यह बात और है कि कुछ नारी-निन्दा के तत्त्व ऐसे हैं, कुछ अभाव ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध कायिक संरचना से है। यह प्राकृतिक दौर्बल्य नारी का तो है, पुरुषों में वह नहीं पाया जाता और उस आधार पर उनकी निन्दा सम्भव भी न थी और की भी नहीं गयी।

नारी-पुरुष के संयुक्त स्वरूप को एक परिपूर्ण इकाई मानने वाले धर्म ने नारी की भाँति पुरुष को भी अर्द्धांग तो माना, किन्तु उसे श्रेष्ठार्द्ध या उच्चतरपूरक के रूप में माना और नारी-पक्ष को निम्न और अपेक्षाकृत घटिया बताकर एक तृप्ति और तोष का अनुभव किया है। नारी जागरण ने इस असमानता के निन्दापरक आवरण को उतारा फैंकने और अपने स्वाभाविक सौष्ठव को उजागर करने की प्रेरणा स्त्रियों को दी और वे इस दिशा में सचेष्ट भी होती रही हैं। हिन्दू संस्कृति तो मानती आयी है कि जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है।[१] नारी ही संस्कार देती है अपनी सन्तति को। माता इस दृष्टि से प्रथम गुरु और परिवार आदि पाठशाला का स्थान रखता है। सच है कि नारी कोमल मनोवृत्ति, मृदुल स्वभाव, मधुरभाषिता, सदाचरण, शील धर्म आदि के कारण देवत्व के समीप रहती है। नारी का चाहे कन्या-रूप हो, चाहे भगिनी अथवा भार्या का, उसका प्रशंसापूर्ण वर्णन भी धर्मग्रन्थों में कम नहीं हुआ है और वस्तुस्थिति यही है कि उसका यही रूप यथार्थ है। माता का स्वरूप तो नारी का सर्वश्रेष्ठ रूप है जिसका अन्तःस्थल ममता, वात्सल्य, निस्पृह सेवा और त्याग की भावनाओं से पवित्र बना रहता है। भारतीयजन ऐसे नारी रूप का गुणगान करते

१. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।

थकते नहीं हैं।[१] धर्मों-संस्कृतियों ने नारी के सद्गुणों को स्वीकारा और नारी की सुख-शान्ति के लिए पुरुषों को निर्देशित और प्रेरित किया है। कहा गया है कि जिस कुल में नारी शोक, दु:ख और क्लेश से ग्रस्त रहती है, वह कुल दीर्घजीवी नहीं होता और जिस कुल में नारी सुखी और सन्तुष्ट रहती है, प्रसन्न रहती है—वह कुल उत्तरोत्तर विकास और वृद्धि को प्राप्त करता रहता है। नारी की महत्ता को स्वीकार करना, उस महत्ता में ही समाज का शिवम् स्वीकार करना प्राय: सभी धर्मों का सहज धर्म है। नारी-निन्दा का खण्डन करते हुए महात्मा गाँधी ने भी एक स्थल पर व्यक्त किया था—"यदि स्त्रियाँ ईश्वर की क्षुद्र, हल्के दर्जे की रचनाओं में से हैं तो आप भी जो उनके गर्भ से उत्पन्न हुए—अवश्य ही क्षुद्र हैं।" सत्य ही है कड़वी लता के फल भी है कैसे हो सकते हैं। करेले की बेल पर अंगूर नहीं लग सकते। नारी-निन्दा और नारी-स्तुति दोनों का तुलनात्मक विश्लेषण करके यदि देखा जाये तो निष्कर्षत: हम पायेंगे कि जैनधर्म यथार्थ में नारी-प्रशस्तिपरक धर्म ही है। वह नारी की महत्ता को स्वीकार करता है। नारी और धर्म दोनों जैसे एक-दूजे के लिए हैं। नारी धर्म का उन्नयन चाहती है और धर्म के लिए नारी के लिए नारी-हित, नारी-कल्याण, नारी-उत्थान ही काम्य है।

एक बिन्दु और भी ध्यातव्य है कि एक धर्म अन्य धर्मों की आलोचना इस आधार पर करता रहा है कि उसके द्वारा नारी जाति के लिए अन्याय किया गया है। उस धर्म के अनुयायी ऐसा अधिक करते हैं, चाहे उनका अपना धर्म भी इसी दोष से दूषित क्यों न हो। इसका केन्द्रीय भाव यही है कि प्राय: सभी धर्मों के विश्वासी नारी-गौरव की उचित स्वीकृति को धर्मसम्मत मानते हैं। इसे ही धर्म का स्वाभाविक धर्म मानते हैं। वस्तुत: धर्मों द्वारा नारी को सम्माननीय ही माना गया। अपने-अपने समाज की परिस्थितियों के आग्रह से ही, धर्म की अपेक्षाओं को पूर्ण करने के प्रयोजन से ही यदि कुछ विपरीत किया भी गया तो वह वहीं तक सीमित है और इससे उनके धर्म-गौरव पर कोई विलोम प्रभाव नहीं होता, कम से कम व्यापक रूप में नहीं होता। यह एक सत्य धारणा है कि समाज में नारी का स्थान अवनत होने से स्त्री-पुरुष दोनों का ही अकल्याण आशंकित

---

१. जननी परमाराध्या जननी परमा गति:।
जननी देवता साक्षात् जननी परमो गुरु:॥
या कर्त्री परयात्री च जननी जीवस्यच।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनम:॥

रहेगा। सामाजिक दृष्टि से नारी की बड़ी महत्ता है। नारी की स्थिति परिचायक होती है—समाज के उत्थान-पतन की। जिस देश या समाज में नारी का सम्मान है, वह उन्नत है, और उसका भवितव्य भी उत्थानयुक्त है। जिस समाज और देश में नारी-सम्मान नहीं; उसका कोई भविष्य ही नहीं होता, वह निर्जीव है, स्पन्दनहीन है।

जैनधर्म और नारी

हम पहले कह आये हैं कि जैनधर्म नारी के लिए और नारी जैनधर्म के लिए—दोनों 'एक-दूजे के' रहे हैं। नारी सम्मान और गौरव को बढ़ाने में, उसके कल्याण और उत्थान में जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा और जैनधर्म के सुदृढ़ीकरण में, उसके प्रचार-प्रसार में, उसे बहुजनहिताय स्वरूप दिलाने में नारी की भूमिका भी उतनी ही उल्लेखनीय रही है। सत्य तो यह है कि नारी ने धर्म को जीया है। पुरुष की अपेक्षा नारी का जीवन अधिक धर्मशील रहा। अधिक श्रद्धा और आस्था के साथ धर्माचार को जीवन में उतारने का कार्य भी अधिक कौशल और साफल्य के साथ भी नारी ही कर पायी। और आगम ग्रन्थ साक्षी हैं—धर्म का उपकार भी उसे ही अधिक मिला। अनेक नारियाँ अपने तप-साधना और धर्मानुरूप आदर्शों की अनुपालना के लिए यशार्जन में आगे रही हैं और अपने उपलब्धिपूर्ण शाश्वत उद्धरण स्थापित कर गयी हैं। ये युगानुयुग असंख्य नारियों को धर्मपथानुसरण के लिए प्रेरित करती चली आ रही हैं।

नारी के ऐसे उदात्त चरित के प्रणेता भगवान महावीर रहे हैं। उनके काल तक आते-आते नारी की सामाजिक स्थिति बड़ी अवनत हो चुकी थी, उसकी दशा दयनीय और उसका व्यक्तित्व दुर्बल हो गया था। वह महत्ताहीन, कान्तिहीन और गौरवहीन हो गयी थी। उसके अनेक अधिकारों का हनन हो चुका था और यह क्रम जारी ही था। वस्तुस्थिति यह है कि वैदिक काल से वीरकाल तक नारी की स्थिति ने क्रमिक रूप से भाँति-भाँति के अनेकानेक उतार-चढ़ाव देखें हैं। वैदिक और उत्तर वैदिक काल में भी नारी का स्वरूप उज्ज्वल रहा, वह अधिकार सम्पन्ना रही। बौद्धिक और ज्ञान के क्षेत्र में भी वह स्वतंत्र थी। यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में पुरुष के साथ उसका सान्निध्य अनिवार्य था जो उसके महत्त्व-प्रतिपादन के लिए अपर्याप्त नहीं था। स्मृतिकाल में उसकी दशा अवनत होने लगी। उस पर अनेक निषेध प्रभावशील हो गये, उसका वर्चस्व मर्यादित होने लगा। कतिपय आध्यात्मिक उच्चताओं के लिए वह अक्षम मानी जाने लगी। उसे हेय-त्याज्य सिद्ध किया जाने लगा। नारी-सुरक्षा के नाम पर भी उसके स्वातंत्र्य

और समता के अधिकार सीमित हो गये। अनेक सामाजिक प्रतिबंध लगा दिये गये। तदनन्तर बौद्धधर्म में नारी को आध्यात्मिक स्वातंत्र्य भी नहीं था। वह अपने मोक्ष का उपक्रम नहीं कर सकती थी। उसे संघ में प्रवेश अनुमति ही आरम्भ में नहीं थी। ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव से जैन परम्परा में भी नारी-गौरव कुछ विघटित होने लगा। यों आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के काल से ही नारी का स्वरूप गरिमामय रहा, किन्तु काल के प्रभाव से और समकालीन अन्य सम्प्रदायों की परम्पराओं के प्रभाव से उसमें भी कमी आने लगी। भगवान महावीर ने नारी का इन पतनकारी परिस्थितियों से उद्धार किया। नारी को पुन: पुरुषवत् धर्माचरण की स्वतंत्रता और समानता प्रदान की। उसे संघ-प्रवेश में कोई कठिनाई नहीं रही। वह साधना के उच्चतम शिखर तक निर्बाध रूप से पहुँचने की सुविधा और स्वतंत्रता की पात्र समझी जाने लगी थी। भगवान के संघ में हजारों नारियों-श्रमणियों और श्राविकाओं को आत्म-कल्याण का अवसर प्राप्त था। भगवान महावीर की धार्मिक उदारता को भगवान बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द ने देखा, देखा कि असंख्य नारियाँ आत्मोत्थान के प्रयत्नों में श्रद्धा और सामर्थ्य के साथ जुटी हुई हैं तो वह इस सबसे बड़ा प्रभावित हुआ। आनन्द ने भगवान बुद्ध को पूछा—"भगवन् ! आप अपने संघ में स्त्रियों को दीक्षित क्यों नहीं करते?" भगवान ने अरुचि दिखाते हुए जो उत्तर दिया उसका आशय कुछ ऐसा था कि कौन झमेले में पड़े। अर्थात् भगवान बुद्ध नारी की धार्मिक क्षमता के प्रति भी सन्देहग्रस्त थे और नारी प्रवेश से धर्म-संघ के विघटन को लेकर भी आशंकित थे। इस सन्दर्भ में भगवान महावीर की संकोचहीनता, साहसिकता और उदारता का आनन्द के मन पर प्रभाव और घनीभूत होने लगा भगवान द्वारा नारी का सम्मान, उसके प्रति सघन विश्वास ने तो उसकी आँखें ही खोल दीं। भगवान ने नारी को दीक्षित किया, अपने धर्म-संघ में प्रवेश दिया, श्रमणी-संघ गठित किया, उसे साधना में प्रवृत्त किया तथा मोक्ष तक का द्वार जब उन्होंने खोल दिया तो आनन्द अनुप्रेरित होकर पुन: भगवान बुद्ध के पास गया और नारी के संघ-प्रवेशार्थ पुनर्निवेदन किया। इस बार उसके आग्रह की प्रबलता देखकर बुद्ध ने भी नारी के लिए संघ के द्वार उन्मुक्त कर दिये, नारी को दीक्षित करने का क्रम आरम्भ हुआ। तथापि नारी के प्रति उनके मन का संशय लुप्त नहीं हुआ। संघ के अल्पजीवी होने की आशंका भी उन्होंने व्यक्त कर दी थी और भिक्षुणियों के लिए कठोरतर नियमों का विधान भी कर दिया। इसके विपरीत भगवान महावीर स्वामी को नारी की क्षमता और योग्यता में, उसके चारित्रिक पावनता में अगाध विश्वास था। उनके इस विश्वास के कारण उन्हें किसी खेदजनक स्थिति का

सामना नहीं करना पड़ा। नारी ने स्वयं को उनके विश्वास के अनुरूप सिद्ध कर दिखाया।

नारी की ऐसी सुयोग्यता और क्षमताशीलता की परम्परा तो महावीर-पूर्व की अनेक शताब्दियों से प्रचलित रही। मथुरा क्षेत्र में उत्खनन से भूगर्भ से अनेक प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं जो ईसा की पहली से बारहवीं शताब्दी तक के जनजीवन की तत्कालीन झलक प्रस्तुत करते हैं। विद्वानों का मत है कि इन अवशेषों का अध्ययन एक निष्कर्ष यह भी देता है कि यह क्षेत्र जैनधर्म का कोई सुदृढ़ केन्द्र रहा। स्वाभाविक ही है कि ऐसी दशा में भूगर्भ से प्राप्त इन अवशेषों के माध्यम से तत्कालीन जैनधर्म और धर्म में नारी का स्थानादि विषयक कतिपय महत्त्वशील सूचनाएँ प्राप्त हों। जैनधर्म का केन्द्र होने से तत्कालीन जैन कला का प्रतिनिधित्व करने वाली कृतियों के अवशेष भी मिले हैं, जैसे—आधार पट्ट, तोरण, वेदिका स्तंभ, द्वार स्तंभ शीर्षदल, तीर्थंकर प्रतिमाएँ आदि-आदि। प्राप्त अवशेषों में भी ईसा की आरम्भिक तीन शताब्दियों से सम्बन्धित अवशेष अधिक हैं। इस कुषाणकाल में मथुरा के समीप कंकाली टीला था जो इतिहास ख्यात जैन धर्मस्थल रहा और उसी क्षेत्र के ये अधिकतर अवशेष हैं। इनमें से अनेक पर लेख भी उत्कीर्ण हैं जो ब्राह्मी लिपि में हैं और जिनकी भाषा संस्कृत, प्राकृत मिश्रित है। इन लेखों से यह संकेत मिलता है कि उनका निर्माण अधिकतर तत्कालीन जैन नारियों द्वारा हुआ था। परिवार-समाज में नारी की तत्कालीन महत्ता भी इस तथ्य से उजागर होती है कि कृति की निर्मात्री महिला का नामोल्लेख भी किया गया है। यह भी विदित होता है कि स्त्रियाँ धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा का भाव रखती थीं। श्रमणियों, आर्याओं के निर्देशन में वे प्रचार-प्रसारादि विभिन्न धर्म कार्यों में प्रवृत्त रहा करती थीं। अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि धर्ममय व्यवहार करने वाली ये नारियाँ प्राणिमात्र की हितकामना रखती थीं, सभी के सुखमय जीवन की अभिलाषा करती थीं—"**सर्व संस्थानां हित सुखाय।**" इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जैन नारियों के इस योगदान के पीछे आर्यिकाओं की प्रेरणा भी प्रबल रूप में रही थी और उनके नामों का उल्लेख भी मिलता है। इस कुषाण काल में आर्यों के उपदेश केवल महिलाओं के लिए होते थे—कलाकृतियों में ऐसे संकेत भी मिलते हैं। निम्न वर्गीय लोगों के ऐसे सन्दर्भ इन अवशेषों में मिल जाते हैं जो संकेतित करते हैं कि उस युग में सभी वर्गों के लिए जैनधर्म में समान अवसर उपलब्ध थे; कोई भेदभाव नहीं था। जैनधर्म की उदारता और व्यापकता का परिचय इससे मिलता है। जैन जन भी सभी वर्गों के धार्मिक कार्यों में अपनी प्रतिभागिता रखते थे। साध्वियाँ गृहस्थ

स्त्रियों में धार्मिक भावों का जागरण करती थीं। तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की चरण चौकी पर करबद्ध खड़ी स्त्रियों को भी दिखाया गया है। ऐसे धर्मचक्र भी खुदाई से प्राप्त हुए हैं जिसके एक ओर पुरुष पंक्तिबद्ध रूप में खड़े हैं और दूसरी ओर स्त्रियों की पंक्ति हैं। ये अवशेष प्राचीनकाल में नारी की धर्म-चेतना, सक्रिय भागीदारी, उदारता, कला-प्रेम, श्रमण-श्रद्धा आदि-आदि विशेषताओं का परिचय देते हैं।

जैनधर्म ने नारी-जाति के साथ कोई भेदभाव नहीं रखा और पुरुषों के समान ही उनको भी आत्मोत्थान की स्वतंत्रता, सहायता और व्यवस्था दी गयी। साध्वियों के लिए पंच महाव्रत पालन का विधान था, तो गृहस्थ स्त्रियों के लिए उन्हें सुनाकर पंच अणुव्रतों के पालन की व्यवस्था दी गयी। नारी जीवन को आदर्श और पावन रखने के क्रम में भी धर्म का योगदान कम नहीं था। शीलधर्म की महत्ता और उसकी अनिवार्य पालनीयता के लिए प्रेरणा इस दिशा में धर्म की महत्त्वपूर्ण सक्रियता रही है। नारी जाति की श्रेष्ठ सिद्धान्तों के प्रति ग्राह्यता और उनसे लाभान्वित होने की प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण धर्म का प्रभाव पुरुषों की अपेक्षा अधिसंख्य नारियों पर सदा से ही रहा है। श्रमणियों और उपासिकाओं की संख्या का पुरुषापेक्षा अधिक होना इसको प्रमाणित करता है।

ऐसी नारियाँ भी रहीं जिनका धर्म पति के धर्म से भिन्न रहा। एक ही राजा की अनेक रानियाँ पृथक्-पृथक् धर्म का अनुसरण भी करती थीं। ऐसी विषम स्थिति में भी जैनधर्मावलम्बी नारी की स्वधर्म के प्रति श्रद्धा कम न हो पायी। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि जैनधर्म में दुर्बल और उगमगाती आस्था वाले पति को पत्नी ने धर्म में सुस्थिर कर दिया अथवा अन्य धर्मावलम्बी पति को जैनधर्मावलम्बी हो जाने की सफल प्रेरणा पत्नी ने दी। रानी चेलना के प्रयास से ही मगध सम्राट् श्रेणिक जो अन्य मतावलम्बी था, भगवान महावीर स्वामी के चरणाश्रय में पहुँचा था। ऐसे भी उदाहरण हैं कि नारी ने अकेले स्वयं ही संयम अंगीकार न किया, अपितु प्रेरणा देकर अपने समस्त कुटुम्ब को भी इसी मार्ग पर आरूढ़ कर दिया। स्वयं लाभान्वित होने के साथ-साथ नारी ने अन्य जनों को भी जैनधर्म का लाभ उठाने की जो प्रेरणा दी, उससे उन असंख्य जनों का हित तो हुआ है। जैनधर्म के प्रसार में नारी का योगदान भी हुआ। धर्म को प्रबलता प्रदान करने का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए नारी की नानाविध भूमिकाएँ रहीं। धर्म की शुद्धता और हितैषिता का परिचय उस धर्म के अवलम्बियों की श्रद्धा से प्राप्त होता है। नारी का प्रयत्न अपनी सन्तान में जैनधर्मानुकूल संस्कार

विकसित करने का भी रहा। माँ पुत्र को उसके शैशव से ही यह दिशा देने लगती थी। सती मदालसा का उदाहरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है जो अपने पुत्र को जो लोरी सुनाती थी, उसका भाव आत्मतत्त्व की शुद्धि का पवित्र सन्देश सम्प्रेषित करता था। तू शुद्ध है, तू निरंजन है, अतः तू विकारों में, संसार की माया में मत फँसना। तू बुद्ध है, ज्ञानी है; अतः अज्ञान में ग्रस्त न होना। अज्ञान और अविवेक में यदि तू ग्रस्त रहा, तेरे मन का द्वार यदि खुला न रहा तो तू जगत् में अंधकार फैला देगा। तू जगत् को प्रकाश देने को आया है और तेरा ज्ञान तुझे ही नहीं; जगत् को भी प्रकाश की ओर लगायेगा।[१] सती मदालसा का उद्‌बोधन दीनता-हीनता और मलिनता से ग्रस्त आत्मा के उत्थान का सन्देश देता है और व्यक्ति को आत्म-बोध के लिए उकसाती है। तू इस संसार के मायाजाल में ग्रस्त होने को नहीं आया है। तू क्षुद्र संसारी जीव नहीं, अपितु तू निरंजन है, परम चेतनामय है। तुझे अपने को और संसार को मलिनता से मुक्त करना है। तू संसार की गलियों में कीड़ों की भाँति रेंगने के लिए नहीं है। तू तो ऊर्ध्व चेतना का परम पुरुष है, परम ब्रह्म है आदि-आदि। ऐसे-ऐसे उद्‌बोधनों से नारी ने अनेक जनों को आत्म-विश्वास से परिपूरित किया और उनका अनुभूत दौर्बल्य हटाकर उन्हें अध्यात्म की साधना की ओर मोड़ दिया, उनके मन में लोक-मंगल को अंकुरित कर दिया।

जैनधर्म संघ की साध्वियाँ तो धर्मानुसरण की प्रेरणा देती हैं, गृहस्थ महिलाओं ने भी जैनधर्म के प्रचार-प्रसार करना, उसके सामर्थ्य को विकसित करना जैन नारियों ने अपना दायित्व स्वीकार किया। धर्म की प्रबलता के लिए नारी ने अपनी भूमिका का भलीभाँति निर्वाह किया है। धर्म के नारी पर बड़े-बड़े उपकार हैं, कदाचित् यह भूमिका धर्म से उऋण होने की एक सार्थक उपक्रम रही।

१. शुद्धऽसि बुद्धोऽसी निरंजनोऽसि,
संसार-माया-परिवर्जितोऽसि।

धर्म-सहायिका और पथ-प्रदर्शिका नारी

❑ रानी कमलावती प्रसंग

नगर के राजपथ पर रथों और वाहनों की एक दीर्घ पंक्ति संचालित थी। वाहक अत्यन्त उत्साह के साथ अग्रसर होते जा रहे थे। इस काफिले को सशस्त्र राजकीय रक्षकों का दल अपने घेरे में चला रहा था। राजभवन पर पहुँचकर अग्रगामी रक्षक दल रुका। सारे वाहन थम गये। इन वाहनों में न राजमहिषियाँ थीं, न ही राजकीय अतिथि। इनमें था स्वर्ण और रजत, मणि-माणिक्य, हीरे-मोती, रत्न-पत्रे। अतुल धन का स्वागत करने को नृपति स्वयं सन्नद्ध खड़े थे। कोषपति को प्रसन्नतापूर्वक आदेश दिया गया, कि यह सारा धन राजकोष में सम्मिलित कर लिया जाये। सिर झुकाकर नमनपूर्वक कोषपति ने आदेश-पालन की तत्परता व्यक्त की। एक-एक वाहन कोष में खाली किया जाने लगा। अन्तिम वाहन भी जब रिक्त कर दिया गया तो सुरक्षा की उपयुक्त व्यवस्था कर राजसभा के लिए प्रस्थान किया।

हमें प्रसन्नता है कि भृगु पुरोहित की समस्त सम्पदा राजकोष में जमा करा दी गयी है। हमारा वैभव अभिवर्धित होकर अनेक समीपवर्ती राज्यों के लिए ईर्ष्या का कारण बनेगा। अनेक रत्न तो अब ऐसे भी हो गये हैं हमारे पास कि अन्य नरेशों ने उनके नाम ही सुन रखे हैं; उनका स्वामी होना तो दूर रहा; वे उनके दर्शक भी नहीं रह पाये। भृगु पुरोहित ऐसी सम्पदाओं का स्वामी है—हमें इसका पूर्वज्ञान नहीं था। पुरोहित परिवार का जोगी हो जाना उनके लिए कल्याणकारी जब होगा—तब होगा, या .... । हमारा कल्याण तो आज ही हो गया। हम असीम प्रसन्न हैं .... इस सुयोग का स्वागत करते हैं।'' राजा यह कहते-कहते मुखर रूप से हासरत हो गये। उनकी मूँछें तक मुस्करा उठीं और उनकी मुस्कान विकसित होते-होते अट्टहास में परिणत हो गयी। सभासद अपने राज्य के वैभव पर मन ही मन गर्वानुभव करने लगे थे। करतल ध्वनि और राजा की जय-जयकार से सभा-भवन गूँज उठा।

राजकीय नियमानुसार ही भृगु पुरोहित की इस अपार सम्पदा पर राज्य का आधिपत्य स्थापित हुआ था। भृगु पुरोहित इषुकार नगर का धनाढ्य ब्राह्मण था। यशा नाम की उसकी धर्मपत्नी बड़ी ही सुशीला और गुणवती थी। इस पुरोहित दम्पति के दो पुत्र थे। बस, यही उनकी छोटी-सी गृहस्थी थी। अनायास ही दोनों छोटे-छोटे भाइयों को एक दिन मुनियों के दर्शन हो गये। बालकों ने ध्यान द्वारा अपने पूर्वभव का ज्ञान प्राप्त किया तो एक अद्‌भुत प्रेरणा का संचार हुआ और उन्होंने अपने माता-पिता से मुनिधर्म अंगीकार कर लेने के निमित्त आज्ञा माँगी। पिता ने ब्राह्मण कुल की परम्पराओं की दुहाई दी और कोमलवय पुत्रों को मुनिधर्म ग्रहण करने से रोकने का बहुतेरा प्रयत्न किया। पुत्रों ने भी जैनधर्म के समर्थन में ऐसे-ऐसे तर्क प्रस्तुत किये कि पिता भृगु का हृदय परिवर्तन हो गया। वह भी संयम ग्रहण करने को तत्पर हो गया। माता यशा ने भी संयम का निश्चय किया और इस प्रकार गृह त्यागकर सारा ही भृगु-कुल संयममार्ग पर चल पड़ा। राजनियम था कि जिस परिवार में कोई भी सदस्य शेष न रह जाय, उसकी सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता। भृगु पुरोहित की अपार सम्पदा राजा की हो गयी और राजा इस पर प्रसन्न था। इस घोषणा पर सभाभवन अभी जय-जयकार से प्रतिध्वनित हो ही रहा था कि इसी समय एक अयाचित, अनपेक्षित घटना हो गयी।

सहसा नारी-कंठ के तीव्र स्वर से राजसभा थर्रा-सी गयी। सशक्त स्वर गूँजा—"इस महान् राज्य के राजा और उसकी राजसभा के बुद्धि-वैभव पर मुझे तरस आता है। राजा किसी के वमन किये गये दूषित पदार्थ को चाट रहा है और उसके सामन्त, सभासद इसे प्रशंसनीय मानकर इस पर गर्व कर रहे हैं ! आश्चर्य .... महान् आश्चर्य !" राजा चौंक उठा और देखा तो पाया कि यह तो उसकी की धर्मपत्नी स्वयं कमलावती है। वह रानी को देखते हुए परिस्थिति को समझने का प्रयास कर ही रहा था कि रानी ने अपना कथन अग्रसर किया—

"परम लज्जा का विषय है कि ब्राह्मणों को धन का दान करने के स्थान पर राजा ब्राह्मण का धन हस्तगत करके भी इतरा रहा है। स्वामी ! यह नीति का मार्ग नहीं। भृगु पुरोहित ने आत्मकल्याण में धन को बाधक समझा, विकार मानकर उसका परित्याग किया है। उस विकार-मुक्ति के कारण वह तो भव रोग से मुक्त होकर आत्मज्ञान के मार्ग पर चल पड़ा और आपने उसी परित्यक्ता, विकृत पदार्थ को ग्रहण कर लिया—यह तो वमन चाटने के ही समान है। ऐश्वर्य यदि मोक्ष-मार्ग की बाधा है, परमु सुख के लिए अजेय व्यवधान है तो आप क्यों इसे ग्रहण

करते हैं?" रानी ने क्षणेक् मौन-निर्वाह कर अपने कथन को अग्रसर किया—"राजन् ! आप स्वयं सोचकर देखिये। आप भी पायेंगे कि यह व्यवहार न हितकर है, न विवेक-संगत है। मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है। इस लक्ष्य की साधना मनुष्य का धर्म है। इस धर्म में बाधक व्यवधानों का साधन उपयुक्त नहीं ·····।" रानी का उपदेश-क्रम चलता रहा, राजा के मनोभावों में परिष्कार चलता रहा। रानी कमलावती ने कहा कि "मुझे माया, अनीतिकारक सम्पदा, वैभव-विलास से घोर वितृष्णा हो गयी है। माया-मोह के बन्धनों से उन्मुक्त होकर, विषय-भोग को तिलांजलि देकर, अपरिग्रही और निरारंभी मुनिधर्म ग्रहण करूँगी। स्वामिन्, मोक्ष ही मनुष्य का एक मात्र पथ्य है, साध्य और लक्ष्य है। आप भी समस्त बन्धनों से मुक्त होकर इसी पथ के पथिक बन जाइये।"

रानी कमलावती के सद्वचनों का प्रभाव घनीभूत रूप में राजा के मन पर हुआ। इन वचनों ने राजा इषुकार का हृदय परिवर्तन कर दिया। राज्यासन पर बैठे-बैठे ही वह तो कुछ-का कुछ हो गया। उसकी सुप्तात्मा जागृत हो गयी। सन्मार्ग का उसे दर्शन हो गया और उस पर आरूढ़ हो जाने की प्रेरणा उसे मिली। राज-दम्पति ने मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। अन्ततः घोर तपस्या और उत्कृष्ट भावों से संयम का पालन कर इषुकार और कमलावती ने अन्ततः अष्ट कर्मों का क्षय कर लिया और अन्ततः मोक्ष प्राप्त किया।

रानी कमलावती ने राजा इषुकार को वान्ताशी (वमन में उच्चिष्ट मलिन पदार्थ को खाने वाला) कहकर उसकी सोयी आत्मा को जागृत कर दिया और उसे आदर्श मार्ग पर लगाकर उसे आत्म-कल्याण में संलग्न कर दिया। पति की मोक्ष-प्राप्ति का मूल श्रेय पत्नी के उद्बोधन को जाता है। नारियाँ पुरुषों की इस प्रकार धर्म सहायिका और सुपथ की प्रदर्शिका रही हैं।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ. १४

❑ ब्राह्मी-सुन्दरी—महाबली प्रसंग

आदिनाथ भगवान ऋषभदेव एक सौ पुत्रों और दो पुत्रियों—ब्राह्मी एवं सुन्दरी के जनक थे। स्वयं की दीक्षा के उपरान्त पिता ने अपने ९८ पुत्रों और दोनों पुत्रियों को भी दीक्षा प्रदान कर दी। दो पुत्र भरतेश्वर और बाहुबली राजकाज करते रहे। चक्रवर्ती बनने की आकांक्षा में नृपति भरत ने छहों खण्डों के नरेशों पर विजय पाकर उन्हें अपने अधीनस्थ कर लिया, किन्तु बंधु बाहुबली ने अधीनता स्वीकार न की। दोनों पराक्रमी नरेशों में घोर युद्ध हुआ। विजयश्री

ने बाहुबली का वरण किया। विजय गौरव से बाहुबली विभूषित तो हो गये, किन्तु राज्य, वैभवादि सब कुछ स्वेच्छा से त्याग दिया। दीक्षा ग्रहण कर ली और वे साधना के दुर्गम रथ के साहसिक पथिक बन गये। एकान्त वन-खण्ड का चयन कर वे अडिग और अटल रूप में तपस्यारत हुए। काल व्यतीत होता रहा। वे अविचल ध्यानमग्न हो, अपनी आत्मा को उच्च से उच्च स्तरीय करते हुए आध्यात्मिक उपलब्धियों को पार करते रहे—आगे से आगे अग्रसर होते रहे। उनका तन धूल-मिट्टी के अम्बार से आवृत होकर स्तूपवत् हो गया था। अनेक छोटे-मोटे पौधे और घास-फूँस तक उग आयी थी। इस कठोर तपश्चर्या के परिणाम में भी बाहुबली को जब सिद्धि प्राप्त न हुई तो भगवान आदिनाथ ने ध्यान और ज्ञान को प्रयुक्त कर वस्तुस्थिति की खोज का प्रयत्न किया। उन्हें विदित हुआ कि बाहुबली का अहंकार उसके मार्ग का रोड़ा बना हुआ है। यही अहं उन्हें इस साधुजनोचित व्यवहार का अनुपालन नहीं करने देता था कि वे अपने अनुजों को भी जो आयु में भले ही कनिष्ठ हों, किन्तु दीक्षा-प्राप्ति और मुनि-जीवन में उनसे ज्येष्ठ थे, उन्हें नमन करें। वे अनुजों को इस रूप में वरिष्ठ मानने को तत्पर न थे। इस रूप में उनका दंभ और अहं उनकी दुर्बलता बन गया था। बाहुबली को मार्ग पर लाने का निश्चय कर अपना उपदेशात्मक सन्देश भगवान ने अपनी दोनों पुत्रियों के माध्यम से भेजा।

भगवान का सन्देश लेकर साध्वियाँ तपस्वी बाहुबली के पास पहुँचीं। बाहुबली के कानों में सरस स्वर-लहरियाँ गूँज उठीं। धीमे-से उन्होंने पलकें उघाड़ीं। स्वर स्पष्ट होने लगा—उस वन प्रान्तर में गीत गूँज उठा—

भैया मेरे हाथी से नीचे उतरो
गजारूढ़ हो केवलज्ञान सुलभ नहीं होता
कब तक रहोगे आँखियाँ मींचे
हाथी से उतरो तुम नीचे॥[१]

ध्यान-मुद्रा क्रमशः विरल होती जा रही थी। गीत पर ध्यान गया तो कुछ समझ सके, कुछ भाव अनसमझा रहा, किन्तु ये साध्वियाँ हैं कौन? किसे ये अपने सन्देश दे रही हैं? इन प्रश्नों का समाधान खोजने लगे। इस निर्जन वन में मेरे अतिरिक्त अन्य कोई है नहीं। तो मुझे यह सब कुछ क्यों कहा जा रहा?

---

१. वीरा म्हारा गज थकी उतरो,
गज चढ़ीयाँ नहीं होसी केवलज्ञान रे।

चिन्तन का क्रम आगे बढ़ता रहा। चेतना के सशक्त होते-होते साध्वियों की पहचान भी बन गयी। अरे, ये तो भगिनी सुन्दरी और ब्राह्मी हैं। ये 'वीर' शब्द का सम्बोधन दे रही हैं तो अवश्य ही मेरे विषय में ही ये अपनी बात कह रही हैं, किन्तु मैं गजारूढ़ नहीं, मैं तो भूतल पर अवस्थित हूँ। ये गजारूढ़ क्यों कह रही हैं ? चिन्तन के इसी क्रम में उन्हें प्रतीकार्थ का आभास हो गया। मेरे अहं को ही ये हाथी बता रही हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए हाथी से नीचे उतरना आवश्यक है, अर्थात्—अहं का परित्याग करना सिद्धि के लिए अनिवार्य है। यही कहा जा रहा है। उन्होंने आत्म स्वीकृत किया—हाँ, इस रूप में मैं गजारूढ़ हूँ। मुझे गजावरोहण करना ही चाहिए। वय में कनिष्ठ मेरे भ्राताजन दीक्षा में मुझसे वास्तव में वरिष्ठ हैं और मुझे उन्हें प्रणम्य मानना ही चाहिए। मुझे भूल-सुधार करना चाहिए। अपने बन्धुओं को नमन करना चाहिए। भगवान के समवसरण में जाकर क्षमायाचनापूर्वक मैं अपने भ्राताओं को नमस्कार करूँगा। बाहुबली का अहं विसर्जित होते ही उनका मन विनय से भर उठा और समवसरण स्थल की ओर चरण उठाते ही उन्हें कैवल्य प्राप्ति हो गयी, सिद्धि के वे स्वामी हो गये। पुरुषों के लिए स्त्रियों का धर्म-सहायिका रूप प्रतिष्ठित करने वाला यह एक अनुपम उदाहरण है।

—भरतेश्वर-बाहुबली त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र

❑ राजीमती-रथनेमि प्रसंग

पुरुषों को धर्ममार्ग पर आरूढ़ करने और विचलन की स्थिति में उन्हें धर्म में स्थिर करने वाली महती नारियों में परम शीलवती महासती राजीमती का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इस राज-कन्या ने दीक्षा पूर्व भी और दीक्षोपरान्त भी पुरुषों का पथ-प्रदर्शन किया। तीर्थंकर नेमिनाथ का सांसारिक नाम अरिष्टनेमि था जो श्रीकृष्ण के भ्राता थे। अरिष्टनेमि के संग राजकन्या राजीमती का विवाह-सम्बन्ध निश्चित किया गया था। वर-वेश में अरिष्टनेमि को सज्जित कर श्रीकृष्ण स्वयं अपने अन्य परिजनों के साथ बारात सजाकर आये थे। वधू के द्वार पर बारात पहुँची तो गजारूढ़ वर ने समीप से ही आता पशु-पक्षियों का करुण स्वर सुना। उन्हें बताया गया कि बारातियों के भोज में प्रयुक्त किये जाने के प्रयोजन से अनेक पशु-पक्षी पकड़े गये हैं। मृत्यु-भय से आतंकित पशु-पक्षियों के इस आर्त्त स्वर से वर अरिष्टनेमि विचलित हो उठे, विरक्ति का भाव उनके मन में प्रबल हो गया। तोरण से ही वे राजीमती का विवाह-पूर्व परित्याग कर लौट गये। अविवाहिता राजीमती ने अरिष्टनेमि को मनसा रूप से

अपना पति मान लिया। शीलधर्म की पराकाष्ठा देखिये कि राजीमती ने अन्य किसी पुरुष को अपनी कल्पना में भी न लाने का निश्चय कर लिया था।

अरिष्टनेमि का अनुज था रथनेमि। अरिष्टनेमि ने तो तत्काल ही पंचमुष्टि लोच कर अणगार धर्म स्वीकार कर लिया और मुनिजीवन में वे प्रविष्ट हो गये। रथनेमि बड़ा रसिक था। उसे अनुकूल अवसर मिल गया। उसने राजीमती से निर्लज्जतापूर्वक प्रणय निवेदन किया। उसने दुखिता राजीमती से कहा कि जिसने संसार ही त्याग दिया, उसके लिए दु:खी क्यों होती है? अपनी कंचन-काया और मादक यौवन को क्यों निरर्थक करती हो। मेरा निवेदन स्वीकार करो और मेरा तथा अपना जीवन कृतकृत्य करो। मेरे निष्ठुर अग्रज ने तुम्हारे जीवन को सूना कर दिया। तुम्हारी सहमति हो तो मैं उसे पुन: सुखमय करने को तत्पर हूँ। मेरे संग विवाह करो और नये सिरे से अपना जीवन सँवार लो। इस वासनामय प्रस्ताव से शीलवती राजीमती का दु:ख और भी अभिवर्धित हो गया। वेदनाग्रस्त हृदय राजीमती जब प्रत्युत्तर में कुछ कह न सकी तो नकारात्मक का अभाव मानकर रथनेमि किंचित् उत्साहित हो गया। स्वीकृति की स्पष्टोक्ति उसे भी अपेक्षित थी ही। यह कहकर वह चला गया कि कल मैं पुन: आऊँगा। उसे आशा थी कि तब उसे अपने प्रणय-प्रस्ताव पर राजीमती की स्वीकृति मिल ही जायेगी।

आगामी दिवस वह द्विगुणित उत्साह के साथ आया। राजीमती ने इस अधर्मी को धर्म की राह पर लाने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। रथनेमि के आगमन-पूर्व ही राजीमती ने अपनी क्षमता से कहीं अधिक मात्रा में दुग्धपान किया। उसके आ जाने पर राजकन्या ने मदनफल सूँघा जो वमनकारी होता है। एक स्वर्ण पात्र में सारा वमित होकर उसके उदर से निकल आया। रथनेमि यह देख विचलित हो गया और टुकुर-टुकुर देखता ही रह गया। वह कुछ समझ पाता इसके पूर्व ही राजीमती ने वह स्वर्णपात्र रथनेमि के आगे करते हुए उससे कहा कि लो यह दूध पी लो। देवर का सत्कार तो हमें करना ही होगा। अब तो रथनेमि को रोष आ गया। तमककर बोला—मैं क्या कुत्ता हूँ कि वमित पदार्थ का सेवन करूँ। तुम्हें लाज नहीं आती अतिथि के साथ ऐसा व्यवहार करते····? राजीमती के लिए अपने प्रयत्नों की बड़ी ही अनुकूल परिस्थिति आ गयी थी। उत्साहित होकर उसने कहा—नहीं···· नहीं तुम कुत्ता कदाचित् नहीं हो, किन्तु फिर कुत्ते जैसा व्यवहार क्यों करते हो। अपने स्वर में प्रबोधन का माधुर्य लाते हुए उसने कहा—सुनो, देवर जी ! जैसे यह वमित पदार्थ तुम असेवनीय मान रहे हो—यह मेरा उच्छिष्ट या परित्यक्त पदार्थ है। मैं भी तो तुम्हारे अग्रज द्वारा त्यागी हुई

परित्यक्ता हूँ। मुझे ग्रहण कर लेने की तुम्हारी कामना क्या अनुचित नहीं? तुम तो महान् त्यागी महात्मा के अनुज हो। क्या ऐसी कामना तुम्हें शोभा देती है? आवेश को शान्त करो और मन ही मन वचन लो कि आगे से ऐसा विचार भी मन में न आने दोगे। ये कुत्सित विचार नारकीय बंध करने वाले हैं, तुम्हारे अपने लिए घोर अहितकर हैं।

रथनेमि मौन, शान्त .... अनेक क्षणों तक राजीमती के कथन पर विचार करता रह गया। इन शब्दों ने उसका काया पलट कर दिया था। वह सोचने लगा कि मेरा आग्रह अनीतिपूर्ण ही था। ऐसी चर्चा करना ही मेरे लिए लज्जाजनक है जो मेरे चरित्र को घृणास्पद बना देने के लिए पर्याप्त है। मुखर रूप से उसने राजामती से अपने व्यवहार पर क्षमायाचना की। राजीमती के प्रबोधन ने उसका ऐसा मन:शोधन कर दिया था कि उसने तत्काल ही धर्म-मार्गानुसरण का मानस बना लिया। सांसारिकता से उसे विराग हो गया और कालान्तर में वह गृह त्याग कर वैराग्य और संयम ग्रहण कर वह मुनि जीवन में प्रविष्ट हो जाता है।

इन्हीं आगमीय चरित्रों की एक प्रेरक कथा और भी मिलती है। साध्वी राजीमती कतिपय साध्वियों के संग तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ रैवतक पर्वत पर जा रही थी। संयोग ही कुछ ऐसा बना कि सहसा नीलाकाश घनश्याम मेघों से गिर गया। गर्जन-तर्जन और तड़ित कौंध-सारे ही वर्षा के उपक्रम जुट आये। देखते ही देखते फुहार आरम्भ हुई और शीघ्र ही मूसलाधार वर्षा में परिवर्तित हो गयी। उस निर्जन पर्वतीय वन्य-प्रान्तर में निरीह-सी साध्वियाँ संकट ग्रस्त हो गयीं। अनायास ही आयी इस समस्यापूर्ण परिस्थिति में कोई त्राण तो परमावश्यक था किन्तु तदर्थ कोई राह नहीं सूझ पड़ रही थी। योजनाहीन अवस्था में सभी साध्वियाँ निज-रक्षार्थ सचेष्ट हो गयीं। पर्वतों के इस क्षेत्र में अनेक कन्दराएँ थीं। साध्वियों को जहाँ-जिस कन्दरा में स्थान मिला, वह वहाँ तात्कालिक रूप से शरणागत हो गयीं। राजीमती भी ऐसी ही एक कन्दरा में प्रविष्ट हो गयी। इसके पूर्व ही उसके वस्त्र बुरी तरह से भी भीग गये थे। वस्त्रों से जलधाराएँ निकलने लगी थीं। उसके चिकुर जाल से भी बूँदें निसृत हो रही थीं। उसके गीले तन से गीले वस्त्र मानो एकीकृत हो गये थे। कन्दरा में प्रवेश कर उसने पाया कि भीतर सघन अंधकार है। नवागत नारी के नयनों को अँधेरा यथार्थ की अपेक्षा अधिक गहन प्रतीत हो रहा था। इस तिमिर से राजीमती नाना-प्रकार के भयों से आतंकित भी थी, तो आश्वस्त भी थी कि इसके कारण एक सुविधा तो मिल ही गयी। जनशून्यता और अंधकार पाकर उसने अपने चीवर

उतारकर सूखने को फैला दिये। उसे कुछ राहत महसूस होने लगी। तभी चपला को तीव्र ज्योतिर्मय कौंध हुई। इस क्षणिक् आलोक ने सहसा उसे आतंकित कर दिया। यह क्या···· यहाँ तो किसी पुरुष का अस्तित्व प्रच्छन्न रूप में है। यह क्या हो गया ! उस अंधकार में भी वह नर-छवि क्षण-क्षण उसके नयनों के समक्ष उभरती रही। हड़बड़ाकर साध्वी अपने अधसूखे वस्त्र बटोरने लगी और त्वरा के साथ धारण करने लगी। उसने उस क्षणिक् प्रकाश में साधु-वेश में उस पुरुष में एक तीव्र आकर्षणसूचक मुख-मुद्रा और लुब्ध दृष्टि को भी भाँप लिया। आगामी किसी भी क्षण कोई अमंगल उपस्थित हो सकता है—उस अशुभ कल्पना ने उसके हृदय में अपूर्व साहस का संचार कर दिया। वह साहसिक प्रतीक्षा करने लगी—उस परिस्थिति की। एक आभास राजीमती को अवश्य हुआ कि यह कहीं मुनि रथनेमि ही तो नहीं है।

वास्तव में यह रथनेमि ही था जो इस कन्दरा में पूर्व से ही साधना कर रहा था। उस क्षणिक् तड़ित-ज्योति में उसने भी साध्वी को अनावृत, वस्त्रहीन नारी को देखा भी और पहचान भी लिया था। इस पहचान ने उसके हृदय को राग-सरोवर ही बना दिया था जो काम-लहरियों से तत्काल ही उद्वेलित हो गया। अन्तर का राग नेत्रों में अरुणिमा बनकर झलक गया जो राजीमती को भीतर तक एक बार तो कँपकँपा ही गया था।

कन्दरा के इस अंधकार में राग-रंजित एक पुरुष स्वर गूँजने लगा—राजीमते, मैं वही रथनेमि हूँ जिसे तुमने विषय-वासना से उद्धार कर मोक्ष के मार्ग पर आरूढ़ कर दिया था। तब से अब तक की मेरी जीवन-यात्रा का पाथेय रागात्मक वृत्ति ही प्रच्छन्न रूप में रही है। थोड़ी अथवा अधिक, मद्धिम अथवा तीव्र जैसा भी रूप उसका रहा हो, किन्तु उसका अस्तित्व कभी निर्मूल नहीं रहा। यह शान्तैकान्त वातावरण, यह तुम्हारा आवरणहीन प्राकृतिक सौन्दर्य—आज मेरे अन्तर में भस्मावृत अंगारे को पुनः उद्दीप्त कर चुका है। मेरा वही पूर्व प्रणय-प्रस्ताव तुम्हारी कृपापूर्ण स्वीकृति के लिए प्रतीक्षारत है, सुन्दरी ! कृतार्थ कर दो न इस दास को ! आओ, क्यों न हम एक-दूसरे को दैहिक तृप्ति देकर तुष्टि लाभ करें। किसी को कानोंकान कुछ पता न चलेगा। हम भी यह अपार-अपार रस का आस्वादन कर पुनः दीक्षित जीवन के प्रति समर्पित हो जायेंगे। तुम्हारी स्वीकृति हम दोनों के लिए सुखद ही रहेगी।

अंधकार में वह वाचक का मुख तो नहीं देख पा रही थी, किन्तु उसकी रति-पीड़ायुक्त मुख-मुद्रा, दीनता भरी याचना का हाव-भाव अनुमानित अवश्य

कर पा रही थी। यह रथनेमि है और विरक्त होकर भी यह इस समय भयानक पतन से ग्रस्त है—राजीमती को इसमें अब कोई सन्देह नहीं रह गया था। उसका यह अप्रिय मिथ्या प्रलाप भी उसके लिए अप्रासंगिक था, किन्तु उसने धीरज का पल्ला नहीं छोड़ा था। शान्त और प्रियकर वाणी में राजीमती ने रथनेमि को प्रबोधन दिया—रथनेमि ! सुनो···· तनिक ध्यान देकर सुनो। संयम-विरुद्ध और विषय-वासना-पोषक जो बातें तुमने अभी कही हैं, वैसा तो विचार भी मेरे मानस में नहीं आ सकता। मैं ऐसा सोच भी नहीं सकती और होने को तो तुम्हारा चरित्र भी ऐसा ही होना चाहिए था। किन्तु···· खेद है कि तुम विषय-वासना के पंक से स्वयं को निर्लिप्त नहीं कर सके। तुम श्रमण-जीवन के धारक हो—सांसारिकता और भौतिक सुख की छलना तुम्हारे लिए नहीं सिरजी गयी। पर तुम्हें कब अपनी मर्यादा और गरिमा का ध्यान आयेगा। तनिक ध्यान दो, सोचो कि तुम कितने यशस्वी कुल के दो। अगंधन कुल के सर्प अग्निकुण्ड में कूदने को तत्पर रहते हैं, किन्तु अपने द्वारा वमित (उगला गया) विष पुनः ग्रहण नहीं करते। तुम्हारे लिए भी इसी प्रकार के विचार वांछित हैं। किन्तु तुम्हारा विवेक, चिन्तन और बुद्धि—सभी कुछ समाप्त हो गया है—ऐसा प्रतीत होता है। भोग का मार्ग तुम त्याग चुके हो। इसका पुनर्ग्रहण तो वैसा ही है कि जैसे कोई वमन किये गये मलिन, विकृत पदार्थों को चाटने लगे। हे रथनेमि परित्यक्त तो कभी भी पुनर्ग्राह्य नहीं होता। इसे ग्रहण करने की कामना करने वाले अपयश कामी के जीवन और मृत्यु में भला क्या अन्तर ! अपने को पतन और विनाश से बचाओ···· और इस सुरक्षा के लिए सावधान रहकर तुम्हें स्वधर्म में सुस्थिर रहना है, संयम, आचरण में सुदृढ़ बनना है। अपने इस मानसिक दौर्बल्य पर विजय प्राप्त करो। जो संयम का मार्ग तुमने ग्रहण किया है—उसके लिए तुम्हें स्वयं को योग्य और सक्षम सिद्ध करना है।

इस प्रेरक उद्‌बोधन ने रथनेमि के श्रमण-जीवन के लिए संजीवनीवत् कार्य किया। विनष्ट होता संयम पुनर्बलित होने लगा। विनाश की दिशा में अग्रसर होता आचार उद्‌बोधन अंकुश से कुमार्ग से लौट पड़ा। रथनेमि धर्म में, संयम में पुनः स्थिर हो गया। वह क्षणिक् आवेश जो ज्वार की भाँति प्रबल अवश्य था, तत्काल ही शान्त होकर उतर गया और संयम-सागर पुनः अपनी सीमा में आ गया। बार-बार क्षमायाचना करता रथनेमि अपने अनाचार पर खेद व्यक्त करता हुआ लज्जा और संकोच का अनुभव करने लगा। एक बार पुनः राजीमती के धर्म सुदृढ़ीकरण के प्रयासों की विजय हुई।

—उत्तराध्ययन, अध्ययन २२

❑ कुमारी मल्ली द्वारा छह राजाओं का मोह भंग

जैन तीर्थंकर परम्परा में मल्लीनाथ भगवान का विशिष्ट स्थान है। अपने सांसारिक जीवन में मल्लीकुमारी विदेह की राजकन्या थी। मल्लीकुमारी आरम्भ से ही धर्माचरण की दिशा में अग्रगामी रही। उनका रूप-लावण्य भी अनुपम था। उस रूप की दीपशिखा पर अनेकानेक राजा-राजकुमार मुग्ध भाव से स्वयं को न्योछावर करने को तत्पर थे। अनेक राजा उसे अपनी जीवन-संगिनी बनाने को उद्धत थे। इस मोहाधिक्य के कारण एक स्थिति ऐसी भी आई कि छह राजाओं ने एक साथ ही विदेहराज कुम्भ के पास अपने-अपने विवाह-प्रस्ताव प्रेषित कर दिये। विदेह नरेश ने इन प्रस्तावों को ठुकरा दिया और दूतों को निराश ही नहीं, तिरस्कृत भी करके भेज दिया। अपमानित नरेशों ने क्रुद्ध होकर प्रतिशोध लेने की ठान ली। वे संगठित होकर प्रयासरत हुए और संयुक्त विशाल सैन्य लेकर आये और राजधानी को अपने घेरे में ले लिया। विदेहराज ने विवाह-प्रस्तावों को अस्वीकृत करने के समय ऐसी किसी प्रतिक्रिया की सम्भावना का अनुमान भी नहीं किया था। अब एक विकट संकट आ उपस्थित हुआ था। राजा कुम्भ किसी भी प्रकार छह राजाओं से एक साथ युद्ध करने की स्थिति में न था। वह चिन्ता के सागर में गोते खाने लगा। जैनधर्म के सन्देशों ने राजा को अहिंसक बना दिया था, इस कारण वह युद्ध नहीं चाहता था, किन्तु युद्ध टालने की कोई राह भी दृष्टिगत नहीं हो रही थी।

पिता की समस्या योग्य पुत्र-पुत्रियों की अपनी समस्या हो जाती है। वे समाधान का प्रयत्न करते हैं। राजकन्या मल्ली ने भी ऐसा ही किया। उस बुद्धिमती ने शक्ति की अपर्याप्तता भी अनुभव की और उसमें अनौचित्य भी पाया और युक्ति का सार्थक उपयोग करने का निश्चय कर लिया। राजकुमारी ने आक्रमक नरेशों को सन्देश भेजे कि अमुक-अमुक दिन अमुक राजा से विदेह के राजभवन में वह भेंट करना चाहती है। राजाओं ने आशान्वित होते हुए प्रस्ताव स्वीकार भी कर लिया। किसी भी एक राजा को यह ज्ञात न हुआ कि अन्यों को भी ऐसे सन्देश प्राप्त हुए हैं। राजभवन में एक विशाल मण्डप निर्मित कराया गया जिसके केन्द्र में राजकुमारी ने अपने ही आकार-आकृति की एक स्वर्ण-प्रतिमा स्थापित करायी। इस केन्द्रीय स्थल से ऊँची-ऊँची दीवारें उठाकर वृत्ताकार स्थल को छह भागों में विभक्त कर दिया गया। परिधि के छह विभाग हो गये। प्रत्येक पर एक-एक द्वार निर्मित किया गया और विश्राम भवन भी। कार्यक्रमानुसार एक-एक राजा अलग-अलग द्वार से आया और अपने लिए निर्धारित भवन में पहुँचता गया। ये राजा नहीं जानते थे कि इस प्रकार वे सभी यहाँ एकत्र हो गये

हैं। प्रत्येक यही मान रहा था कि केवल उसे ही आमंत्रित किया गया है। केन्द्रस्थ स्वर्ण-प्रतिमा विशेष योजना के साथ निर्मित की गयी थी। भीतर से वह कटि के ऊपर से खोखली थी। मस्तक पर कमलाकृति का एक मुकुट था जो वास्तव में उस खोखली प्रतिभा का ढक्कन था।

जब सभी राजा अपने-अपने विश्राम भवनों में पहुँच गये तो कुमारी केन्द्र-स्थल पर पहुँची और विश्राम भवनों के भीतरी द्वार खोल दिये गये। राजागण अपने-अपने मार्ग से केन्द्र की ओर अग्रसर हुए। मूर्ति से अधिक सुन्दर राजकुमारी और राजकुमारी से अधिक सुन्दर मूर्ति को देखकर प्रत्येक राजा आश्चर्यचकित हुआ। सौन्दर्य-मुग्ध वे आगे बढ़ते-बढ़ते केन्द्र के समीप पहुँचे। राजकन्या भी ललित-मंथर गति से (मल्लीकुमारी भी) प्रतिमा-मंच पर आ गयी। बड़ी ही कोमलता के साथ उसने प्रतिमा का कमल-किरीट हटा दिया। ऐसा हुआ ही था कि सहसा सारा का सारा मण्डप भयंकर दुर्गन्ध से भर गया। नरेश विचलित हो गये, उनका दम घुटने-सा लगा था। वे समझ नहीं पा रहे थे कि यह क्या हो गया? राजकुमारी ने ऐसा क्यों किया? चाहती क्या है वह? इस गंध से उनका हाल ही बेहाल होने लगा था। राजकुमारी अपने स्थल से एक साथ सभी राजाओं की दुर्दशा देख पा रही थी, किन्तु राजागण एक-दूसरे की उपस्थिति से भी अनभिज्ञ थे। हर राजा यह सोचकर आया था कि अप्रतिमा सौन्दर्य की स्वामिनी मल्लीकुमारी मुझे ही प्राप्त होगी, किन्तु इस लालसा ने उनकी जो दुर्दशा कर दी उससे प्रत्येक राजा अपने-अपने स्तर पर दुःखित था। हर राजा घबराकर इधर-उधर भागने लगा। कोई द्वार उन्मुक्त नहीं था। वह जाये तो कैसे कहीं जाये। इसी समय राजकुमारी की मधुर वाणी सुनायी देने लगी। सुनिये.... सुनिये, ध्यान से सुनिये। आपने इस चित्ताकर्षक स्वर्ण-प्रतिमा को देखा और इसके रूप-वैभव पर मुग्ध भी हुए। उसी का एक परिणामात्मक प्रतिक्रिया से आपमें यह भयावह विकर्षण भी उत्पन्न हुआ। यह प्रतिमा मेरा ही एक प्रतिरूप है। मैं जो भोजन करती थी, प्रतिदिन, दोनों समय उस भोजन का एक-एक ग्रास इस प्रतिमा में भी डाला गया। उस संकलित भोज्य पदार्थ ने कैसा वीभत्स परिणाम दिखाया कि आप अस्थिर, दुःखित हो गये, विचलित हो गये। प्रतिमावत् ही मैं भी हूँ। उसने कमल-किरीट यथास्थान रख दिया। वातावरण में कुछ सुधार आने लगा और राजकन्या कहने लगी—आपको मेरा रूप लावण्य ऐसा मुग्धकारी लगता है, किन्तु हाड़-चाम-रुधिर-मज्जा से संगठित यह तन भी भीतर से ऐसा ही है—वीभत्स और विद्रूप, घ्रणा और अवरेण्य। आपके लिए उचित यही है कि इस यथार्थ से परिचित होकर इस नश्वर और छद्मपूर्ण

रूपलावण्य के मोह को त्यागें और धर्म की राह ग्रहण करें। वास्तविक सौन्दर्य तो धर्म-तत्त्वों में निहित है, उनसे मोह करें। ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में वर्णित इस आख्यान में कहा गया है कि राजागण राजकुमारी मल्ली के कथन से प्रभावित हुए। उनका मोह भंग हुआ। कहने लगा—भगवती मल्लीकुमारी ! हम तो मोहान्ध हो गये थे। रूप-लोलुप होकर हम भयानक अनर्थ पर उतारू हो गये थे। आपने हमारी आँखें खोल दीं, हमारी सुप्तात्माओं को जागृत कर दिया। हम आपके ऋणी हैं। आपने जिस उत्तम मार्ग का संकेत किया है, आत्मोत्थान के लिए हम उसी का अनुसरण करेंगे। आप धन्य हैं ! हम आपके बड़े आभारी हैं—इस अनुग्रह के लिए। कालान्तर में स्वयं राजकन्या मल्लीकुमारी ने और इन छहों राजाओं ने दीक्षा ग्रहण कर आत्म-कल्याण की साधना आरम्भ की।

—ज्ञाताधर्मकथा, अध्ययन ९

❑ पोट्टिला का प्रेरक प्रसंग

तेतली नगर राज्य का अमात्य था—तेतलीपुत्र और पोट्टिला इसी की धर्म पत्नी थी। इनका आरम्भिक दाम्पत्य जीवन सुमधुर था, किन्तु यह माधुर्य चिरजीवी नहीं रहा। स्नेह-सम्बन्ध शीघ्र ही दुर्बल हो गये। पति द्वारा पत्नी की उपेक्षा होने लगी। पोट्टिला अपना यह सर्वस्व खोकर उदास और खिन्न रहने लगी। अपने जीवन की स्नेहहीनता की रिक्तता को भरने के उपक्रम में पोट्टिला दानशाला खोलकर दानवृत्ति में मन लगाने लगी। संयोग से एक दिवस आर्या सुव्रता भी अपनी शिष्याओं के साथ भिक्षाचरी के उद्देश्य से दानशाला में पहुँची। पोट्टिला ने निर्दोष आहारदान किया। इसी अवसर पर उसने आर्या जी से अपनी वेदना का निवेदन भी किया। उसने याचना की कि पति को वश में करने को वे उसे वशीकरण या ऐसा ही कोई मंत्र देने की कृपा करें। जैनाचार के विरुद्ध बताते हुए आर्या सुव्रता ने उसे इस चक्र में ग्रस्त न होने का परामर्श दिया। धर्मपालन का जो उपदेश उन्होंने दिया, पोट्टिला उससे बड़ी प्रभावित हुई। उसके चित्त में विरक्ति अंकुरित हो गयी और दीक्षा की भावना प्रबल से प्रबलतर होती चली गयी। नियमानुसार पोट्टिला ने जब दीक्षा ग्रहण करने के लिए पति तेतलीपुत्र से आज्ञा माँगी तो उसने आज्ञा देने के लिए एक शर्त रखी कि पोट्टिला अपनी तप-साधना के बल पर स्वर्ग लाभ तो करेगी ही। तब देवलोक से वह आकर उसे प्रतिबोधित करे। पति-कल्याण के किसी प्रयत्न के लिए वह पतिव्रता नारी ना कैसे कर सकती थी। उसने शर्त स्वीकार कर ली और आज्ञा पाकर उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। देवयोनि प्राप्त करके भी वह अपने वचनों पर दृढ़ रही। उसने अपने पूर्वभव

के पति को उद्‌बुद्ध करने के अनेकशः प्रयत्न किये भी, किन्तु पति उनसे अप्रभावित ही बना रहा। कारण यह था कि उसे राजा की ओर से जो मान-सम्मान, प्रतिष्ठा प्राप्त थी—उससे उसका मन अन्य-अन्य दिशाओं में ही भटकता रहा। तब पोट्टिली देव ने अपनी माया का प्रसार कर राजा का मन तेतलीपुत्र से विमुख कर दिया। उसका घोर अपमान और अवमानना होने लगी। प्रताड़ित तेतलीपुत्र ने आत्म-हनन के भी बहुतेरे प्रयत्न किये, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। तथापि वह ऐसे जीवन की अपेक्षा मृत्यु का वरण करने के अपने विचार से हटा नहीं। वह हताश-निराश- उदास हो गया था। कोई मार्ग उसे मिल नहीं पा रहा था। उसी समय पोट्टली देव ने उसे उद्‌बोधन दिया—"हे तेतलीपुत्र ! आगे प्रपात है, पीछे हाथी का भय है। दायें-बायें सर्वत्र अंधकार है। मध्य में बाणों की वर्षा है। वनों में आग लग रही है। गाँव धधक रहा है। ऐसे में हे आयुष्मान् तेतलीपुत्र ! हम कहाँ जायें ? किसकी शरण लें ?"

तेतलीपुत्र की सुप्तात्मा उक्त कथन से जागृत हो गयी थी। उसने अविलम्ब ही उत्तर दिया—"ऐसी स्थिति में जब सर्वत्र भय का साम्राज्य हो, कहीं भी कुशलता और त्राण की आशा न दिखायी दे; तो एकमेव दीक्षा ही शरणदात्री रह जाती है।" इस सटीक उत्तर ने उसके जागृत मन का परिचय दे दिया था।

"उचित ही कथन है तुम्हारा, तेतलीपुत्र" पोट्टिला देव ने कहा—"जब कहीं शरण न मिले और प्राणी भयग्रस्त हो तो उसके लिए प्रव्रज्या ही एक मात्र शरणभूत है। क्षमाशील, इन्द्रियदमनकर्त्ता, जितेन्द्रिय साधक सर्वथा अभय हो जाता है।" प्रतिबोध का अनुकूल प्रभाव पाकर पोट्टिली देव ने उसे परामर्श के स्वर में उद्‌बोधन दिया—"इस कथन के आशय को भलीभाँति हृदयंगम कर लो और दीक्षा ग्रहण कर संयम-मार्ग को अपना लो।" यह कहकर देव अपने मार्ग से लौट गया।

तेतलीपुत्र को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उसने इस बल पर अपने पूर्वभव को पहचानने का प्रयास किया। उसे ज्ञात हुआ कि प्रतिबोधदाता देव के रूप में उसके पूर्वभव की पत्नी का जीव ही था। उसने संयम ग्रहण कर तपाराधन द्वारा कैवल्य की प्राप्ति की और वह मोक्ष का अधिकारी बना।

—ज्ञाताधर्मकथा, अ. १४

❑ सती पद्‌मावती प्रसंग

चम्पा नगरी में नरेश दधिवाहन का शासनकाल था। रानी परम शीलवती, पतिव्रता पद्‌मावती को दोहद हुआ कि वह राजा के वेश में ही, राजा के साथ

वन-क्रीड़ा को जाये। राजा दधिवाहन को अपनी धर्मपत्नी अतिशय प्रिय थी। उसकी अभिलाषा अपूर्ण कैसे रहती ! राजदम्पति गजारूढ़ हो वन-विहारार्थ गये। अनेक राजकर्मचारी भी संग थे। संयोग ऐसा रहा कि सहसा ही उनका हाथी उन्मत्त हो उठा और गर्भवती रानी तथा राजा को लेकर वृक्ष-लताओं को भंग करता वह विपथगामी हो गया। रानी पद्मावती भयातंकित हो राजा का मुख निहारने लगी और राजा दधिवाहन की दृष्टि में असहायता का भाव छलछला आया था। क्रुद्ध गजराज का पीछा करने वाले राजकर्मचारी पीछे, कहीं दूर रह गये और सभी को भयातुर अवस्था में छोड़ वह राजा-रानी को अनिर्दिष्ट दिशा में बेतहाशा भागता रहा। रानी का भय उस समय और भी प्रचण्ड हो उठा, जब मदोन्मत्त हाथी ने अपने चालक को धरती पर गिराकर अपने पैरों तले रौंध डाला। हाथी पर नियंत्रण पाने की अन्तिम आशा भी समाप्त हो गयी तो राजा दधिवाहन ने कहा कि रानी, अब अपनी प्राण-रक्षा के लिए एक ही उपाय है कि हम हाथी की सवारी का त्याग कर दें। कोई वृक्ष आये तब उसकी शाखा को पकड़ लेना होगा। कुछ वृक्षों के आने पर इन्होंने प्रयत्न भी किये, किन्तु गज-गति के तीव्र होने के कारण वे सफल नहीं हो सके। एक वृक्ष की शाखा राजा के हाथ में आ गयी, किन्तु रानी पकड़ न सकी। राजा वृक्ष पर रह गया, किन्तु हाथी रानी को लेकर दूर निकल गया। उस निर्जन वन में रानी पद्मावती का संकट इस अवस्था एकाकी अवस्था में और भी अधिक सघन हो गया। उसे लेकर हाथी एक जलाशय पर पहुँचा और जब वह अपनी प्यास बुझाने लगा, रानी को अवसर मिल गया। वह नीचे उतर आयी और हाथी से दूर-दूरतर होती चली गयी। गर्भवती नारी इस श्रम से पसीना-पसीना होकर हाँफ उठी। इस भयावह वन में वह त्रस्त हो उठी। दूर कहीं उसे एक कुटिया दृष्टिगत हुई तो वह उस दिशा में अग्रसर हुई। यह एक आश्रम था जहाँ उसे कुछ अभय और विश्राम मिला। शीतल जल और वन्य फलों से आश्रम के तापस ने रानी का आतिथ्य किया। रानी को तापस ने बताया कि कुछ ही दूरी पर एक नगर है, जहाँ उसे आश्रय मिल जायेगा। रानी विश्राम कर कुछ स्वस्थ हुई तो वह निर्दिष्ट नगर की ओर चल दी। नगर में एक उपाश्रय था, जहाँ उस समय कुछ साध्वियाँ थीं। रानी को उनकी शरण मिल गयी। कुछ ही दिनों में रानी पद्मावती ने संसार से विरक्त होकर संयम ग्रहण किया और साधिका हो गयी। दीक्षा ग्रहण के समय में यह मानकर कि दीक्षा में इससे बाधा आयेगी—उसने अपनी गर्भावस्था को अव्यक्त ही रखा।

उसने अपनी दशा को आरम्भ में गुह्य रखा अवश्य, किन्त प्राकृतिक रूप में ही कालान्तर में गर्भस्थिति के लक्षण स्वत: ही प्रकट होने लगे तो रानी ने

वस्तुस्थिति स्पष्ट कर समूचा वृत्तान्त कह सुनाया। उसके लिए सारी व्यवस्था कर दी गयी। प्रसवोपरान्त उसी के द्वारा नवजात शिशु को श्मशान में एक वृक्ष तले छोड़ दिया गया। श्मशान-रक्षक चाण्डाल ने, जो स्वयं निस्संतान था, उस शिशु को देखा तो उसे ईश्वर का प्रसाद मानकर घर ले आया। उसकी पत्नी ने बड़े स्नेह के साथ उसका लालन-पालन किया। करकण्डू उसका नाम रखा गया।

वयस्क होने पर करकण्डू अपने पिता के कार्य में सहायक बना। एक दिन हाथ में लाठी लिए वह श्मशान में रक्षा-कार्य में प्रवृत्त था कि कुछ मुनिजन उधर से निकले। एक अनुभवशील मुनि ने कहा—इस युवक का भाग्य बड़ा उज्ज्वल है। यह किसी देश का राजा होता। इसकी लाठी में सात गाँठें हैं। ऐसी लाठी का धारक अवश्य ही नरेश बनता है। मुनि-कथन को एक ब्राह्मण ने सुना, उसका मन राजा बनने की लोलुपता से भर उठा। लाठी हथियाने के लिए उसने करकण्डू पर आक्रमण किया, किन्तु लाठी के रहस्य से अपरिचित होते हुए भी करकण्डू ने अपनी लाठी न दी, सो न ही दी। राजसभा में जब यह प्रकरण उठा—तब भी करकण्डू अपनी बात पर जमा रहा कि मेरी लाठी चाहे दो कौड़ी की भी क्यों न हो, वह है मेरी और मेरी ही रहेगी। यह ब्राह्मण उसे छीनने का क्या अधिकार रखता है ? कोई छीन न सकेगा मुझसे मेरे अधिकार की वस्तु। जब उसने अपनी बात कही तो उसके मुखमण्डल पर एक ऊर्जस्वित, एक तेज और आभा ऐसी छा गयी कि राजा भी उस कुलीन जनोचित तेजस्विता से अप्रभावित न रह सका। यह रंच मात्र अन्याय भी सहन नहीं कर सकता है। यह राजा अन्य कोई नहीं, स्वयं दधिवाहन ही था। उसे करकण्डू में किसी राजवंशीयता के लक्षण दृष्टिगत होने लगे थे। राजा ने लाठी करकण्डू के पास ही रहने दी और ब्राह्मण को तुष्ट करने के लिए कहा कि द्विजराज, हम तुम्हें एक गाँव दान में देंगे। इस लाठी का मोह छोड़ो—क्या धरा है इसमें। करकण्डू एक बार अपने पिता के साथ कंचनपुर गया। संयोग ही ऐसा था कि उस राज्य का निस्संतान राजा उसी दिन मरण को प्राप्त हो गया था। कोई उत्तराधिकारी न रहा तो राजनियमानुसार एक हाथी को पुष्पहार सूँड़ में थमाकर नगर-विचरण के लिए छोड़ दिया गया था। जिस व्यक्ति को वह पुष्पहार पहना दे उसे राज्यारूढ़ किया जाना था। करकण्डू का प्रारब्ध उज्ज्वल था। गज ने उसी के कण्ठ में पुष्पहार धारण करा दिया और वह कंचनपुर का नृपति हो गया। लाठी का पूर्व संकेत इस प्रकार फलित हो गया। राजा करकण्डू का शासन व्यवस्थित रूप से चलने लगा। राज्य में सर्वत्र ही सुख-शान्ति व्याप्त थी। एक दिन लाठी हथियाने की चेष्टा करने वाला ब्राह्मण करकण्डू की राजसभा में उपस्थित होकर दान में एक गाँव माँगने लगा। करकण्डू ने व्यंग्यपूर्वक कहा कि तुम गाँव ही

लेना चाहते हो तो राजा दधिवाहन के पास क्यों नहीं जाते हो? उस दानवीर राजा ने तुम्हें गाँव दान करने का वचन दिया भी था। क्या हुआ उसके वचन का?

राजा दधिवाहन के कानों तक भी इस ब्राह्मण ने यह वृत्तान्त पहुँचा दिया। राजा ने सुना तो क्रोध से वह तमतमा उठा। उसके अन्तर में प्रतिशोध की ज्वालाएँ धधक उठीं। वह क्रोधातुर हो बड़बड़ा उठा—चाण्डाल का यह छोकरा.... संयोग से राजा बन गया तो अकड़ दिखाने लगा है। हमारा अपमान करने, उपहास करने का दुस्साहस उसे कितना महँगा पड़ेगा—वह नहीं जानता, किन्तु हम उसे जताकर रहेंगे। उससे भरपूर बदला न ले लिया तो हमारा नाम.....। राजा दधिवाहन ने कोपावेश में कंचनपुर पर आक्रमण कर दिया। विशाल सैन्य बल और शस्त्रास्त्र उसके संगी-साथी थे। करकण्डू भी अपरिमित शौर्य-पराक्रम का स्वामी था। विजय के अपरिमित और अदम्य उत्साह के साथ वह भी समर-भूमि में विशालवाहिनी के साथ ललकारता हुआ पहुँच गया। दोनों पक्षों में अपनी-अपनी विजय का अपूर्व आत्म-विश्वास था, जो युद्धोल्लास के रूप में व्यक्त हो रहा था। दोनों अपनी-अपनी मातृभूमि की जय-जयकार से सारे वातावरण को गुँजायमान कर रहे थे। अश्वदल पैर पटक-पटककर हिनहिनाकर अपना जोश प्रकट कर रहे थे। तलवारें शत्रु-कण्ठ के स्पर्श के लिए लपलपाने लगीं और धनुष की प्रत्यंचा पर आसीन बाण विरोधी दल के संहार के लिए उद्विग्न हो उठे थे। किसी भी पल युद्धारम्भ होना आशंकित था कि ठीक इसी क्षण में पद्मावती रणभूमि-मध्य आ उपस्थित हुई। राजा दधिवाहन और राजा करकण्डू शस्त्र उठाये एक-दूसरे के सम्मुख अश्वारूढ़ थे। दोनों एक-दूसरे को ललकार रहे थे। इनके नेत्रों के मध्य जैसे गुलाल घुल गयी थी और नथुने फूल उठे थे। इनकी भुजाएँ फड़क रही थीं और वृद्ध नरेश को प्रतिशोध की भावना उत्तेजित कर रही थी तो युवा नृपति को स्वदेश गौरव-रक्षा की भावना स्फूर्त कर रही थी। इन दो युद्धोद्धत, हिंसा-प्रतिहिंसा पर उतारू वीरों के मध्य शान्ति की देवी पद्मावती आ खड़ी हुई। हाव-भावों में युद्ध की महाविभीषिका के प्रति उपेक्षा का भाव, दृष्टि में करुण शान्ति की उज्ज्वलता निहित थी। उसकी उपस्थिति मात्र से दोनों परस्पर शत्रु पक्षों में सहसा एक विचारशीलता-सी आ गयी। तलवारें थामे भुजाएँ कुछ शिथिल हुईं। भुजाओं की पकड़न और वक्षों की धड़कन की द्रुतता भी घटने लगी। नेत्रों की रक्ताभा में फीकापन आने लगा। युद्धोत्साह प्रबलकारी घोष रुक गये। सहसा सर्वत्र ऐसी शान्ति छा गयी कि यदि कोई बाण भी धरती पर गिर पड़े तो उसकी आहट सब कहीं सुनायी पड़ जाय। सभी यह जान लेने को समुत्सुक हो उठे थे कि यह देवी कौन? और युद्ध-स्थल में इसका प्रयोजन क्या?

पद्मावती का प्रयोजन तो इस महाविनाशकारी वृथा समर को स्थगित कर दोनों पक्षों को शान्त करने का था। उसने अपनी गम्भीर वाणी में युद्ध की अनर्थकारिता और अनपेक्षितता प्रतिपादित की और शान्ति से परस्पर वार्त्ता द्वारा भ्रान्तियों को दूर कर लेने की आवश्यकता भी। युद्ध को अमानवीय और धर्म-विरुद्ध बताते हुए उससे विरत होने की प्रेरणा देते हुए उसने दोनों नरेशों को सम्बोधित किया और रहस्य के उद्घाटनकारी स्वर में कहा कि आप दोनों नरेश एक-दूसरे के प्राणों के ग्राहक बने खड़े हैं अवश्य, किन्तु क्या आप एक-दूसरे से परिचित हैं। राजा करकण्डू क्या तुम जानते हो कि तुम्हारे शत्रु राजा दधिवाहन का पुत्र कौन है? और राजा दधिवाहन क्या आप जानते हैं कि राजा करकण्डू का पिता कौन है? ऐसे अपरिचय की स्थिति में तो मैत्री भी सम्भव नहीं है, वैर की बात तो बहुत दूर की है। दोनों राजा पद्मावती का कथन पूर्ण दत्तचित्तता के साथ श्रवण करते जा रहे थे। पद्मावती ने कहा—मैं जानती हूँ, यह सारा परिचय मेरे पास है। सुनो राजा करकण्डू, मैं तुम्हारी जननी हूँ और यह भी जान लो कि मैं ही राजा दधिवाहन की खोयी हुई रानी हूँ जो गजोन्माद के कारण उनसे पृथक् हो गयी थी। अब मेरे सम्बन्धों के सहारे जान लीजिए कि आपका पारस्परिक नाता क्या है? कौन राजा दधिवाहन का पुत्र है और कौन राजा करकण्डू का पिता? मानवीयता और धर्म की रक्षार्थ युद्ध वृत्ति को तिलांजलि दीजिए और नीति-प्रधान शान्ति का मार्ग अपनाइये।

राजा दधिवाहन को स्मरण हो आया कि पद्मावती रानी उस समय गर्भवती थी, जब वह वियुक्ता हुई थी। करकण्डू को भी स्मरण हो आया कि वह उसके पिता को अनाश्रित शिशु के रूप में मिला था। शान्ति की उस देवी के कथन में सन्देह का कोई स्थान ही शेष नहीं रहा। दोनों ने अपनी-अपनी तलवारें म्यान में रख लीं और अश्वारोहित होकर आदर और स्नेह के साथ एक-दूसरे की ओर बढ़े। पुत्र पिता को नमन कर उनके चरणों में झुका, किन्तु ममता के साथ पिता ने पुत्र को अपनी भुजाओं में उठाकर गले लगा लिया। वैमनस्य भुलाकर दोनों देशों के सैनिक परस्पर मित्रता प्रकट करते हुए गले लगने लगे। शस्त्रों के पराभव और मानव मैत्री की विजय की यह अद्भुत झाँकी बड़ी मनोमुग्धकारी थी।

पद्मावती ने इस प्रकार अमानवीय प्रवृत्ति-रक्तपात को स्थगित कर वैमनस्य की अग्नि को बुझा दिया। मित्रता और शान्ति को उसने पुनर्प्रतिष्ठित किया। धर्मोचित और मानवतापूर्ण वातावरण वह लौटा लायी और हिंसा का मार्ग सर्वथा अवरुद्ध कर दिया। दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के देशों और राजाओं का जयघोष कर उठीं।

—उत्तराध्ययन १८

—त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र पर्व १०

❑ नागिला प्रसंग

यह भी एक अद्‌भुत प्रसंग है जिसमें अनिच्छापूर्वक दीक्षित हुए पुरुष को एक दिन का विवाहित जीवन संग-संग बिताने वाली पत्नी ने वर्षों बाद धर्मच्युत होते हुए (पति को) धर्म में पुन: स्थिर और दृढ़ किया। मगधान्तर्गत ग्राम-सुग्राम में आर्जव नामक राठौड़ का निवास था। भवदत्त और भवदेव—इसके दो पुत्र थे। युवावस्था में ही अग्रज भवदत्त ने दीक्षा ग्रहण कर ली। वर्षों बाद अनुज भवदेव का विवाह हो गया था नागिला से। गुरु से आज्ञा प्राप्त कर मुनि भवदत्त सुग्राम आये। उसी दिन अनुज का विवाह सम्पन्न हुआ था। अग्रज का आगमन सुनकर अनुज भवदेव अपनी पत्नी के साथ चल रहे प्रेमालाप को अपूर्ण छोड़कर मुनि-वन्दन के लिए आया। मुनि ने अपना भिक्षा पात्र अनुज को थमा दिया। कुछ ही समय रुककर मुनि ने वहाँ से प्रस्थान किया। अनेक ग्रामवासी स्त्री-पुरुष उन्हें विदा करने को साथ-साथ आये। भवदेव ने भी ऐसा ही किया। क्रमश: अनेक जन बीच मार्ग से ही घर लौट गये, किन्तु मुनि जी ने भवदेव को लौट जाने को नहीं कहा। वह अकेला ही मुनि के साथ-साथ चलता रहा। बीच में अन्य ग्रामवासियों ने भवदेव को भी घर लौट चलने को कहा अवश्य था, किन्तु मुनि आज्ञा के बिना लौट आना उसे उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। वह अग्रज का अनुगमन करते-करते अग्रसर होता रहा यहाँ तक कि मुनि जी अपने आश्रय-स्थल पर पहुँच गये। अनुज भवदेव वरवेश में था और बड़ा सौम्य आकृति का था। उसे मुनि के संग देखकर आचार्यश्री ने सहज भाव से पूछ लिया कि यह युवक क्या चाहता है? उत्तर भवदेव के स्थान पर स्वयं मुनि भवदत्त ने दिया और कहा कि यह प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता है। आचार्यश्री उसकी ओर उन्मुख होकर जब पूछ बैठे कि क्या यह सत्य है तो यह सोचकर कि अग्रज की बात का खण्डन कैसे किया जा सकता है; उसने भी स्वीकारोक्ति कर ली। बोला—जी, यही सत्य है। और तत्काल ही उसे भागवती दीक्षा प्रदान कर दी गयी। अनिच्छापूर्वक वह युवक जो नवविवाहित था—नवदीक्षित हो गया। स्वेच्छाधारित न होने के कारण दीक्षा उसके मन को प्रभावित और नियंत्रित न कर पायी। उसका मन धर्मध्यान के स्थान पर पत्नी के ध्यान में ही रमा रहता था। जब मुनि भवदत्त का देवलोक-गमन हुआ तो पत्नी-मिलन के लिए भवदेव का मन इतनी तीव्रता के साथ उत्कंठित हो गया कि वह आत्म-नियंत्रणहीन हो उठा। एक रात्रि को समस्त मर्यादाओं को भंग कर, बिना आचार्यश्री की अनुमति के वह संघ का परित्याग कर स्व-गृह को चल पड़ा। ग्राम बाह्य उद्यान में वह पहुँचा और विश्राम करने लगा था कि ग्राम की दो स्त्रियाँ वहाँ आ गयीं। भवदेव

ने आर्जव और रेवती का नाम लेकर पूछा कि इस ग्राम में उनका निवास था; कैसे हैं वे? एक स्त्री ने बताया कि बहुत समय हो गया, वे नहीं रहे। तब मुनि भवदेव ने कहा—उनकी पुत्रवधू भी थी—नागिला, वह कैसी है? इस बार दूसरी स्त्री सक्रिय हुई। वह बड़ी देर से मुनि जी की मुखाकृति से कुछ अनुमान लगाने की चेष्टा कर रही थी। उसने असफल रहने पर पूछ ही लिया कि आप कहीं भवदेव तो नहीं। और मुनि ने भवदेव होना स्वीकार भी कर लिया। तब तो उस स्त्री ने आक्षेप की तेजी अपने स्वर में लाते हुए कहा—मुनिवर, आप तो श्रमणाचार का निर्वाह करते हैं; अब नागिला से आपका क्या वास्ता? मुनि भवदेव ने स्वीकारा कि मात्र अग्रज की अभिलाषा से मैं दीक्षित हुआ था; स्वेच्छा से नहीं। परिणय के तुरन्त पश्चात् ही तो मैं नागिला से पृथक् हो गया था। ठीक से उसे देख भी न पाया था। एक बार उसे देख लेने की कामना से आया हूँ।

स्त्री ने कहा मुनि होकर ऐसी अभिलाषा रखना आपको क्या शोभा देता है? हाड़-चाम, रक्त-मज्जा और मल-मूत्र मय शरीर के प्रति क्या आसक्ति ! नागिला को देखने की साध में सार ही क्या है? सुनिये मुनिराज ! नागिला एक सती-साध्वी श्राविका है और धर्माचारों में उसकी आस्था और श्रद्धा है। अनेक अन्य स्त्रियों को भी वह श्राविका धर्म के अनुसरण की प्रेरणा दे रही है।

सब कुछ सुनकर भी मुनि भवदेव ने कहा—वह होगी···· ऐसी ही होगी, तथापि मैं उसे एक बार देखूँगा अवश्य। मेरी यही हार्दिक कामना है।

तब उस स्त्री ने कहा—अगर यही कामना है तो देख लीजिए अच्छी तरह से, अपनी नागिला को। वही तो आपके समक्ष है और आपसे वार्त्तालाप कर रही है। महात्मन् ! मैं ही अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत की पालन करने वाली नागिला हूँ। मैं सांसारिक जीवन में भी धर्म के प्रति दृढ़ हूँ और आप विरक्त होकर भी धर्मच्युत होते जा रहे हैं—आश्चर्य है ! यह मुनिजनोचित मार्ग नहीं है। महात्मन् ! लौट जाइये इस मार्ग से और पहुँच जाइये पुनः विराग के लोक में। आपके लिए यही उपयुक्त है। गुरु-सेवा में जाकर उनसे प्रायश्चित्त लेकर पुनः पावन होइये और तप-संयम की आराधना का आत्म-कल्याणार्थ साधना कीजिये। अनन्त शिव सुख की प्राप्ति कीजिए।

नागिला के ये हितकर और प्रेरक वचन सुनकर मुनि भवदेव का अन्तःकरण आलोकित हो गया। धर्मचेतना उनके मानस में व्याप्त हो गयी। इस हृदय-परिवर्तन ने मुनि जी को आभास करा दिया कि उनका यथार्थ मार्ग कौन-सा है, जिस पर उन्हें गतिशील रहना है। दो-एक क्षण नयन मूँदकर आत्म-चिन्तन कर

वे सहज होते हुए बोले—श्राविके ! तुम धन्य हो। तुमने पतन से मेरी रक्षा कर ली। मेरे लिए तुम्हारा यह उपकार सदा अविस्मरणीय रहेगा। तुम्हारा उद्‌बोधन तुम्हें सच्चे गुरु की मान्यता दिलाता है। अब मैं सर्वप्रथम तो अपनी भूल के लिए प्रायश्चित्त करूँगा और तब धर्म में दृढ़ होकर त्रिकरण और त्रियोग से धर्मपालन में जुटा रहूँगा। मैं लज्जित हूँ अपनी भूल के लिए और आभारी हूँ तुम्हारे इस प्रेरक मार्गदर्शन के लिए।

पतिहितकारिणी पत्नी नागिला पति के धर्म में पुनः सुस्थिर हो जाने के पश्चात् स्वयं भी संयम ग्रहण कर आत्म-कल्याण के उपक्रम में संलग्न हो गयी।

—जम्बूकुमार चरियं

❑ मदनरेखा प्रसंग

सुदर्शनपुर के नरेश मणिरथ और उसके अनुज युगबाहु में अपरिमित स्नेह भाव था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मदनरेखा अनिंद्य सुन्दरी थी, परन्तु थी सर्वथा विनीत और निरऽभिमान। न रूप का गर्व था, न यौवन का दंभ और न ही राजसत्ता का अहं। धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखने वाली मदनरेखा शीलवती और परम विवेकवती थी। राजा मणिरथ का युगबाहु पर पुत्रवत् स्नेह था। मदनरेखा भी उसका पितृ-तुल्य आदर करती थी; किन्तु मदनरेखा पर उसकी कुदृष्टि ही थी। कुत्सित भावना के साथ मणिरथ अनेक उपहार मदनरेखा को भेजता था और पितृ-स्नेह के प्रतीक के रूप में वह उन्हें प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लेती थी। यह एकांगी आकर्षण अनीतिकर तो था, किन्तु मणिरथ के मानस में वह दिन-दूना और रात-चौगुना विकसित हो रहा था। अपनी कामना-पूर्ति के लिए मणिरथ किसी भी व्यवहार को अनुपयुक्त नहीं मानता था। नीति-अनीति का कोई मोल उसके लिए नहीं रह गया था। उसे तो बस अपनी स्वार्थसिद्धि की ही लगन लगी थी। उपयुक्त-सा सुरक्षित अवसर देखकर एक दिन राजा मणिरथ मदनरेखा के भवन में भी आ धमका। उसके हाव-भाव देखकर मदनरेखा सब कुछ समझ गयी। आसन्न संकट से भी अविचलित रहकर उसने अपने शील की रक्षा का उद्यम किया और मणिरथ को ताड़ना देते हुए डपटकर कहा—मैं तो तुमको पिता समान समझती हूँ और तुम पुत्री पर ही कुदृष्टि रखते हो। धिक्कार है तुम्हें। अब तुरन्त यहाँ से लौट जाने में ही तुम्हारा हित है, राजन् ! अन्यथा कुछ भी अमंगल हो सकता है।

मणिरथ फटकार पाकर लौट तो गया, किन्तु उसका वासना-ज्वार द्विगुणित वेग प्राप्त करता चला गया। बेचारी मदनरेखा ने विवेक से काम लिया। दोनों भाइयों

में वैर-वैमनस्य न उभर आये, इस दृष्टि से उसने पति के सम्मुख इस अप्रिय प्रसंग की चर्चा भी नहीं की। कुछ ही समय पश्चात् राज्य की सीमा पर आक्रान्ताओं का उपद्रव होने लगा तो उसके दमनार्थ राजा ने अनुज युगबाहु को भेज दिया। मदनरेखा को सत्य ही इसमें षड्यंत्र की प्रतीति हुई। राजा उसके पति को इस प्रकार मरवा डालना चाहता है कि वह मुझ पर अपना आधिपत्य जमा सके—यह जानकर भी यह शान्त बनी रही। उसे अपने स्वामी के शौर्य-पराक्रम पर अमित विश्वास जो था। उसने अपनी आशंका का संकेत करते हुए अपने पति को मणिरथ की दुष्प्रवृत्ति से परिचित भी करा दिया। युगबाहु ने इसे गम्भीरता से न लिया और मदनरेखा को भ्रान्तियाँ न पालने का उपदेश देकर युद्धार्थ प्रस्थान कर गया। एकाकी मदनरेखा को लुभाने की अनेक प्रवृत्तियों में राजा मणिरथ संलग्न रहा, किन्तु मदनरेखा सतीत्व धर्म पर अविचल बनी रही। आक्रान्ताओं के उपद्रव का दमन कर युगबाहु भी शीघ्र ही विजयपताका लहराता हुआ लौट आया। राजा ने प्रसन्नवदन उसका भव्य स्वागत किया, किन्तु मन में चिन्तन यही चलता रहा कि इसे मार्ग से हटाने का आगामी उपाय क्या किया जाये। कालान्तर में मदनरेखा ने गर्भ धारण किया तो शान्त और स्वास्थ्यानुकूल वातावरण के उद्देश्य से युगबाहु ने नगर से बाहर शान्तैकान्त स्थल पर निर्मित प्रासाद में निवास आरम्भ कर दिया। इस एकान्तता के कारण मणिरथ का काम और भी सुगम हो गया। एक रात अँधेरे में छिपकर अश्वारूढ़ हो, हाथ में अनावृत तलवार लिए वह इस भवन पर पहुँचा और एक ही वार में युगबाहु का काम तमाम कर दिया। राजा सफल तो हो गया अपनी योजना में, किन्तु इस भयावह पाप से भयभीत हो गया। वह अपने राजभवन में लौटने के स्थान पर घने वन की ओर अपना अश्व बढ़ाता चला गया। चारों ओर घोर अंधकार था। एक विशाल भुजंग पर अश्व का पैर पड़ गया। सर्प ने उछलकर मणिरथ को डस लिया। पापी की जीवन-लीला का पटाक्षेप कुछ ही क्षणों में हो गया। मदनरेखा ने रक्त-रंजित मरणासन्न पति को अपने समक्ष पाकर भी धैर्य और अपना कर्त्तव्य नहीं छोड़ा। उसने अपने पति को उसके अन्तिम क्षणों में अग्रज के प्रति क्रोध और कुभाव न रखने और स्व के प्रति मोह को भी त्यागने की प्रेरणा दी। शान्त और पावन चित्त के साथ प्रभु स्मरण करने और नवकार महामंत्र का जाप करने को कहा। इस सन्मार्ग-निर्देश ने युगबाहु का बड़ा ही हित साधा। उसने ऐसा ही करते हुए देह त्याग दी। युगबाहु के न रह जाने पर मदनरेखा यहाँ सुरक्षित नहीं थी। वह भी भवन त्यागकर चुपचाप वन में चली गयी और सतत रूप में चलती चली गयी। मार्ग में ही उसने एक पुत्र को जन्म दिया। एक झरने पर जाकर उसने शरीर-शुद्धि की ही थी कि प्यास बुझाने को एक उन्मत्त हाथी वहाँ पहुँच गया।

उसने मदनरेखा को सूँड़ में पकड़कर आकाश में बहुत ऊपर उछाल दिया। संयोग से एक विद्याधर आकाशमार्ग में गमन कर रहा था। उसने ऊपर ही उसे थाम लिया और नीचे भूमि पर गिरने से बचा लिया। विद्याधर ने उसकी यह चिन्ता भी दूर कर दी कि उसके पुत्र के साथ क्या घटित हुआ। उसने अवगत किया कि शिशु तो मिथिलाधिप के राजपरिवार में पोषण प्राप्त कर रहा है। राजकुमार की भाँति लालन-पालन हो रहा है उसका। मणिप्रभ विद्याधर ने कहा—देवि, तुम अपने जीवन को सुखमय बनाओ, हमारी रानी बनना स्वीकार कर लो। मदनरेखा ने अपनी मानसिक उद्विग्नता की चर्चा करते हुए प्रथमत: शान्ति लाभ को अनिवार्य माना तो विद्याधर अपने सांसारिक पिता—केवलज्ञानी मणिचूड़ मुनि के पास मदनरेखा को लेकर आया। मुनि जी ने उपदेश दिया। परिणामस्वरूप मणिप्रभ का हृदय परिवर्तन हो गया और उसने मदनरेखा को अपनी बहन बना लिया।

इसी समय एक अन्य देव भी वहाँ साक्षात् हो गया जिसने सर्वप्रथम मदनरेखा को और तत्पश्चात् मुनि को प्रणाम किया। विद्याधर ने आश्चर्य के साथ पूछा तो मुनि मणिचूड़ ने बताया कि यह देव मदनरेखा के इसी भव के पति का जीव है। मदनरेखा की प्रेरणा से ही इसे अपनी मृत्यु के समय आत्मिक शान्ति प्राप्त हुई थी और परिणामत: इसे देवयोनि प्राप्त हुई है। इसीलिए उसने मदनरेखा को पहले प्रणाम किया। उसने इस स्त्री के अपने प्रति उपकार का स्मरण किया है। देव ने मणिरथ की दुर्गति और पुत्र की कुशलता के विषय में भी जानकारी दी। सहसा मदनरेखा को अन्त:प्रेरणा हुई और वह साध्वी होकर संयम और तप के मार्ग का अनुसरण करने लगी। मदनरेखा का वह पुत्र जो मिथिला नरेश पद्मरथ के यहाँ विकास प्राप्त कर रहा था। नमि नाम से सम्बोधित किया जाने लगा था, राजा की मृत्यु पर वह मिथिला का नया राजा हो गया था। मदनरेखा का बड़ा पुत्र चन्द्रयश सुदर्शनपुर राज्य का नरेश था ही। एक बार राजा नमि का श्वेत पट्टगज मदोन्मत्त हो गया और सुदर्शनपुर में घुसकर उत्पात मचाने लगा। राज्य कर्मचारियों ने उसे राजा की गजशाला में रख लिया। राजा नमि को जब ज्ञात हुआ तो उसने राजा चन्द्रयश से अपने हाथी की माँग की। चन्द्रयश के द्वारा माँग ठुकरा दी गयी तो नमि ने उसे युद्ध के लिए ललकारा। चन्द्रयश ने यह चुनौती स्वीकार कर ली। परस्पर नाते से अनभिज्ञ दो बन्धु एक-दूसरे के प्राणों के शत्रु हो गये थे। दोनों राज्यों के मध्य युद्ध अवश्यंभावी हो गया था। दोनों ही सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं।

युद्ध की महाविनाशकारी निश्चितता से माता मदनरेखा का अन्तर उद्वेलित हो उठा। मात्र वही तो इस रहस्य की ज्ञाता थी कि एक-दूसरे के शत्रु बनकर

युद्धातुर दोनों नरेश परस्पर बन्धु हैं, सहोदर हैं। उसने यह युद्ध निरस्त कराने की ठान ली। उसके मौन और निष्क्रिय रहने से तो अनेक निर्दोष जनों को प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। रक्त की नदियाँ प्रवाहित हो जायेंगी। अनेक निरीह बालक अनाथ और स्त्रियाँ वैधव्य से अभिशप्त हो जायेंगी। भाई द्वारा भाई का खून बहाया जायेगा। और इस सब पाप का भार उस पर होगा। साध्वी मदनरेखा ने सारी स्थिति का विवेचन अपनी गुरुआनी के समक्ष किया और परामर्श माँगा। उन्होंने मदनरेखा को दो अन्य साध्वियों के साथ युद्ध-स्थल को जाने का परामर्श दिया और कहा इस व्यापक हिंसा को रोको।

रणभूमि में जाकर माता ने प्रथमत: चन्द्रयश राजा से भेंट की और सारा तथ्य प्रस्तुत कर दिया। उसने कहा कि राजा नमि शत्रु नहीं, तुम्हारा अनुज है। उससे युद्ध न करो। राजा नमि के पास जाकर उसे भी उसने प्रबोधन दिया। अपनी जननी को साध्वी रूप में पाकर नमि तो हर्ष-विभोर हो उठा। राजा चन्द्रयश उसका अग्रज है—यह जानकर सारा वैमनस्य विस्मृत कर वह उसके प्रति आदरभाव से भर उठा। चन्द्रयश स्वयं नमि के शिविर में आ गया था। अनुज नमित हो गया अग्रज के चरणों में और अग्रज ने उसे बाँहों में भरकर ऊपर उठाया और गले से लगा लिया। कई क्षणों तक वे आलिंगनबद्ध रहे। दोनों के नेत्रों से जलप्रवाह होने लगा जिसने उनका मनोमालिन्य धो दिया। युद्ध टला और दोनों राज्यों के मध्य शान्तिपूर्ण मैत्री सम्बन्ध स्थापित हुए। बन्धुत्व का ऐसा मेल देखकर माता मदनरेखा के नैन भी सजल हो उठे थे। उसे प्रसन्नता थी कि एक भयानक स्थिति, अनर्थकारी परिस्थिति टल गयी। मदनरेखा माता की जय-जयकार के साथ सेनाएँ लौट गयीं।

—उत्तराध्ययन, टीका १८

❑ माता भद्रा प्रसंग

वाराणसी नगरी में, जितशत्रु के शासनकाल में चुलनीपिता नाम का एक गाथापति निवास करता था जो एक धर्मनिष्ठ धनाढ्य था। भगवान महावीर की देशना सुनकर उसने श्रावक के बारह व्रतों को अंगीकार कर लिया था। पौषधशाला में वह ब्रह्मचर्यपूर्वक पौषधव्रत का निर्वाह करते हुए आत्मरमण में लीन था कि कोई खड्गधारी देव प्रकट हुआ। देव चुलनीपिता को धमकाने लगा कि यदि उसने व्रत भंग न किया तो उसे भयानक परिणाम भोगने होंगे। उसने कहा कि मैं तेरे ज्येष्ठ पुत्र को यहाँ लाकर तेरे समक्ष ही उसका वध करूँगा। उसकी देह के तीन खण्ड करके उन्हें तेल में तलूँगा। उसका रुधिर-माँस तेरे तन

पर डालूँगा। तू आर्तध्यान करता हुआ अकाल मरण को प्राप्त होगा। श्रमणोपासक चुलनीपिता भी दृढ़ मनस्क था। वह रंचमात्र भी आतंकित न हुआ। वह धर्मस्थ बना रहा। देव ने श्रावक को धर्मच्युत न होते देखा तो अपना कथन दुहराता रहा। तब भी चुलनीपिता को ध्यानलीन पाया तो वह बौखला उठा। देव उसके ज्येष्ठ पुत्र को घर से उठा लाया और पिता के समक्ष ही वह सब कुछ कर दिया, जिसकी वह धमकी दे रहा था। पिता तनिक भी अधीर, चंचल और अस्थिर न हुआ, पौषधव्रत में शान्तिपूर्वक स्थिर बना रहा।

देव को अपना पराभव अस्वीकार्य था। उसने अपने प्रयत्नों को और अधिक सबल बनाने के प्रयोजन से चुलनीपिता के समक्ष उसके अन्य दो पुत्रों की भी यही दुर्दशा कर दी। धन्य है पिता की धर्मनिष्ठता कि उस पर तब भी कोई प्रभाव नहीं हुआ। क्रुद्ध देव ने तब अपना अन्तिम और अति विद्रूप दाब चलाया। उसने डपटकर चुलनीपिता से कहा कि अब भी यदि तूने व्रत-त्याग न किया तो तेरी माता की वही दशा होने वाली है जो तेरे तीन पुत्रों की तू स्वयं ही देख चुका है। देव ने उसे स्मरण भी कराया कि माता भद्रा सार्थवाही तो तेरे लिए देव और गुरु-तुल्य है, परमादरणीया है, तेरे हितार्थ किसी भी दुष्कर कार्य में भी वह पीछे नहीं रहती है। क्या तू अपनी ऐसी महान् माता की यह दुर्दशा कराना चाहता है? क्यों तू उसके रक्त-मज्जा से अपना तन लिप्त कराना चाहता है और मृत्युकामी होकर अकालमरण को प्राप्त करना चाहता है? अब भी समय है माता का हन्ता न बन और व्रत निर्वाह की हठ त्याग दे। चुलनीपिता तब भी अविचलित रहा तो देव ने पुनरुक्ति की। चुलनीपिता को आभास हो गया कि यह अवश्य ही कोई क्रूर अनार्य है, पापाचारी है। यह जो अनर्थकारी बातें करता है—उन्हें कर दिखाता है। कहीं मेरी माता के साथ भी यह वैसा दुष्ट व्यवहार न कर बैठे—यह सोचकर उसने देव को पकड़ लेने की ठानी और क्रोधावेश में वह उसकी ओर बाँहें फैलाकर झपटा ही था कि देव तो अदृश्य हो गया। उसकी बाँहों में पौषधशाला का स्तम्भ आ गया। चुलनीपिता ने तब बड़ा कोलाहल मचाया। सुना तो माता भद्रा भी पौषधशाला में आयी। उसकी जिज्ञासा तुष्ट करने के लिए पुत्र ने सारा वृत्तान्त भी कह सुनाया और कहा कि माते, यदि मैं उसे पकड़ने को दौड़ा न होता तो वह तेरी भी हत्या करके ही दम लेता।

प्रबोधन के स्वर में तब भद्रा ने कहा—वत्स, न तो किसी ने तेरे पुत्रों को मारा है, न ही कोई कष्ट देने को आया है। तेरे पुत्र तो सकुशल घर पर हैं। मिथ्यात्वी देव ने अपनी माया रचकर तुम्हें व्रत-च्युत करना चाहा था। तुम उसे

क्रोधपूर्वक मारने को दौड़े-इससे व्रत भंग हुआ है तुम्हारा। आवश्यक यही हो गया है कि अब तुम प्रायश्चित्त करो। अपने कृत्य की आलोचना करो। अपने गुरु से प्रायश्चित्त का विधान माँगो। अतिचार रूपी मल को हटाओ और व्रत को शुद्ध कर लो। आवश्यक यह भी है कि इस बात का ध्यान रखो कि पुनः कोई दोष न लग पाये।[१] माता का परामर्श पुत्र चुलनीपिता के लिए आदेश-निर्देश ही बन गया जिसका अक्षरशः पालन उसका कर्त्तव्य हो गया। उसने दोषों का शुद्धीकरण किया और आत्मालोचना द्वारा आत्मा को पुनः निखार लिया। धन्य है आदर्श माता भद्रा जिसने पुत्र को अपने प्रेरक उद्‌बोधन से धर्म मार्ग में अविचल कर दिया, परिष्कार लाकर उसे निर्मल कर दिया। यही वह नींव थी जिस पर भव्य धार्मिक साफल्य का प्रासाद खड़ा हो सके। श्रमणोपासक चुलनीपिता ने श्रावकोचित ग्यारह, प्रतिमा का प्रचण्ड तप किया। अन्ततः संलेखनापूर्वक काल धर्म प्राप्त किया और प्रथम देवलोक के सौधर्मावतंसक महाविमान के अरुणप्रभ में चार पल्योपम की स्थिति वाला देव बना। निश्चित यह भी हो गया कि वहाँ से च्यवकर उसका जीव महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जायेगा। इस महान् उपलब्धि के मूल में चुलनीपिता की उस अटलता को स्वीकार करना होगा जो डगमगाहट और सदोषता के पश्चात् माता भद्रा के उद्‌बोध में अस्तित्व आयी थी।

—उपासगदशा सूत्र

❑ रुद्र सोमा प्रसंग

सोमदेव दशपुर-नरेश का राजपुरोहित था जो राज-सम्मानित भी और लोकप्रियता प्राप्त भी था—अपनी विद्वत्ता और पांडित्य के आधार पर। रुद्र सोमा इसकी धर्मपत्नी थी जो जैनमतानुयायी थी। वह जैनाचार में अमित आस्था और श्रद्धा वाली श्राविका थी। इस दम्पति के दो पुत्र थे—आर्यरक्षित और फल्गुरक्षित। पुत्र आर्यरक्षित कालान्तर में बड़ा उद्‌भट विद्वान् हो गया। वह वेद-वेदांगों का निष्णात ज्ञाता हो गया था। पाटलिपुत्र में उसने शास्त्रों और विद्या-कलाओं में प्रवीणता प्राप्त की और जब अध्ययन समाप्ति पर वह दशपुर लौटा तो भव्योत्सव के साथ उसका नगर-प्रवेश हुआ। जब रक्षित अपनी माता रुद्र सोमा की आशिष लेने को पहुँचा तो उस समय वह सामायिक में थी और आत्म-चिन्तन में लगी थी। मातृ चरणों में लिपट जाने को उत्सुक पुत्र माता की सामायिक स्थिति के कारण ऐसा न कर सका। उसे दूर से भावमय चरण वन्दना पर ही सन्तुष्ट हो

---

१. उपासकदशांग सूत्र

जाना पड़ा। दशपुर के नरेश, राज्याधिकारी, प्रजाजन ने जिस आत्मीयता के साथ स्वागत किया था; रक्षित को आशा थी कि उसकी जननी भी उससे अधिक ही स्वागत करेगी। उसके साथ वात्सल्य भाव जो अतिरिक्त रूप में जुड़ा होगा। किन्तु रक्षित की इस आशा को धूमिलता ने आवृत कर लिया। माँ तो एक स्नेहसिक्त दृष्टि अपने पुत्र पर डाल कर ही रह गयी और स्वाध्याय में प्रवृत्त हो गयी। मौन-शान्त भाव से रक्षित जननी के समक्ष बैठा, विनय भाव में निमग्न था। भीतर से वह बड़ा उद्विग्न था। आशंका थी कि माता कहीं उससे रुष्ट न हो। इसके समानान्तर यह भाव भी रह-रहकर घनीभूत हो जाता था कि माँ का हृदय बड़ा विशाल होता है। वह अपनी संतति पर कभी अप्रसन्न हो ही नहीं सकती। नित्यनियम की धर्माराधना के पश्चात् तनिक सहज होती हुई जननी रुद्र सोमा अपने पुत्र रक्षित की ओर उन्मुख हुई। उसकी वात्सल्य वर्षी दृष्टि से उत्साहित हो पुत्र माता की ओर अग्रसर हुआ और माता के चरणों में लुढ़क-सा गया। माता का स्नेह कोमल कर उसके मस्तक को सहलाने लगा। उसके मन का अपरिमित हर्ष अविरल अश्रुधारा बनकर उसके करुणाशील नयनों से प्रवाहित होने लगा। माता-पुत्र ने अपने-अपने मौन में ही मानों परस्पर सम्भाषणलीन रहे। अनेक ही बातें सुनी जा रही थीं। तो अनुसुनी बातें समझी जा रही थीं।

यह सब तो था, किन्तु माता के व्यवहार में जो एकरूक्षता छिपी थी आर्यरक्षित की तलस्पर्शी दृष्टि से वह गुह्य नहीं रह सकी। अत्यन्त विनय के साथ उसने माता से प्रश्न कर ही लिया—माते, मैं पाटलिपुत्र से उच्च शिक्षा ग्रहण करके आया हूँ। सभी को मेरी उपलब्धियों पर गर्व का अनुभव हो रहा है। क्या तुम्हें कोई प्रसन्नता नहीं हुई?

माता ने भी अपने मन को खोलकर रख देने के पूर्व एक भूमिका रखी। बोली—वत्स, जगत् में कौन ऐसी जननी है जो अपने पुत्र के यश और साफल्य पर मुदित न हो। जननी की सबसे बड़ी कामना यही तो होती है कि उसका पुत्र यशार्जन करे, कीर्ति सम्पन्न हो, देश-जाति का वह गौरव बने। तुमने जिस स्थिति को भाँपा है—उसमें भी कुछ वास्तविकता है अवश्य। इतना कहकर माता रुद्र सोमा किंचित् मौन रह गयी और जैसे अपने मनोभावों को सुसंकलित करती हुई वह पुनः मुखर हो उठी—पुत्र, ध्यान से सुनो। तुमने शास्त्रों का ज्ञान, विद्या-कलाओं की जो सांसारिक शिक्षा ग्रहण की है, वह तो अपना और अपने स्वजनों का भरण-पोषण करने में मनुष्य को सक्षम कर सकती है; बस—इससे अधिक उसका कोई मोल नहीं। मनुष्य को इस जागतिक स्थिति से ऊपर भी उठना होता

है। अध्यात्म उसमें सहायक होता है। वही मनुष्य-जीवन को सफल और सार्थक बना पाता है। बेटे, अन्यथा न लेना इसे, पर मुझे यथार्थ प्रसन्नता तो तब होती जब तुम दृष्टिवाद का अध्ययन करके आते। मेरी यह चिरकामना रही थी। अब भी यही मेरी अभिलाषा है कि मेरा पुत्र अध्यात्म विद्या का सुविज्ञ बने। वह स्वयं भी अध्यात्म मार्ग का पथिक बने और अन्य जनों को भी इसकी प्रेरणा दे। इसी में मानव जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति की सम्भावना निहित रहती है।

जननी के कथन का औचित्य और सार्थकता पुत्र हृदयंगम करता चला जा रहा था। सोचने लगा—माँ का विश्लेषण कितना सटीक है। जो असार है उसे मैंने चूडान्त तक प्राप्त करने का प्रयत्न किया। जो प्राप्त करने योग्य है उसे मेरी उपेक्षा ही मिलती रही है। वाणी में असीम तत्परता लाते हुए वह सहसा अन्तः प्रेरणा से बोल पड़ा—ऐसा ही होगा माँ, मैं ऐसा ही करूँगा। आशीर्वाद दो कि मुझे सफलता मिले। माँ, मुझे दृष्टिवाद की शिक्षा कहाँ मिल सकती है? तनिक मेरा मार्गदर्शन करो।

माता के मार्गदर्शन के अनुसार आगामी प्रभात बेला में ही आर्यरक्षित माता को नमन कर शिक्षार्जन हेतु आचार्य तोषलीपुत्र की सेवा में जा पहुँचा। वन्दन-नमन, सुख-साता पृच्छा के उपरान्त आर्यरक्षित ने अपनी अभिलाषा प्रकट कर दी। आचार्यश्री ने इस इच्छा पर प्रसन्नता प्रकट की, किन्तु इसके लिए आवश्यक बताया कि ऐसे शिक्षारम्भ के पूर्व तुम्हें निर्ग्रंथ श्रामण्य दीक्षा ग्रहण करनी होगी। दृष्टिवाद के अध्ययन हेतु आर्यरक्षित ने तत्काल दीक्षा ग्रहण कर ली। दत्तचित्तता के साथ अध्ययन किया। उसने एकादशांगी का सार्द्धनवपूर्व का गहन ज्ञान भी प्राप्त किया। अनुज जब अग्रज को घर लिवा ले जाने को आया तो वह स्वयं भी प्रव्रजित हो गया। यथा समय आचार्य तोषलीपुत्र ने आर्यरक्षित को गणाचार्य नियुक्त कर दिया। कालान्तर में आचार्य आर्यरक्षित का शुभागमन दशपुर में हुआ। माता रुद्र सोमा, पिता राजपुरोहित सोमदेव और अनेक मुमुक्षुजनों ने आचार्य आर्यरक्षित से अणगार-धर्म की दीक्षा लेकर पंचमहाव्रत ग्रहण किये। जैन परम्परा में सोमदेव परिवार की कीर्ति शाश्वत रूप में व्याप्त है। सांसारिक विद्याओं का निष्णात पुत्र रुद्र सोमा माता से सद्प्रेरणा पाकर आध्यात्मिक उच्चताओं का स्वामी हो गया। धन्य हैं ऐसी माताएँ और धन्य-धन्य हैं उनकी पुत्र-कल्याणकारी कामनाएँ और चेष्टाएँ।

—आवश्यकमलयगिरि
—प्रभावक चरित

●●

जैनधर्म : तप और नारी

जैनधर्म में तप का एक महिमामय स्थान है और तप में भी नारी की प्रतिभागिता की बड़ी महत्ता है। त्याग और तप-प्रधान संस्कृतियों में जैन संस्कृति का अग्रगण्य स्थान सदा से ही रहा है। पश्चिमी दर्शन ही 'खाओ-पीओ और मौज करो' का जहाँ हो गया और स्वार्थ परमोच्च प्रवृत्ति है, वहीं भारतीय दर्शन का तत्त्व 'जीओ और जीनो दो' का सन्देश देता है और 'परमार्थ' का प्रेरक है। ज्ञान और क्रिया का जो अद्‌भुत योग जैनदर्शन का मूल तत्त्व है, उसने कथनी और करनी की अभेद स्थिति का संगठन कर दिया है। इस भाव-प्रधान धर्म में कर्मक्षय को आत्म-कल्याण का मूल माना गया है। आन्तरिक भाव-शुद्धि को कर्म-बन्धनों से मुक्ति का स्रोत मान गया है—

"मनः एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः।"

जैनधर्म का सन्देश है कि प्रत्येक मनुष्य का चरम लक्ष्य है—जन्म-जन्मान्तर से छुटकारा पाना, जन्म-मरण के अन्तरहित चक्र से, भव-भ्रमण से मुक्त हो जाना। इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जैनधर्म और दर्शन उचित मार्ग का निर्देश करता है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र—इस रत्नत्रयी के साथ सम्यक् तप का योग करके अपनाना, अर्थात्—दान, शील, तप, भावना को अपनाना जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है।[१] साधना रूप में तप को अपनाने पर सर्वत्र बल दिया गया है। तप कर्मक्षय और आत्म-शुद्धीकरण का अनुपम साधन है। कहा गया है कि तप की अग्नि में आत्मारूपी स्वर्ण में मिली सारी खोट नष्ट हो जाती है और शुद्ध होकर आत्मा खरे कुन्दन-सी जगमगा उठती है। कर्ममल को नष्ट करने के लिए तप ही सर्वशक्तिमान साधन माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में संचित भगवान की वाणी में एक कथन यह भी आया है कि कोटि-कोटि भवों में संचित सघन पापकर्मों को तपाराधना द्वारा

---

१. भनत वीर भगवान, भाषा सूत्र मझार।
चारित्र, दर्शन, ज्ञान, तप-मुक्ति के पथ चार॥

निर्जरित किया जाता है।[१] एक छोटी-सी चिनगारी घास के विशाल ढेर को भस्म कर देने की अद्‌भुत शक्ति रखती है, वैसे ही तप में कर्म-नाश की विपुल शक्ति निहित रहती है। निशीथचूर्णिका में तप का परिचय देते हुए भी उसकी कर्मक्षयकारिणी क्षमता को महत्त्व दिया गया है। कहा गया है कि तप वह क्रिया, वह साधना, वह प्रवृत्ति है जिससे पापकर्म तप्त होकर जल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।[२] जन्म से ही भगवान महावीर स्वामी तो तीन ज्ञानों के धारक थे। दीक्षोपरान्त कठोर तप में वे प्रवृत्त हुए और तप के सुख और परिणामों का उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया। जनहितार्थ अपने अनुभवों को उन्होंने प्रसारित भी किया और आगमीय ग्रन्थों में उनकी वाणी के रूप में तप का माहात्म्य प्रतिपादित भी हुआ है।

तप इहलौकिक और पारलौकिक-दोनों स्तर पर अपने सुपरिणाम देता है। शरीर शुद्धि और स्वास्थ्य का कार्य भी तप से सम्पन्न होता है और तप से आत्मा की शुद्धि तो होती ही है। कर्मनिर्जरा इसके लिए अत्यावश्यक है और वह तप द्वारा ही सम्भव है। लू की तप्त हवाओं में वृक्ष पर लगे आम्रफल पककर मधुर रसाल हो जाते हैं—ऐसा ही प्रभाव आत्मा के लिए तप का रहता है। आत्म-दमन की साधना में संयम के साथ-साथ तप की प्रमुखता भी स्वीकार की गयी है।[३] संयम से वर्तमान में अशुभ कर्मों से ही बचा जा सकता है जिसके फल भविष्य में मिलेंगे, किन्तु अब तक के जन्म-जन्मों के जो अशुभ कर्म हैं उनका क्षय तपाराधना से ही सम्भव है। कर्ममल-मुक्त शुद्ध अन्तःकरण के लिए संयम और तप दोनों की सार्थ भूमिका रहती है।

भारतीय अन्यान्य दर्शनों में भी तप का माहात्म्य मिलता है। गीता में श्रीकृष्ण ने अपने उपदेशों में तप के मनसा, वाचा, कर्मणा—तीनों रूपों की व्याख्या की है। मन से सदा प्रसन्न रहना, शान्त-मौन रहकर मन को वश में रखना, अन्तः करण को पावन रखना—मानसिक तप कहा गया है। दूसरों को उद्विग्न नहीं करना चाहिए। सत्य, प्रियकर और हितकर वचन बोलना जो शान्तिकारक हों—यह भी आवश्यक है। साथ ही सद्‌ग्रन्थों का स्वाध्याय भी करना चाहिए। यह तप का वाचिन रूप कहा गया है। देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं ज्ञानी जनों का

---

१. भवकोडीय संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई।

२. तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपः।

३. वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य। —उत्तराध्ययन सूत्र

आदर-सत्कार करना, उनकी सेवा करना, काया और आचरण की पावनता का ध्यान रखना, किसी भी जीव को कष्ट न देना कर्मसम्मत या कायिक तप है।

रामायण में वाल्मीकि जी ने तप को परम कल्याणकारी माना है। ऋग्वेद में भी आता है कि—

—'हे ब्रह्मलोक के अधिपति, तेरा पवित्र ज्ञान-सामर्थ्य इतस्ततः सर्वत्र प्रसारित है। मेरे शरीर में समस्त अवयवों में तुम उस ज्ञान-सामर्थ्य के साथ मुझे प्राप्त हुए हो, परन्तु जिसने अपने शरीर को तपश्चरण की साधना से तपाया नहीं, वह उस ज्ञान-सामर्थ्य को प्राप्त नहीं कर पाता। मैत्राणी आरण्यक में कहा गया है—"तप के द्वारा ज्ञान (सत्व) प्राप्त होता है, ज्ञान से मन वश में होता है, इससे आत्मा की प्राप्ति होती है तथा आत्मा की प्राप्ति से संसार से छुटकारा मिल जाता है।"[१] मनुस्मृति में तो तप को सर्वसाफल्यदायक माना गया है—

यद्दुस्तर यद्दुरापं यद्दुर्गमञ्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम्॥

अर्थात्—जो दुस्तर है, दुष्प्राप्य है, दुर्गम और दुष्कर है; वह सब तप के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि जैसे शकुनी पक्षी पंख फड़फड़ाकर तन की सारी धूल को झाड़ देता है वैसे ही जितेन्द्रिय अहिंसक अनशनादिक तपों की आराधना द्वारा आत्मा पर जमी कर्म धूलि को हटा देता है।

ध्यातव्य है कि जैनधर्म में मात्र काया कष्ट को सम्पूर्ण तप का स्वरूप नहीं माना गया है। तप के साथ संयम का योग इसी कारण परिपूर्ण स्वरूप के लिए अनिवार्य माना गया है। काया क्लेश की सार्थकता इसी में है कि उससे इन्द्रिय-निग्रह किया जाय और संयम को प्रबल बनाया जाय। पुरानी धूल झाड़ते जायें और नये सिरे से जम रही धूल को न रोकें तो सम्पूर्ण शुद्धीकरण कैसे सम्भव होगा। यह भी आवश्यक है कि आत्मा का विकास किया जाय, जो ज्ञान से सम्भव है। अतः तप की साधना के साथ ज्ञान और संयम का योग है तो तप में परिपूर्णता आ जाती है।

उत्तराध्ययन में तप के दो भेद—(१) बाह्य तप, और (२) आभ्यन्तरिक तप बताये गये हैं और प्रत्येक भेद के ६-६ उपभेद दिये गये हैं। बाह्य तप के उपभेद हैं—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचारी, रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता।

---

१. तपसा प्राप्यते सत्त्वं, सत्वात् सम्प्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्तेवात्मा ह्यात्मापत्या निवर्तते॥

इसी प्रकार आभ्यन्तरिक तप के उपभेद हैं—प्रायश्चित्, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (ममता का परित्याग)।

यों पुरुष और स्त्री दोनों ही धर्माराधना में समान रूप से रत रहते हैं। धर्म-रथ के ये दोनों दो पहिये हैं। तप के क्षेत्र में भी नर-नारी दोनों ही सक्रिय रहते आये हैं; तथापि इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री की भूमिका अनेक अंशों में अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। पुरुष वर्ग न कभी स्त्री वर्ग से आगे रहा है, न ही रह सकता है। नारी को इस पक्ष में प्रकृति दत्त विशेषताएँ भी प्राप्त हैं जो दैहिक भी हैं और मानसिक भी। उसकी शारीरिक संरचना भी तप में सहायक होती है और उसके भावनात्मक गुण भी। नारी अपेक्षाकृत अधिक कष्ट-सहिष्णु भी होती है, क्षमाशील, धैर्यवती, उदात्त और विनयशील भी अधिक होती है। उसका त्याग-उत्सर्ग अद्वितीय कोटि का रहता है। यों त्याग भी तप का एक अभिन्न अंग है। सर्वानुभूत तथ्य है कि भारतीय नारी का त्याग तो सर्वोपरि स्थान रखता है। कन्या जिस पितृगृह को जीवन के आरम्भिक वर्षों में अपना सुखद शरण-स्थल मानती है, जहाँ रहकर पलती-बढ़ती और भले-बुरे का ज्ञान प्राप्त करती है, जगत् को समझाने की क्षमता अर्जित है, उसी गृह और परिवार को विवाहोपरान्त एक ही झटके के साथ त्यागकर पतिगृह के दायित्व सँभालने को चली आती है। उस परिवार की माया-ममता का लेश मात्र भी उसके मानस में कहीं प्रच्छन्न रूप में भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। इस नये परिवार के एक-एक सदस्य को सुखी रखने को वह अपने बड़े से बड़े सुख का उत्सर्ग करती है। अपने विश्राम, अपनी निद्रा, अपनी रुचि-अभिरुचि, अपनी भूख-प्यास का ध्यान यहाँ तक कि अपनी गौरव-गरिमा का परित्याग करने को भी वह सदा तत्पर रहती है। उसका अपना नाम-पहचान तो खो ही जाता है। वह किसी की बहू-किसी की पत्नी, किसी की माता के सन्दर्भ से ही जानी जाती है। इससे बढ़कर त्याग भावना और हो ही क्या सकती है। नारी का त्याग इतना महान् है कि उसके समक्ष अन्य किसी का कोई भी त्याग सर्वथा हत-तेज और निष्प्रभ ही लगता है। ऐसी त्याग भावना के साथ जब नारी तपार्थ अग्रसर हो तो उसका तप ओज-तेजमय क्यों न हो। तप में फिर भला वह पुरुषों से पीछे कैसे रह सकती है जिनके लिए ही, जिनके लाभार्थ ही वह त्याग करती आई हो। इस उच्चतर तप की अधिकारिणी नारी के समक्ष लोक-परलोक के सभी सुख, सभी साफल्य नतमस्तक हो, आदेश की प्रतीक्षा करते रहते हैं। यह उसका त्याग ही है जो तप के माध्यम से उसे ऐसी शक्तिमती बना देता है। त्याग वह पूर्वावस्था है जो परिपक्व होकर तपाकार ग्रहण

करता है। इस कथन में भी अत्युक्ति नहीं कि त्याग स्वयं तप का ही एक रूप है और सन्नारियाँ इन दोनों पर समान रूप से अपना स्वत्व जमाए रखती हैं। वे इस मार्ग पर पुरुषों से आगे ही आगे संचरण करती रहती हैं।

अनशन अथवा उपवास की अद्‌भुत क्षमता नारी में होती है। वह कायिक रूप से चाहे कोमल और अशक्त ही क्यों न हो किन्तु मानसिक दृढ़ता की स्वामिनी नारी पुरुष से अधिक गौरव अर्जित करती है। बेला, तेला, अठाई, मासखमण आदि में स्त्रियों की रुचि और उत्साह अद्‌भुत रूप में रहता है। कदाचित् ये विशेषताएँ ही उनकी क्षमता की अभिवृद्धि भी हो जाती हैं। ऊणोदरी, अर्थात् भूख की अपेक्षा कम मात्रा में आहार ग्रहण करना ऐसा तप है जिसमें स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। पुरुषों के लिए यह अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है। आरम्भ में अधिकांशतः राजकुमारियाँ-रानियाँ भी धर्माचार में अधिक रुचि लेती रहीं। अपार-अपार वैभव-ऐश्वर्य और साधन-सुविधाओं की सुलभता होते हुए भी उनका सेवन-उपभोग न कर तपलीन होना उनकी प्रबल त्याग-वृत्ति का परिचायक है।

नारी वर्ग की तप-साधना की कथाएँ पढ़-सुनकर रोमांचित हो जाना स्वाभाविक है। उन प्रेरक प्रसंगों से रोम-रोम में उत्साह और प्रेरणा भर जाती है। कोमलांगी नारियों की दृढ़ता और सबलता का स्वरूप स्थापित हो जाता है। अन्तकृद्‌दशासूत्र में राजरानियों के विषय में कहा गया है कि इन्होंने संयम-जीवनपर्यन्त बेला, तेला, अर्द्ध-मासखमण, मासखमण तक की तपस्याएँ बड़े उत्साह के साथ कीं। इस सूत्र के अन्तिम वर्ग में काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, महासेनकृष्णा, पितृसेनकृष्णा राजा श्रेणिक की इन दस रानियों की उत्तम तप-साधना के विवरण मिलते हैं। इन रानियों ने स्वेच्छापूर्वक, उपलब्ध सुखों का परित्याग कर संयम का दुष्कर मार्ग अपनाया और घोर तप किया था। उनकी तपश्चर्या के संगी के रूप में समता भाव के साथ पंचेन्द्रिय एवं मानस का दमन भी बना रहा और इस प्रकार उनके तप का स्वरूप परिपूर्ण तप का रहा। इन भव्यात्माओं को तप-साधना के साफल्य स्वरूप मोक्ष-लाभ हुआ। नारी-तपस्या का इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण रहा है—इसमें कोई सन्देह नहीं। नारी तापस रूप में भगवान महावीर के शासनकाल में भी गौरवान्वित होती रही, उससे पूर्व भी और उसके पश्चात् वर्तमान तक भी नारी इसी गौरव से विभूषित है।

जैनागम-सम्मत तप का उद्देश्य है कर्मों की निर्जरा, आत्मा की शुद्धि। इससे इतर प्रयोजन से किया गया तप फलदायक नहीं होता। ऐसे इतर प्रयोजन हो सकते हैं—सांसारिक सुख-प्राप्ति, परलोक ऋद्धि-प्राप्ति, यश-कीर्ति का लोभ, दीर्घायु होने की कामना, शीघ्र मरण की कामना आदि-आदि। ऐसे किसी उद्देश्य से किया गया तप कर्मनिर्जरा तो कर नहीं पाता, इसके विपरीत नये अशुभ कर्मों का बंध कर लेता है। ऐसा तप आत्मा पर पूर्वकृत कर्मों की चढ़ी रज को नहीं झाड़ सकता, आत्मा का शुद्धीकरण उससे सम्भव नहीं होता। न तो ऐसा तप आत्मा का विकास कर पाता है और न ही मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर कर पाता है। यह अज्ञान तप तो भव संवरण को बढ़ाने वाला जन्म-मरण के चक्र को गतिशील रखने वाला ही सिद्ध होगा। नारियों ने तप के इस यथार्थ रूप को समझा और स्वीकारा है। वैदिक धर्म में तप की भूमिका जैनागमों से भिन्न प्रकार की मिलती है। वहाँ तप का फल स्वर्ग-लाभ और लौकिक सुख-प्राप्ति तक ही मर्यादित होता है। जैनेतर धर्मों में तप के ढंग ऐसे हैं जिनका साध्य आत्मोत्थान नहीं रहता। उनमें दिनभर निरन्न और निर्जल रहना—रात्रि में चन्द्र-दर्शन करके ही आहार ग्रहण करने जैसी व्यवस्थाएँ भी हैं। कहीं निराहार रहने की सीमा यही है कि अन्न ग्रहण न किया जाये—फल, दूध आदि की मनाही नहीं रहती। इसके अतिरिक्त तप का मानसिक स्वरूप तो सर्वथा अदृश्य ही रहता है। समताभाव, संयम, इन्द्रिय दमन, मन पर नियंत्रणादि का विधान उनमें नहीं रहता। वह तो इस प्रकार नाम मात्र का तप रह जाता है, मात्र बाह्याचार ही रह जाता है, यथा ग्रीष्म-शीत का कायिक कष्ट झेलना, पंचाग्नि तप लेना, वृक्ष पर उलटे लटके रहना आदि-आदि। निरीह जनता को इन विधियों से चमत्कृत कर भेंट-चढ़ावा भी प्राप्त किया जाता है और ख्यातनाम होने की लालसा भी इनके पीछे रहती है। जैनधर्म में तप का बाह्य प्रदर्शन नहीं होता। जैन नारियाँ ऐसे आडम्बर न तो करती हैं—तप के नाम पर और न ही इनका औचित्य स्वीकार करती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि तप का जो आदर्श रूप है उसका निर्वाह आज भी हो और भविष्य में भी होता रहे। तप नाम मात्र का न रह जाये और बाह्य आडम्बर इसे घेर न लें। नारी की दृढ़ इच्छा-शक्ति ही इस दृष्टि से सम्बल सिद्ध होगी। परम्परागत तपस्वरूप के प्रति आस्था और श्रद्धा बनी रहे—यह सदा ही अपेक्षित समझा जाना चाहिए। तब तो नारी का गौरव तप से और श्रद्धालु नारी से तप का गौरव ही बढ़ेगा।

●●

शान्तिप्रिय नारी : शान्ति-विधायिका भी

विश्व-नारी ही कोमल तन और सुन्दर मन सदा से रही है—भारतीय नारी इस दिशा में अपेक्षाकृत अधिक ही आगे बढ़ी हुई है। नारी का मन अहिंसा और शान्ति जैसे भूषणों से विभूषित और अलंकृत है। वह तो मानो शान्तिदूत बनकर हिंसा और अशान्तिग्रस्त जगत् में शान्ति स्थापनार्थ ही आयी हो—ऐसा प्रतीत होता है। वह विग्रह-विरुद्ध शान्तिप्रिय भी है और हिंसा टालकर शान्ति व्याप्त करने जैसे कर्त्तव्यों को प्राथमिकता भी देती है। और इन्हें गम्भीरता से भी लेती है।

मानव '**अशरफुलमखलूकात**' अर्थात् जगत् का सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने का गौरव रखता है। इस सर्वश्रेष्ठत्व का प्रमाण है कि धर्माराधना और साधना द्वारा वह मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार रखता है जो अन्य किसी प्राणी को प्राप्त नहीं। मनुष्य ही संवेदनशील प्राणी होता है और मानवोचित भावनाओं एवं व्यवहारों का उसका दायित्व भी कम गम्भीर नहीं होता। उससे आशा की जाती है कि वह अन्य प्राणियों के साथ सहानुभूति, सहृदयता, मैत्रीभाव, ममत्व, करुणा, क्षमाशीलता और आत्मीयता रखे। ये गुण मनुष्य मात्र के लिए अपेक्षित होते हैं सही, किन्तु व्यावहारिक अनुभव भी बताता है और इतिहास भी साक्षी है कि इन गुणों की गहनता, वास्तविकता और तीव्रता पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक रहती है। इन गुणों का व्यवहार समाज और देश में असमानता, घृणा, भेदभाव आदि विकारों को दूर करने और हिंसा व विग्रह को लुप्त करने एवं शान्ति की स्थापना करने में सफल रह सकता है। अस्तु, नारी को शान्ति-विधायक कहने में कोई संकोच नहीं हो सकता।

हम इन गुणों से जितने ही दूर होते जायेंगे—हमारा समाज उतना ही अशान्ति के शाप से ग्रस्त होता जायेगा। आज की स्थिति इसी प्रकार की है। चहुँओर हिंसा का वीभत्स ताण्डव दृष्टिगत होता है। सर्वत्र रक्तपात है, लूटपाट है, अत्याचार-अन्याय है, अपराध और आपाधापी है, सत्य, दुर्बल और असत्य शक्तिमान होता

जा रहा है। ऐसे घोर अशान्तिकारक वातावरण में उद्धार की एकमेव आशा नारी की भूमिका से ही है। उसी के किये कुछ उद्धार सम्भव हैं। देश में प्रान्त, भाषा, धर्म, वर्ग, जातिवाद आदि का बोलबाला आन्तरिक अशान्ति व्याप्त कर रहे हैं तो विश्वशक्तियों ने आत्म-शास्त्रों के अपार भण्डारों से अन्य देशों को आन्तरिक रखने की ठान रखी है जिससे विश्वशान्ति का उपक्रम करने की अपेक्षा और आशा है उसी को हतोत्साहित किया जा रहा है। उसकी शक्ति के अवमूल्यन द्वारा उसकी अवमानना की जा रही है। अपने हाथों इस प्रकार अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने की यह प्रवृत्ति विश्वशान्ति की स्थापना में खेदजनक बाधा बन रही है। नारी-निन्दा की जा रही है। कोई उसे आँचल में दूध और आँखों में पानी वाली बताकर उसे अबला बताता है। किस विशेष सन्दर्भ में यह कथन कवि द्वारा किया गया है—उसे उपेक्षित रखते हुए जन सामान्य तो उसे अपने स्वार्थ के पक्ष में, अपनी मान्यता के अनुमोदन के रूप में भुना रहा है। ऐसे जन यह भूल जाते हैं कि उसी कवि मैथिलीशरण गुप्त ने नारी के लिए यह भी कहा है—

''एक नहीं दो-दो मात्राएँ, 'नर' से तो भारी है नारी।''

इस कथन का प्रचलन बहुत कम और पूर्व पंक्तियों का सर्वविदित होना नारी के लिए जनधारणा का अच्छा न होना प्रकट करता है, एक दुराग्रह को प्रकट करता है। कहा जाता है कि जो नारी आत्म-रक्षा नहीं कर पाती—इसके लिए भी पुरुषों पर निर्भर रहती है वह भला शान्ति-रक्षा क्या कर पायेगी। सूक्तियाँ बन गयी हैं कि हर संघर्ष के मूल में कोई न कोई नारी होती है। संघर्ष और विवाद का कारण जर, जमीन और जोरू में से कोई अवश्य होता है। राम-रावण युद्ध के पीछे सीता की और महाभारत के पीछे द्रौपदी की भूमिका को उत्तरदायी ठहराया जाता है। इन मिथ्या धारणाओं में जनसामान्य का सहज विश्वास भी है। यह परिस्थिति निश्चित रूप से नारी की शान्ति-विधायक भूमिका में बाधक बनती है। तथापि नारी इनकी उपेक्षा कर जिस साहस के साथ शान्ति-स्थापना के अनिवार्य कार्य में जुटी हुई है—उसके लिए निश्चित रूप से वह श्लाघा की पात्र है। उसे मूर्तिमती दुर्बलता कहकर पुरुष अपनी ही दुर्बलता का बोध कराता है और अपने ही स्वार्थ का हनन भी करता है। व्रटस्थ बुद्धि से सोचें तो नारी के विरुद्ध इन धारणाओं में कोई सार नहीं है। यह पुरुष के मिथ्या अहं की प्रतिक्रिया हो सकती है, जिसको नकारते हुए नारी को अपना अवदान समाज को निरन्तर देते रहना चाहिए। नारी तो अपार सामर्थ्य की मंगलमूर्ति रही है और आगे भी बनी ही रहेगी। वह शान्तिप्रिय, विग्रह-विमुखी और शान्ति-प्रसारिका ही रही है।

नाटककार महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' की भावना रही है कि "पुरुष कठोरता का उदाहरण और नारी कोमलता का विश्लेषण रही है। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं।" यही नारी का सत्य-सत्य मूल्यांकन है। ऐसी करुणामयी नारी ने सदा ही पुरुष के क्रूरत्व के उत्तर में अपनी क्षमाशीलता और सहिष्णुता का परिचय ही दिया है। इसके सुपरिणाम में संघर्ष का स्थगन, युद्धों का टलन और विवादों का समापन हुआ है। नारी द्वारा किये गये सन्मार्ग-प्रदर्शन का पुरुषों के लिए सदा मोल रहा है। 'कान्ता सम्मत उपदेश' प्रतियुग में अनुकूल रूप में प्रभावशाली रहे हैं। अपनी कोमल भावनाओं से स्त्री-पुरुष की हिंसा और कठोरता को तिरोहित करती रही है। नारी की सहनशीलता से यह प्रभाव और भी प्रबल हो जाता है।

लोकापवाद सुनकर श्रीराम ने जानकी को पुनर्वनवास की आज्ञा दे दी थी। जानकी के लिए यह आदेश कितना संकट और कष्टपूर्ण था—इसका अनुमान दुर्गम नहीं। उन्हें अकेले ही इन कष्टों का सामना करना था। वे असन्नप्रसवा भी थीं। धन्य है उनकी कष्ट-सहिष्णुता जिसने राम के विरुद्ध कोई जन-विरोध न उभरने दिया। वे अपने पर हो रहे अत्याचार का वास्ता देकर एक जन-आन्दोलन भड़काना चाहतीं तो इन परिस्थितियों में यह असम्भव भी न था। किन्तु इससे तो संघर्ष का द्वार ही खुलता। जानकी ने इसे न चुनकर अपनी शान्तिप्रियता और शान्ति—विधायक रूप ही प्रतिष्ठित किया था। उन्हें तो विश्वास था कि उनके पतिदेव स्वयं भी वियोगाग्नि में दग्ध होते रहेंगे और उनकी कर्त्तव्य-विमुखता से कहीं जनता को कष्ट न हो—यह आशंका भी थी। कदाचित् इसी कारण जानकी श्रीराम को सन्देश भेजती हैं कि हे स्वामी, मेरे वियोगजन्य खेद का परित्याग कर धैर्यपूर्वक प्रजा का सम्यक् रूप में पालन करते रहना। अपने कष्ट की अपेक्षा प्रजा के कष्ट को वे कितनी महत्ता देती हैं। ऐसी नारी अशान्ति और विग्रह की कारण कभी हो ही नहीं सकती। कालान्तर में लव-कुश के योग्य आयु प्राप्त हो जाने पर उन्होंने श्रीराम की कथा जानकर राम के इस व्यवहार को अन्यायपूर्ण माना और उनके विरोध हेतु तत्पर हो जाते हैं। इस व्यवहार में जननी जानकी अपने पुत्रों की अनीति मानने लगती हैं। राम-विरोध से शीलत्व-सम्पन्न जानकी दुःखी हो उठती हैं और बालकों को बोध देकर संघर्ष को टालने का प्रयत्न करती हैं। उनका संतप्त मन तभी तुष्ट होता है, जब पुत्र पिता श्रीराम से अपने अनौचित्यपूर्ण व्यवहार के लिए क्षमा-याचना कर लेते हैं। शान्ति-साधिका नारियाँ स्व-कष्ट की चिन्ता न कर अपने साध्य के प्रति सदा समर्पित रहती हैं।

युद्ध को टालकर शान्ति स्थापित करने के सार्थक प्रयत्नों का आगमों में भी श्लाघायुक्त विवरण स्थान-स्थान पर मिलता है। इस सन्दर्भ में साध्वी मदनरेखा और महासती पद्मावती की भूमिकाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय रहीं (जिनका विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में अन्यत्र किया जा चुका है)। साध्वी मदनरेखा के दो पुत्र चन्द्रयश और नमिराज अपने-अपने राज्य के राजा थे। माता मदनरेखा को छोड़कर अन्य कोई भी इस रहस्य का ज्ञाता न था कि ये दोनों परस्पर सहोदर भ्राता हैं। एक हाथी के कारण उत्पन्न विवाद इतना तूल पकड़ गया कि दोनों में भयंकर युद्ध ठन गया। भारी मार-काट, भाई का भाई के प्राणों का ग्राहक हो जाना, निरीह जनों का व्यर्थ रक्तपात, महाविनाश की प्रक्रिया के रूप में युद्ध की विभीषिका के अनुमान से ही माता साध्वी मदनरेखा द्रवित हो उठी। करुणार्द्र हृदय के साथ वह युद्ध-स्थल पर पहुँचकर उनके पारस्परिक भ्रातृत्व का रहस्य उद्घाटित करती है और दोनों पुत्रों को प्रबोधन देती है। परिणामत: युद्ध स्थगित हो जाता है और शान्ति तथा स्नेह-सौहर्द्र का नवीन वातावरण निर्मित हो जाता है। वैमनस्य का स्थान मैत्री द्वारा ले लिया जाता है और शान्ति के जल से प्रतिशोधाग्नि का शमन हो जाता है।

महासती पद्मावती की कथा का भी संक्षेप में पुनरावलोकन किया जा सकता है। चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन की रानी थी पद्मावती। एक घटना चक्र के अधीन उसका पुत्र करकण्डू चाण्डाल-पुत्र के रूप में जीवनयापन करता था जिसके भाग्योदय ने उसे कंचनपुर का नरेश बना दिया था। ये दोनों नृपति अपने पिता-पुत्र के सम्बन्ध से अनभिज्ञ थे। एक ब्राह्मण को ग्राम-दान का प्रश्न पारस्परिक घोर वैमनस्य का कारण हो गया और अपने पूर्ण वीभत्स रूप में युद्ध दुर्निवार्य हो उठा। दोनों नरेश अपने-अपने सैन्य लेकर रणांगन में आमने-सामने थे। किसी भी क्षण युद्धारम्भ आशंकित था—महाविनाशक और क्रूर हिंसा का उग्रतम रूप-युद्ध। करुणशीला महासती पद्मावती भला कैसे चुपचाप इसे सह लेती है। युद्ध स्थगनार्थ सचेष्ट हो जाने की अन्त:प्रेरणा के अधीन वह समर-भूमि में गयी और दोनों राजाओं के पिता-पुत्र होने का रहस्य खोलकर उन्हें बोध प्रदान किया। वे युद्ध-विमुख हो गये और हिंसा टल गयी, शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया। इन उदाहरणों से यह भलीभाँति प्रतिपादित हो जाता है कि नारियाँ सदा से ही शान्ति की समर्थ सूत्रधार रही हैं। शान्ति उनके मानस का एक अविभाज्य अंग होता है जिसे वे सौजन्यपूर्ण समाज-निर्माण की प्रवृत्ति द्वारा साकार कर देती हैं।

हमारा इतिहास भी और हमारा वर्तमान भी साक्षी है कि हमारा समाज प्राय: धार्मिक विग्रह का शिकार रहा और परिणामत: वातावरण अशान्त और तनावपूर्ण होता रहा है। इस तथ्य के साथ-साथ यह सत्य भी सुस्थापित रूप रखता है कि ऐसी अशान्ति के उन्मूलन की अपार-अपार क्षमता नारी में रही है और वह इसके सर्वजनहिताय रूप में व्यवहार में लाने में भी पीछे नहीं रही है।

पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर होने वाले विग्रहों को शान्त करने में भी नारी की प्रभावशाली भूमिका बनी रही है। राजकन्या भोगवती का प्रसंग इस सन्दर्भ में बड़ा प्रेरक रहा है। भोगवती राजा जयराज की पुत्री थी जिसका विवाह राजा शूरसेन के आत्मज युवराज नागराज के संग सम्पन्न हुआ। नागराज बड़े कठोर स्वभाव का था और उसकी यह आन्तरिक क्रूरता असुन्दरता और कठोरता के रूप में उसके मुख-मण्डल पर बनी रहती थी। भोगवती एक आदर्श नारी थी और उसने पत्नी-धर्म का निर्वाह बड़ी विशिष्टता के साथ किया था। उसके अगाध स्नेह और असीम सेवाभावना का प्रभाव यह हुआ कि नागराज का हृदय-परिवर्तन ही हो गया। धर्म और भगवान के प्रति श्रद्धा का अंकुरण उसके मन में करके भोगवती ने उसे विनयशील और कोमल व्यवहारी बना दिया। पुत्र को सन्मार्ग पर आया देखकर पिता शूरसेन उससे बड़ा प्रभावित और प्रसन्न हुआ और उसे राज्यासन सौंप दिया। वह भी दायित्व भावना और निष्ठा के साथ प्रजा-पालन करने लगा। नागराज के इस गौरव और यश से उसके अनुज के मन में ईर्ष्या की ज्वालाएँ धधक उठीं। आरम्भ से ही वह स्वयं शासक बनने की अभिलाषा पाले हुए था। उसकी विफलता ने वैमनस्य का रूप ले लिया था। वह कुचक्र द्वारा अब भी नागराज को अपदस्थ करने की दूषित मनोवृत्ति पाले हुए था और इसी ताक में रहता था। नागराज राजा तीर्थ-यात्रा से लौट रहा था। राजधानी पहुँचने से पूर्व ही उसका वध करवाने का षड्यंत्र अनुज द्वारा रच लिया गया। अनुज की ऐसी निष्ठाहीनता से नागराज का भी कुपित हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। उसने क्रुद्ध होकर खड्ग निकाल लिया। आसन्न युद्ध की इस प्रचण्ड बेला में रानी भोगवती ने अपने शान्ति-स्थापना के कर्त्तव्य को पूर्ण करने का निश्चय किया और स्वयं युद्धभूमि में पहुँच गयी। दो सहोदर भ्राताओं के एक-दूसरे के रक्त बहाने की दुष्प्रवृति पर रोक लगाना उसने अत्यवश्यक माना। इस व्यक्तिगत वैमनस्य में अनेक निरीह जनों की बलि की आशंका से वह संत्रस्त हो उठी। उसका करुणाशील हृदय युद्ध की विभीषिका काअनुमान करके ही काँप उठा। दोनों युद्ध-सन्नद्ध भ्राताओं की तलवारों की छाँह में वह जा खड़ी हुई। साहस और आत्म-विश्वास की प्रतिमूर्ति वह तेजस्विनी नारी आत्म-

बलिदान के लिए तत्पर हो गयी, किन्तु युद्ध को टालने की चाहत से पीछे हटना उसे स्वीकार्य न था। दोनों योद्धाओं के अश्वों के मध्य खड़ी भोगवती ने अपने दोनों हाथों से अश्वों की वाल्गा थाम ली और बोली—तुम परस्पर बन्धु हो। बन्धु का रक्त प्रवाहित कर इस धरती को अपावन न करो। यदि रक्त-प्रवाह होना ही है तो पहले मेरे रक्त से धरा का प्रक्षालित करो। तुम्हारी तलवारें प्रथमत: मेरे कण्ठ पर प्रहार करेंगी। मैं जीवित रहते तुम भ्राताओं को युद्धरत न होने दूँगी। तलवार उठाये हुए दोनों बन्धुओं की भुजाएँ शिथिल होकर होकर झुकने लगीं। इस त्याग और बलिदान की भावना ने दोनों क्षत्रियों के हृदयों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। जोश कम हुआ और होश बढ़ने लगा। दोनों को अपने-अपने व्यवहारगत दोष और अभाव ज्ञात होने लगे। संकोचवश दोनों के मस्तक झुक गये और तलवारें म्यानों की शरण में चली गयीं। ऐसी अनुकूल घड़ी में भोगवती ने दोनों को सटीक प्रबोधन दिया। दोनों ही युद्ध-विमुख और भ्राता-सम्मुख हो गये। दोनों ने अपनी कुत्सित मनोवृत्ति को लेकर खेद ज्ञापित किया और भोगवती के प्रति आभार स्वीकारा कि उसने उनकी आँखें खोल दीं और उन्हें भारी पापकर्म से बचा लिया। कहा जाता है कि तदनन्तर भोगवती ने राजभवन में भक्त ध्रुव का नाटक मंचित कराया और नाटक के इस प्रसंग को सविस्तार प्रदर्शित कराया कि सौतेले बन्धुओं में कितना स्नेह-आदर का भाव है।

ध्रुव अपने विमाता जन्य बन्धुओं के लिए प्राणोत्सर्ग के लिए भी तत्पर रहता है—यह देखकर राजा की मनोवृत्तियों में बड़ा परिवर्तन आया। उसके चार बन्धु थे। राजा ने अपने राज्य के चार विभाग कर अपने भ्राताओं को एक-एक क्षेत्र का क्षत्रप (सूबेदार) नियुक्त कर दिया। अपने अब तक के अनुचित व्यवहार के लिए खेद जताते हुए राजा नागराज ने अपने भ्राताओं को प्रीतिपूर्वक आलिंगनबद्ध किया। इस पारिवारिक समन्वयशीलता ने न केवल राजपरिवार में शान्ति का वातावरण स्थापित कर दिया, वरन् सारी जनता में मेल-मिलाप को बढ़ावा दिया, सारे राज्य में शान्ति का वातावरण बन गया। और इसका श्रेय आदर्श नारी भोगवती की शान्ति-चेतना को ही जाती है।

धार्मिक असहिष्णुता और समन्वयहीनता के कारण भी समाज में अशान्ति व्याप्त रहती है, ऐक्य का हनन होता है, हिंसा तक का वातावरण छा जाता है और अन्यान्य सामाजिक बुराइयाँ घर कर लेती हैं। असुरक्षा और तनाव के इस वातावरण में जन-जन आतंकित और दु:खित हो उठता है। भारत जैसे बहुधर्मी देश में कब ऐसी परिस्थिति उठ खड़ी होगी—कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु

इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह धर्म के नाम पर होने वाला संघर्ष किसी भी दशा में किसी के भी हित में नहीं रहता। स्वयं धर्म के हित में भी नहीं। यह कट्टरता और असहिष्णुता धर्म का चेहरा भी विद्रूप बना देती है और धर्म जैसे आयाम को हिंसा का कारण तक बना देती है। उदारता और सहनशीलता से धर्म भी अपने यथार्थ रूप में रहता है और एकता बनी रहती है, शान्ति बनी रहती है। नारी ने इस रहस्य को हृदयंगम किया और तदनुकूल आचरण कर शान्ति को सशक्त बनाने का सार्थक प्रयास किया है।

मगधराज श्रेणिक बौद्धधर्मावलम्बी थे और उनकी रानी चेलना जैनमतावलम्बी थी। राजा न केवल अजैन था वह इस धर्म का विरोध भी करता था। जैन साधु-सन्तों के प्रति भी असौजन्यपूर्ण, अपमानजनक व्यवहार करता था। रानी चेलना के लिए यह असह्य हो उठता था, किन्तु वह धैर्यशीला नारी टक्कर लेना उचित नहीं मानती थी। वह तो विनय के साथ हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखती थी। प्रतिशोध और प्रतिक्रिया यह अभीष्ट परिणाम नहीं दे सकेगी—यह उसे भलीभाँति विदित था। सहिष्णुतापूर्वक, क्रम-क्रम से वह अपने पति के विचारों में औदार्य घोलती रही और एक समय अन्ततः ऐसा आया कि राजा श्रेणिक का जैनधर्म-विरोध शमित तो हो ही गया, उसने स्वयं भी जैनधर्म स्वीकार कर लिया। कोमलता के मार्ग पर चलकर ही विरोध पर स्थायी और अन्तिम विजय प्राप्त की जा सकती है। यही मार्ग शान्ति-स्थापना के लिए नारियों ने चुना।

कर्नाटक (आज का नाम) प्रान्त में एक महिला जाकलदेवी का उदाहरण भी ऐसा ही मिलता है। राजा चालुक्य जाकलदेवी का सम्माननीय पति जैनधर्म का प्रबल विरोधी था। उसका विरोध-शमन भी जाकलदेवी ने धैर्य और सहनशीलता के साथ किया और उसका ऐसा हृदय परिवर्तन कर दिया कि राजा स्वयं जैनधर्मानुयायी हो गया।

आचार्य हरिभद्र सूरि के अनेक शिष्यों (जैन) को बौद्धों ने मार दिया तो आचार्य के हृदय में प्रतिशोध का भाव जागृत हो गया। उन्होंने अपनी मंत्र-शक्ति से बौद्धाचार्य से बदला लेने की ठान ली। धर्म इस प्रकार विग्रह और अशान्ति का कारण बनने को था। इसी समय महान् नारी याकिनी महत्तरा ने अपनी भूमिका आरम्भ की। प्रबोधन देकर उसने आचार्य हरिभद्र सूरि के इस वैमनस्य और विरोध भाव का शमन किया। उन्हें शीतल और शान्त कर दिया। संघर्ष की स्थिति इस प्रकार टल गयी और शान्ति अक्षुण्ण बनी रही। आचार्य ने स्वयं भी

इसी मार्ग की प्रशस्ति की और याकिनी महत्तरा का आभार माना और स्वयं को 'याकिनी महत्तरा सुनू' कहकर आत्म-परिचय देते हुए वे गौरवानुभव करने लगे। सत्य ही है कि नारी स्वयं तो क्षमाशील और कोमलमनस्क होती ही है, वह पुरुषों की कठोरता और अनुदारता को भी दूर करती है। महाकवि प्रसाद जी ने नारी की इस विशेषता का चित्रण करते हुए एक स्थल पर व्यक्त किया है कि "स्त्रियों का कर्त्तव्य है कि पाशववृत्ति वाले क्रूरकर्मी पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करें।"

जननी रूप में नारी का बड़ा गम्भीर दायित्व है कि अपनी संतति को सुसंस्कारों में ढाले और उसे उदारतापूर्ण, करुणाशील, बन्धुत्व भावना से भरकर एक सुहृदय पीढ़ी का गठन करे। समाज का जन-जन अपनी माता द्वारा प्रदत्त व्यक्तित्व का धारक होता है। माँ ने सन्मार्ग पर यदि अपनी संतति को लगा दिया तो सारा समाज ही सन्मार्गी, सहिष्णु और शान्तिप्रिय हो जायेगा। ऐसा देश और समाज विश्व के लिए वरदान सिद्ध होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं। विश्वशान्ति के स्थापक तीर्थंकर देव का शान्तिमय चरित्र भी उनकी जननी की भावना और प्रयत्नों का ही परिणाम है। माता पुत्र के तन की ही नहीं, उसके मन की भी रचयिता होती है, उसे मानवोचित सद्गुणों से विभूषित कर सच्चे मनुष्य होने के गौरव से भी सम्पन्न कर देती है। मानतुंगाचार्य ने मरुदेवी के महान् मातृत्व को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा है—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्।
नान्यासुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता॥
सर्वादिसो दधति भानि सहस्र रश्मिं।
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम्॥

अर्थात्—हे जिनेश, जगत् में अनेक माताएँ प्रसव करती हैं, किन्तु किसी माता ने तुम जैसा पुत्र उत्पन्न नहीं किया। यों सारी दिशाएँ नक्षत्रों के प्रकाश से परिपूर्ण रहती हैं, किन्तु अगणित किरणों वाला सूर्य पूर्व दिशा से ही उदित होता है।

जीवन का निर्माण करने वाला धार्मिक साहित्य

- पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. सा. का प्रवचन साहित्य तथा जैनकथाएँ १११ भाग
- आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी म. सा. का धर्म, दर्शन तथा जैन तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित उच्चकोटिका साहित्य, प्रवचन साहित्य, कर्म विज्ञान भाग १ से ९ तक

साहित्य मँगाने के लिए सम्पर्क करें–

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर–३१३ ००१
फोन : (०२९४) २४१३५१८